



तंत्र वैज्ञानिक देशिकाचार्य श्री गोविन्द शास्त्री कृत
साधना जगत का प्रमाणिक मार्गदर्शक ग्रंथ

अभिनव साधना संस्कार



लेखक
श्री गोविन्द शास्त्री

प्रकाशक
चारुलेख प्रकाशन

तंत्र वैज्ञानिक देशिकाचार्य श्री गोविन्द शास्त्री कृत साधना जगत का
प्रमाणिक मार्गदर्शक ग्रंथ

अभिनव साधना संस्कार

लेखक

श्री गोविन्द शास्त्री

शास्त्री, साहित्य रत्न (एम.ए.) शिक्षाशास्त्री

प्रकाशक

चारुलेख प्रकाशन, चौमूँ (जयपुर)

प्रकाशक :

चारुलेख प्रकाशन, चौमूँ (जयपुर)

श्री पीठ हरिद्वार, ब्रह्मपुरी चौमूँ, गोविन्दपुरा जयपुर

सम्पर्क सूत्र : 09929462878, 9928555077

प्रथम संस्करण : 2018

© सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन

मूल्य : 300.00 रुपये

लेजर टाईप सेटिंग :

अंकित प्रिन्टर्स, जयपुर

मुद्रक :

अंकुर ऑफसेट

जयपुर

नोट : पुस्तक के प्रकाशन में यथासंभव सर्वाधिक सावधानी बरती गई है, इसके बावजूद भूलवश इसमें कुछ त्रुटियाँ हो सकती हैं। यह प्रकाशन इस शर्त और समझ के साथ विक्रय किया जा रहा है कि इसमें दी गई जानकारी सिर्फ मार्गदर्शन एवं संदर्भ के लिए है। इसे किसी भी प्रकार से लेखक, संपादक, प्रकाशक तथा विक्रेता पर प्राधिकार या बाध्यता के तौर पर नहीं लिया जाना चाहिए, जो कि किसी भी व्यक्ति, जो कि इस प्रकाशन का क्रेता हो या न हो, को इस प्रकाशन से होने वाले किसी भी नुकसान या हानि के लिए किसी भी प्रकार उत्तरदायी नहीं है। प्रकाशक के ध्यान में यदि कोई त्रुटि या भिन्नता अगले संस्करण में सुधारने के लिए लाई जाती है एवं पुस्तक के सन्दर्भ में आपके सुझाव आमंत्रित हैं। सभी विवादों के लिए न्याय क्षेत्र चौमूँ जयपुर रहेगा।

आध्यात्मिक गुरु देशिकाचार्य श्री गोविन्द शास्त्री

एक परिचय

- जन्म : 2 दिसम्बर, 1933
- महानिर्वाण तिथि : 11-2-2007
- जन्म स्थान : चौमूँ, जयपुर (राज.)
- शिक्षा : शास्त्री, साहित्य रत्न (एम.ए.) शिक्षाशास्त्री
- 39 वर्ष पर्यन्त शिक्षक के रूप में एवं एक समीक्षक के रूप में जन्मे श्री गोविन्द शास्त्री ने स्वर्गीय श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार के आग्रह से तंत्र व आध्यात्म पर लेखनी उठाई। आपकी लगभग 35 पुस्तकों से अधिक प्रकाशित हो चुकी है। इसके अतिरिक्त विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में 400 से अधिक लेख छापे जा चुके हैं।
- आपने स्वयं के निर्देशन में C.D. तथा सर्वोषधी तथा घुटने में दर्द से राहत देने वाला तेल तैयार करवाया है।
- आज कहते हैं हम! कल कहेंगे आप।

मंगलाचरण

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः
गुरु. साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

प्रकाशकीय

प्रियवर,

पूज्य पिताश्री के आशीर्वाद का त्रयोदश पुष्प आप लोगों तक पहुँचाने का गौरव मुझे प्राप्त हुआ है। प्राचीन और प्रमाणिक ग्रन्थों को हिन्दी में प्रस्तुत करना चारुलेख प्रकाशन के अस्तित्व में आने का हेतु है। अभिनव साधना संस्कार तैयार होने में विलम्ब हो गया, इसके लिए हार्दिक क्षोभ है पर कई बार ऐसे अनपेक्षित कारण भी बन जाते हैं जो विलम्ब का हेतु हो जाता है।

ऐसा महसूस हो रहा है कि कई सज्जन पिताश्री के देह छोड़ने का इंतजार कर रहे थे जिससे उनको उनके स्थान पर गुरु पदवी प्राप्त हो जाये लेकिन इसके लिए भगवत तथा गुरु कृपा के साथ-साथ तपस्या भी जो अपेक्षित होती है जिसका सर्वथा अभाव है। और कुछ उससे भी दो कदम आगे चलकर उनका तर्पण व गया श्राद्ध गया में जाकर कर आए जबकि उनको मना कर दिया गया था क्योंकि उनके परिवारजन के अभाव में गया श्राद्ध न तो शास्त्र सम्मत है और न लौकिक है। क्या यह महापाप की श्रेणी में नहीं आता, निर्णय आप पर है।

इस पुस्तक के प्रूफ व अक्षर शुद्धिकरण करने में माननीय श्री बृजेश कुमार शर्मा (शिक्षक), जयपुर का विशेष सहयोग रहा इसके लिए उनको हृदय से साधुवाद।

आइये उनके बताये गये सन्मार्ग पर चले, जिससे हमारे जीवन की सार्थकता सिद्ध हो। अगर आपको इस पथ पर मेरे परामर्श की आवश्यकता हो तो यह मेरा परम सौभाग्य होगा। ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। आपका स्नेह व सहयोग का आकांक्षी।

शारदीय नवरात्रा 2018
विक्रम संवत् 2075

आचार्य विपुल शर्मा
ज्योतिष एवं रत्न वास्तु विशेषज्ञ
श्री पीठ हरिद्वार, ब्रह्मपुरी चौमै, गोविन्दपुरा, जयपुर

अनुक्रमणिका

1.	क्षमा याचना	1
2.	नान्यः पन्थाः	9
3.	साधना और संस्कार	16
4.	मोहपाश	19
5.	भारत : एक प्रतीक	24
6.	दर्शन : वितंडा अथवा यथार्थ	30
7.	विज्ञान और आत्मज्ञान	35
8.	स्थूल प्रपञ्च	40
9.	अघृण शब्द संधान	47
10.	साधना पद्धतियों का दार्शनिक आधार	53
11.	ज्योतिर्मय चेतन	59
12.	गीता और सप्तशती का दर्शन	65
13.	श्रद्धा	69
14.	हवन	76
15.	गुरुत्व	78
16.	मन्त्र	85
17.	जपात्सिद्धिः	88
18.	अन्तःकरण	103
19.	कर्म	112
20.	विविध साधना विधियाँ और उनका लक्ष्य	120
21.	अशिव दृष्टि	128
22.	वेद दर्शन	135
23.	कलु पुण्य प्रगटे मानुषा अवतार	141
24.	कोशेय	146
25.	वाक् संस्कार	149

(ii)

26.	आत्म संस्कार	157
27.	मानसिक एकाग्रता	164
28.	पात्रता	169
29.	उपासना	180
30.	गणपति उपासना	208
31.	गणपति अथर्व शीर्षम्	210
32.	देव्युपनिषद्	212
33.	नारायणाथर्वशीर्ष	215
34.	लक्ष्मी-उपासना	216
35.	'श्री सूक्त'	220
36.	महालक्ष्मी प्रयोग	227
37.	धनदायक्षिणी प्रयोग	231
38.	धनदायक्षिणी कवच	235
39.	धनदायक्षिणी स्तोत्र	237
40.	श्री यंत्र	240
41.	शिवार्चन	244
42.	शिवाथर्व शीर्ष	248
43.	पक्षिराज प्रयोग	252
44.	दारुण सप्तक का विस्तृत प्रयोग	260
45.	पक्षिराज प्रयोग के अन्तर्गत दारुण सप्तक	265
46.	आत्मरक्षार्थ शरभ दिग्बन्धन	267
47.	सूर्य उपासना	270
48.	सूर्य अथर्वशीर्ष	274
49.	कतिपय शाबर प्रयोग	276



क्षमा याचना

साधना और संस्कार प्रस्तुत है। संस्कार में विचारकाण्ड और साधना में प्रयोगकाण्ड है ये दोनों क्रियायें पूर्वापर होने के कारण पहले संस्कार पर विचार किया गया है। संस्कार पर लिखते समय एक ही आग्रह बद्धमूल रहा कि हम अपने देशीय गौरव और इतिहास के उत्कर्ष को भूले नहीं। कार्य करने से पहले Working belief अथवा कार्य के प्रति विश्वास और आत्मनिष्ठा आवश्यक है। इन दो के बिना कोई भी कार्य संभव नहीं है। संस्कार पक्ष में यही चेष्टा रही कि हम अपने गरिमामय इतिहास और उत्कृष्ट परम्परा को भूलें नहीं। यह परम्परा बोध हमें दैन्य ग्रस्त नहीं होने देगा, यह इतिहास हमें हतसाहस नहीं करेगा यह हमारा पहला संस्कार है। विश्वासदीप्त व्यक्तित्व कभी पराजित नहीं होता। इसलिये हमारे विश्वास को समग्ररूप से अदोष और अछिद्र बनाना हमारी पात्रता का प्रथम परिचय है।

गोविन्द शास्त्री इस देह का नाम है, इस नाम के साथ जो प्रशंसा या परिवाद जुड़ेगे वे इसी के साथ समाप्त हो जायेंगे फिर क्षणिक तुष्टि के लिये इतना समारंभ जुटाना और स्वल्प सी ख्याति के लिए इतना व्यग्र होना विवेक की बात नहीं है। मुझमें विवेक जागृत हो गया— यह भ्रम तो मुझे नहीं है किन्तु ख्याति के प्रति इतना मोह वा आग्रह भी नहीं है, अब तो शनैःशनैः अरुचि होती जा रही है। लगता है — कच ग्राही काल देह को माँगने निकट आता जा रहा है, इसलिये दायित्वों और ऋणों से मुक्त होने की चेष्टा करूँ। यह पुस्तक भी एक ऋण है, एक वचन है जिससे मुक्त होना आवश्यक है।

सम्भव है आपको इसमें नयापन न लगे क्योंकि जो मैंने मंत्रवत् जप्य मान रखा है उसकी तो आजीवन आवृत्ति करता ही रहूँगा और वह यह कि इस देश की पुण्यपवित्र घरित्री और हिन्दू अथवा आर्यजाति की श्रेष्ठता निर्विवाद है, इसे आपके मन में सुस्थापित करने के लिये और अपने में सुस्मृत रखने के लिये यदि पुनरावृत्ति की है तो आपकी दृष्टि में अपराध भले हो, मेरे लिये यह विवशता रही है।

इन पृष्ठों को एक साथ नहीं लिख पाया, कभी-कभी तो एक अनुच्छेद से दूसरे अनुच्छेद के बीच सप्ताहों का अन्तराल आ गया, व्यावहारिक दृष्टि से ऐसे पृष्ठों को इससे निकाल दिया जाना चाहिए था और आपके समक्ष सुन्दर एवं संगत को ही प्रस्तुत

किया जाना चाहिए था पर मेरा आलस्य एवं अति विश्वास कि उनमें भी मैंने परिष्कार नहीं किया। यथार्थ यह है कि आज तक मैंने रफ या नोट्स बनाकर नहीं लिखा, जो लिखा एक ही बार लिखा और प्रेस कापी ही लिखी। यह अच्छे लेखन की मर्यादा नहीं है पर ऐसा न करना भी मेरी प्रकृति रही है। स्वाभाविक है कहीं-कहीं ऐसी असंगति आपको अप्रिय लगे पर वह असंगति है, मूल प्रयोजन से च्युति नहीं है। जिस आत्मबोध से हम आप्यायित होना चाहते हैं उसमें व्याघात नहीं होने दिया है।

चाहता था कि इसे सरस शैली में ही लिखूं पर अनायास अनेक भंगिमायें बनती चली गई। न चाहते हुए भी अज्ञात अवस्था में यदि उपदेशक बन गया हूँ तो उसे भी क्षम्य समझें क्योंकि उपदेश देने की पात्रता अभी कहाँ से आयेगी ? अभी तो आत्म संघर्ष में ही विजय नहीं पा सका, जितना परिष्कार करने का प्रयास करता हूँ उतना ही कर्दम निकलता आ रहा है। मेरी कामना है कि आप भी इस संघर्ष का प्रारम्भ संस्कार खण्ड से करें। पहले वैचारिक संस्कार फिर अनुष्ठानों चित संस्कार। यह विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि एक बार किया गया संस्कार मन की प्रकृति को नियंत्रित कर देगा, उसकी प्रवृत्ति नितान्त बहिर्मुखी अतएव निम्नगति न रह कर अन्तर्मुखी हो जायेगी और आत्म का विवेक मृत नहीं होगा। यदा कदा बुद्धि को अवसर मिलता रहेगा और हम मुक्तिमार्ग से आत्यन्तिक रूप से विमुख नहीं हो सकेंगे।

मेरी तरफ से एक स्पष्टीकरण और कि इसमें कई अनुच्छेदों में आपको पुनरावृत्ति का भान होगा किन्तु यह पुनरावृत्ति अर्थ की है, शब्दों वा वाक्यों की पुनरुक्ति नहीं है। एक बात और कि इस शब्द संयोग को आप थोड़ा और संवेदनशील होकर देखें, उन वाक्यों को केन्द्राधिष्ठित करके न देखें तो उनमें भी एक स्वतंत्र कोण है। एक ही चन्द्रमा के पचासों पर्याय हैं। यदि उनको चन्द्र का बोधक मानकर ही देखेंगे तो कुछ भी नया नहीं दिखेगा। इसके विपरीत यदि प्रत्येक शब्द को एक स्वतंत्र सरणी के रूप में समझा जाय तो चन्द्र की विभिन्न मुद्राओं एवं गुणों की झलक दिखेगी। इस अर्थ में प्रत्येक शब्द अपनी गुणात्मक वैशिष्ट्यता व्यक्त करता दिखेगा।

आत्म साधन हमारे इस देह का प्राकृत प्रयोजन है। इसी देह में व्यक्ति आत्मवीर्य को प्रकट कर सकता है। इस साधना में बाधाएँ बहुत आती हैं, आत्म रचित मोह, परकृत ईर्ष्या द्वेष और सामाजिक वैमत्य जैसी अनेक विपरीततायें हमारी एकस्थता को खण्डित करने के लिये सन्नद्ध दिखती हैं किन्तु उनसे आहत होने का नाम वीर नहीं है। विपरीतताओं से पराङ्गमुख होने को विजय नहीं कहते। इन सारी जागतिक प्रतिकूलताओं को झेलते हुए अपने लक्ष्य के प्रति चलते रहना हमारे प्रकर्ष का द्योतक है।

एतदर्थ संस्कार आवश्यक है। मन के संस्कृत होने के पश्चात् साधना एक नैसर्गिक क्रिया के रूप में हमारे मन में अवतरित हो जाती है। वैसे भी संस्कार एक अशोष्य बीज

की तरह हमारी मनोभूमि में बो दिया जाता है तो एक न एक दिन वह महीरूह बन कर रहता है। हमारे यहाँ संस्कार शब्द को सुसंस्कार के अर्थ में प्रयोग करने का जनव्यवहार है। मेरा सुदृढ़ विश्वास है कि और कुछ प्रयोगात्मक हम से हो सके या न हो सके इसके चिन्तन खण्ड में जो कुछ मन्तव्य प्रकट है उसी को आत्मसात् कर लिया जाए तो एक उपलब्धि होगी। यह सब कहते समय मैं दर्पाविष्ट नहीं हूँ क्योंकि एक लिपिक का अपना कुछ होता भी क्या है ? तथा इस देह का चरम आप भी जानते हैं और मैं भी। इसलिये नाम का भार ढोने की पराधीनता से जितना बच सकें उतना ही अच्छा।

सारा संसार माँ का विलास है। जिस प्रकार घर में सारा विन्यास गेहिनी का रहता है उसी प्रकार शिव गेहिनी का क्रीडा स्थल है—यह हमारा विश्व। मातृमय भुवनों का सूक्ष्म स्वरूप मातृकामय है। इसलिये सर्वप्रथम हम श्रुतिधर्मा होते हैं। शैशव में हमारी इन्द्रियाँ स्वतंत्रभाव से सक्रिय होती है, बोध का समन्वय संकीर्ण वा छिन्न बना रहता है। इसलिये केवल इच्छा यदृच्छा से चालित रहता है—शिशु। ज्ञान भी उसमें है पर जिज्ञासा उसमें नहीं है क्योंकि ज्ञान और इच्छा में पृथक् भाव रहता है। ऐसी ही स्थिति क्रिया की होती है। अवस्था परिपाक के साथ इन तीनों में सामंजस्य सघन होने लगता है, तब वह चुटकी बजाने अथवा अन्य शब्द होने पर जिज्ञासा प्रेरित हो कर उस दिशा में देखता है। मातृ प्रधान बोध अब मातृका विस्तार को समझने की दिशा में अग्रसर होता है। ऐसा हमारे जीवन में एक बार ही नहीं होता निरन्तर होता रहता है और हम शैशव की शृंखला में ही घूमते रहते हैं। पता नहीं कब चुपचाप वार्धक्य हो जाता है और देह को ले जाता है। हम फिर उसी शिशुभाव में चले जाते हैं। यौवन का उन्माद उच्छल बल का अधिकार दीप्त यौवन उस मातृका के गेहिनी रूप को देखे बिना ही लुप्त हो जाता है।

अपने परमप्रिय प्राणाधार परमेश्वर के इच्छा वितान को विस्तारित करती हुई वह स्थूल स्तरों में उत्कट दुर्धर्ष रूप ग्रहण कर लेती है। आनन्दातीत को आनन्द कानन में लाती हुई वह सुख की अरण्यानी में बहा ले जाती और फिर दुःख के लवणाब्धि में ढकेल कर मगन होती क्रीड़ा करती रहती है। जटा मुकुट में इठलाती सुरसरि पार्वत्य उपत्यका के उच्चावच में अजेय वेग से कूदती फांदती अन्ततः सागर के कल्मष क्षार में एकरूप हो रहती है। प्रत्येक विकास का ऐसा ही चक्र है, ईश्वर की कृति (शीलता) अपने प्राकृत स्वरूप से आगे बढ़कर विकृति स्वरूप हो जाती है। यद्यपि इस विकृति से उसे कोई क्षति या कष्ट नहीं होता पर उसमें नित्य अवस्थित सत् अप्रियबोध से विकल होता है क्योंकि यह विकृति असत् और अभाव में फैलती है। अतीत अशरीरी ईश्वर को सत् से भी निम्न स्तर पर आना वैसे ही लगता है जैसे केसरि को शृंगाल का आहार देना। अभाव में आलोड़ित हो रहे प्रभु जब अपने मूल स्वरूप को देखते हैं तो इच्छा की प्रतिलोम वृत्ति को

वहमूल रूप में जाने का संकेत करते हैं, यही प्रतिनिवर्तन कष्ट की प्रतीति बनता है। यथार्थ में स्थाणु अनुभवातीत हैं पर उनके बिना अनुभव की सत्ता भी नहीं रहती इसीलिये वे जगत्कारण और माँ जगद्योनि जगद्धात्री कहलाती है।

जगद्योनि स्वरूपिणी परांबा की विवृत्ति संसार का अर्थ और संवृत्ति संहार की इति है- इनके अन्तराल को ही संसार कहते हैं। संसार अर्थात् सम्यक् सरण कर रहा। सरण के रूप में वह क्रियास्वरूपिणी है और सम्यकत्व के रूप में उसमें कुछ भी संगतिहीन, अपूर्ण और अव्यवस्थित नहीं है। उसकी क्रियामयी अवस्था का ज्ञान हमको नहीं हो पाता क्योंकि हम क्रियाविद्ध रहते हैं, क्रिया का आवर्त हम में ही व्यक्त हो रहा है। हमारा यह पृथिवीपिण्ड कितनी तीव्र गति से चल रहा है किन्तु इसके प्रचण्ड वेग से हम इसलिये अपरिचित है क्योंकि हम इस गति से जुड़े हुए हैं, यह गति हमारी सहजवृत्ति अतएव उत्तेजक अनुभूति से शून्य हो चुकी है। इसके विपरीत हमें हवा की प्रचण्डता अनुभव होती है क्योंकि हम उससे सघनरूप से जुड़े हुए हैं। ऐसी ही अवस्था संसारस्थ जन की है।

जो लोग संसार की मायिकता से ग्रस्त हैं वे उसके वैभव को अतएव शब्द के परम में अवस्थित अर्थ को नहीं पहुँच पाते। यह स्थूल स्वरूप और क्रिया की प्रचण्ड वात्या उसके मायामय स्तर पर ही, चल रहे हैं, इस स्तर पर इच्छा, ज्ञान और क्रियावती की क्रिया ही प्रबल रूप से प्रकट है। क्रिया की पुनर्भवता से त्रस्त ज्ञान संसार को भव कहता है और भव के वैषम्य से, जगत् के द्वन्द्व से मुक्त होने का प्रयास करता है।

इसी प्रयत्न प्रसंग में उसे जगद्योनि से साक्षात्कार होता है। हमें योनि जुगुप्सित लगती है क्योंकि हम में वीरभाव नहीं है, हम उसे एकत्व विशिष्ट रूप में देखते हैं और उसके प्रति मुग्धभाव से ग्रस्त हो जाते हैं। योनि का यह रूप हमें अबाध करता है, यही स्वरूप कारण कहलाता है और इसी बन्धन शक्ति के कारण इसे आकार कहते हैं। हम हमारे संकीर्ण व्यक्तिभाव से ऊपर उठ कर यदि योनि के यथार्थ को देखें तो ज्ञात होगा कि संसार का उद्भव इसी संरचना विधि से होता है। प्रकृति के मूल विक्षोभ में ऐसे ही प्रकम्पन होते हैं और उन प्रकम्पनों से इसी प्रकार का रेखांकन होता है। विश्वयोनि जगद्योनि के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है। इस शब्द का प्रयोग हम विश्व के मूल कारण के अर्थ में करते हैं किन्तु यथार्थतः यह समस्त विश्व अपने आप में योनि स्वरूप है अर्थात् इसमें जो क्रिया वितान है वह योनि की तरह प्रसारित है।

तात्त्विक रूप में योनि एक प्रकट चिह्न है किन्तु वह गर्भ गोपत्री भी है, इसलिये संग्राहक भी है और अवस्था विपाक होने पर विसर्जक भी है। हम नारी मात्र की योनि के प्रतीक रूप में मानें तो ऐसा आभास होगा जैसे संसार में योनि के अतिरिक्त कुछ है ही

नहीं। ऐसी अवस्था में हम आत्मकंदर्प से ग्रस्त हो जायेंगे अथवा मोह जड़ बन जायेंगे। ये दोनों ही स्थितियाँ हमारी पशुता को सिद्ध करेंगी। इसके विपरीत यदि हम उसे कारण स्वरूप अतएवक्रिया की अधिष्ठात्री मानेंगे तो हमारा दर्शन यथार्थ का स्पर्श कर पायेगा और हम उस विश्वयोनि के तुमुल क्रिया विभेद को पहचान सकेंगे।

तंत्र ने परांबा के रूप वर्णन में भग और योनि इन दो अवस्थाओं को ही वर्ण्य वा वाच्य माना है। भग के रूप में वे मूल त्रिकोण को कहते हैं और योनि के रूप में वे उसके शीर्ष बिन्दु अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया में, क्रिया को प्रमुख मानकर योनि शब्द से व्यवहृत करते हैं। अनेक ऐसे स्थल आते हैं जहाँ ये शब्द परस्पर पर्याय नहीं बनते जैसे यज्ञ कुण्ड में योनि ही बनाते हैं और जगत्‌योनि ही कहते हैं—यज्ञ भग अथवा जगत् भगा नहीं कहते हैं। ऐसे व्यवहार ही इनके मूल स्वरूप का निदर्शन कराते हैं। भग से भगवान् और भगवती कहलाते हैं और योनि से योनिवान् या योनिवती नहीं कहलाते। मुझे अपवाद के रूप में भी योनि के आगे कोई प्रत्यय लगा हुआ शब्द नहीं दिखा (यह भी सच है कि मैंने कोई अधिक नहीं पढ़ा) जैसा भग शब्द के लिये ऊपर दिया गया है। आखिर इसके पीछे भी कोई न कोई मौलिक कारण रहा होगा। यही कारण उसे कारणमयी जगद्योनि कहता है।

इस त्रिवृत् में गुणात्मक सत् का प्रादुर्भाव होता है और यही से हमारा द्वित्व अनेकत्व में विशीर्ण होने लगता है जिसकी प्रथमपदी त्रिगुणा कही जाती है। गुणों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है तदपि, हमारे प्रसंगोचित परिज्ञान के लिये यह समझ लिया जाय कि यह जगद्योनि राजसी वृत्ति की है, संघर्ष इसे प्रिय है, क्रिया का तुमुल संघर्ष इसकी अभिव्यक्ति है। योनि के परस्पराभिमुख ओष्ठ मध्यस्थ शून्य को पाटे रहते हैं [अर्थात् सत्त्व और तम उस मध्यवर्ती रजस् को पुटित किये रहते हैं।] किन्तु जब रज प्रकट होता है तो दोनों मन्द हो जाते हैं और क्रिया के राजत्व को सहयोग करने लगते हैं।

संस्कार का प्रारम्भ इसी दर्शन से होता है। हम अवस्था मल तारुण्यमल से त्रस्त होकर इस (सं) घर्षस्थल को देखते हैं तो यह बंधन का, सर्ग विसर्ग का कारण बनती है और उस विवरदृश्य शून्य में रजोगुण को मूर्त करती है, इसकी अपेक्षा यदि उसके पूर्वोपर, सत्त्व एवं तम को पहचानना चाहें तो वह हमारे आत्म दर्शन का कारण बनती है।

इस विषय को थोड़ी गंभीरता से लेने की बात है। यदि हम इस शब्द संयोजन के यथार्थ को समझ सकें तो स्वतः संस्कार की स्थिति प्राप्त हो जाती है। योनि को हमने कारण का पर्याय माना और उसके केन्द्र को कर्म कुतूहल का आकार। दूसरे शब्दों में यह रजोगुण के अभिव्यक्ति होने की मुख्य भूमि है। प्रकटतः हम इसे लक्ष्मी का व्यापार

विस्तार क्षेत्र मानते हैं। लक्ष्मी शब्द लक्ष्म से बनता है और लक्ष्म का अर्थ होता है-चिह्न। हमारे देह में रजोगुण के क्रिया का चिह्न यही नारी देह का मध्यवर्ती सत्व तम सम्पुटित योनि है, इसी का विस्तार मुख, स्तन, नितम्ब, जंघनादि अंगों में होता जुआ समग्र शरीरव्यापी रहता है। लक्ष्मी का व्यावहारिक रूप हम व्यवसाय केन्द्रों में देखते हैं और उसके प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण भी हमें मिल जाता है कि लक्ष्मी कल्पना को साकार करने की अद्भुत क्षमता रखती है किन्तु यह कल्पना भौतिक संसार की परिधि में रहनी चाहिए तदितर सत्व और तम के क्षेत्र के विषय हैं।

अस्तु ! माँ की जगद्योनिता हमें आबद्ध करें तो यह उसका प्रसाद है और उस बंधक कारण से कारणातीत की ओर उन्मुख करें तो यह उसका अनुग्रह। संस्कारित होने की आतुरता उसके अनुग्रह की याचना करती है। व्यावहारिक रूप में अनुग्रह के पश्चात् ही प्रसाद की प्राप्ति होती है। अतः अनुग्रहीत होना हमारा पहला लक्ष्य है। यह अनुग्रह कोई स्थूल पदार्थ नहीं है जिसे देखा, छूआ, सूंघा जा सके प्रत्युत सूक्ष्म है अनुभूतिगम्य है। हम साधारण से अनुग्रह से, सांसारिक व्यवहार में उपकार के रूप में माने गये अनुग्रह से ही अभिभूत हो जाते हैं तो अनुग्रह प्रतिष्ठित शक्ति के परिचय से हमारी क्या स्थिति होगी इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे स्नेह, दया आदि व्यवहार हमारे मानस को दीप्त करने के उत्तम आधार हैं वैसे ही अनुग्रह भी एक विलक्षण उपादान है। परम करुणावती के मृदुस्पर्श से आह्वित संस्कारित होने का।

यह निर्दर्शन या वह विश्लेषण आगे के पृष्ठों में अबाधगति मिलेगा, इसकी कोई निश्चित सरणी स्यात् हमारे ऋजुगणित से सामंजस्य न बिठला सके और ऐसा लगे कि वक्तव्य अनुच्छेदों (पैराग्राफों) की वक्रता से घूमता हुआ किसी अज्ञात स्थान पर आकर रुक गया है। हो सकता है आपका यह विचार सप्रमाण निष्कर्ष हो किन्तु मेरी मानसिकता कैलाश के आसपास केन्द्रित रही है। ये सारे पदमार्ग और राजमार्ग उस शाश्वत शुभ्र, दिगन्त व्यापी गिरिराट् का समग्र ज्ञेय है, सम्पूर्ण परिचय है, उसके कण से परिचित कराने की बलवती कामना है। इस क्षेपक कथन को यही समझ लिया जाए कि मार्गदर्शक केवल अति विशिष्ट को ही नहीं समूचे परिदृश्य को आपके सामने रखता/समझता/समझाता चल रहा था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आत्म स्वातंत्र्य की कामना प्रत्येक मानस में प्रकट नहीं होती, बुद्धि पर कार्मण मल चढ़ा रहने के कारण वह स्थूल हो जाती है जैसे सदी में बहुत सारे कपड़े पहनकर स्थूल दिखनेवाला गोविन्द शास्त्री। यह स्थूलता ईर्ष्या, क्रोध-मोह, काम, लोभ आदि विविध नामरूपिणी होती है। इनको झाड़ पोछकर स्वच्छ करने की विधि ही संस्कार कहलाती है। देह के स्तर पर यह एक सहायक क्रिया रहती है और मन के स्तर पर यह मूल एवं प्रमुख क्रिया बन जाती है। समझिये हमारा यह चाक्षुष और

वैचारिक देह एक वीणा है जिसके प्रत्येक तार को निर्जर (जंग रहित) दीप्त कसा हुआ होना है। मल के रूपमें ज्ञात विकृतियाँ इन तारों को ढीला करते हैं या खूब कस देते हैं। इन दोनों स्थितियों में वह श्रुति मनोहर, परमानन्द सहोदर नादानन्द का आविर्भाव नहीं कर पाती, वह संस्कार शुद्ध नहीं है।

एक बार रावण के राज्य की आपाततः सुख देने वाली छत्रछाया से दूर हट कर राम के शान्त आनन्दप्रद शरण सुख की कामना करके तो देखें तभी हमें ज्ञात होगा कि गर्दभ के राग में माधुर्य है ही नहीं। जो लोग आत्मेतर को मानने के लिये तैयार नहीं हैं उनके लिये संसार केवल भोग्य है याने वे मनुष्य देह को प्रकृति प्रदत्त स्वातंत्र्य के स्तर से हटाकर भोगदेह की पाशवी विवशता और लालसा से जड़ कर देते हैं। दुःख इसलिये होता है कि वे यथार्थ को समझना ही नहीं चाहते। उस भोगवादिनी शूर्पणखा को विरूप करने के लिए लक्ष्मण का रक्षक तेजस् हमारे सबके भीतर है किन्तु उसे प्रकट करने के लिए भक्ति और श्रद्धा की आधारस्थली तो होनी ही चाहिए।

आदिकवि पुण्य स्मरण वाल्मीकि ने रामकथा के प्रारम्भ में जो नारद से प्रश्न किया है मेरी समझ में वह प्रश्न सारे मानव समाज से किया है। आपके परिज्ञान के लिए मैं तुलनात्मक दृष्टि से राम और रावण को उपस्थित करके आपसे प्रश्न करता हूँ कि आप अपने को किस वर्ग में रख रहे हैं ? वाल्मीकि कहते हैं—नारद ! तुम सारे संसार में निर्बाध घूमते हो, मुझे ऐसा व्यक्ति बताओ जो क्षमा में पृथिवी, गम्भीरता में समुद्र, धैर्य में हिमालय के समान हो, जिसके हाथ घुटनों जितने, जिसका ललाट प्रशस्त, जिसके स्कन्ध वृषभ सदृश हों (और भी अनेक चिह्न बताये हैं)। इन सारे गुणों को एक व्यक्ति में ही रहने की कल्पना वाल्मीकि ने इस लिए की कि प्रतिवीर रावण में इनसे विपरीत लक्षण रहे है। वे रावण के दौरात्म्य से दुःखी हैं और उसके दुर्लभ पौरुष को वे संरक्षण वैष्णव से पराजित करना चाहते हैं। और रावण राम जन्म से पहले अखर्वगर्व और अप्रतिम बल के लिए कुख्यात हो चुका था इसलिये उनके विषय में प्रश्न करने की आवश्यकता नहीं थी। एक ही व्यक्ति में इन सारे गुणों का समावेश इसलिए होना चाहिए कि रावण में ये गुण विकृत अवस्था में हैं दर्प, लोभ, निरंकुश यौनाचार, परपीड़न, मायाचार आदि का समेकित संघनित रूप ही रावण है और उसके कारण ज्ञानवान, कर्मकाण्डी नीतिज्ञ तपस्वी मुनिपुत्र राक्षस बन गया है। उसके विकार को धोने के लिये विनय, त्याग, स्त्री सम्मान, पतितपावन एवं सदाचार का राम ही उपस्थित होना चाहिए। अब इन चरित्रों के भीतर झाँक कर अपना विश्लेषण करें और राम के गुणात्मक रूप को प्रकट करें तो साधना कहलाती है। भक्ति, कर्म और ज्ञान के रूप में सुविज्ञात पद्धतियाँ योग समन्वित रहती हैं और योग का अर्थ होता है मिलना। इन सबका क्षेत्र भिन्न है, पद्धति भिन्न है और इसीलिये अनुभूति भिन्न है फिर भी ये सारे विधान एक ही आत्म को साधित करते हैं। ये सब

परमपावन और पात्र एवं रुचि के अनुसार है फिर भी इनमें शक्ति और शक्त का योग है इसलिए शक्ति आह्लादकारी रूप में प्रकट होती है। अन्तर इतना है-

भक्ति एक को सब में देखती है। तुलसी बाबा की 'सियाराममय सब जग जानी', उक्ति भक्ति की सारपूर्ण परिभाषा है। सर्व खल्विदं ब्रह्म का संकेत भी भक्ति के विराट् दर्शन की ओर ही है। माना यह आत्मशुद्धि एवं स्वातंत्र्य लाभ का प्रथम एवं सरल सोपान है फिर भी इसे शुद्ध से सर्वशुद्ध और परमशुद्ध होना होता ही है जिसे क्रमिक मुक्ति की रूपरेखा कहा जा सकता है। यह भक्ति संसार अत्यन्त उज्ज्वल और मोदक है, उस परमसत्ता के किसी रूप से एकाकार होने की उत्कट कामना तनिक से विरह से कंपा देती है प्रिय आराध्य की प्रत्येक भंगिमा विस्मयकारी एवं मनमोहक प्रतीत होती है। उस समय प्रत्येक शब्द अपनी सार्थकता को सम्पूर्ण रूप से प्रकट करने लगता है, भक्ति का अतिरेक व्यक्ति के कल्मष का प्रक्षालन कर डालता है। चाहे वे कन्हाई है, सखा राम है, औढ़रदानी अवधूत है या पराम्बा त्रिपुर सुन्दरी। एकबार उनके प्रति आसक्ति का भावोदय हो जाए फिर तो सारा संसार तद्रूप हो जाता है, प्रेम रंग से बढ़ा रंग होता ही नहीं। इस एक निष्ठता का एक परमलाभ यह है कि इसका सुकोमल स्पर्श होने के बाद सांसारिक मोह एवं आकांक्षायें मानस में प्रवेश नहीं कर पाती। परिणामतः व्यक्ति अपने ही संसार में रमा रहना चाहता है, उसके आनन्द स्रोत को रुद्ध करने का कोई बाह्य कारण नहीं रहता।

मेरा मानना है, एक बार इस भक्ति के रस को स्रवित होने का अवसर तो दें फिर देखें कि इसका संसार कितना मनभावन है। चेतन की तो बात ही क्या जड़ भी वहाँ चेतन हो जाते हैं। भक्त के आराध्य का सारा परिप्रेक्ष्य सवाक् सचेतन हो जाता है। ऐसी ही स्थिति में पठान रसखान, सूर, मीरा और तुलसी जन्मते हैं। भक्ति के माध्यम से किसी भी व्यक्ति का संस्कार जितना सरल है उतना ही सरस भी। इस साधना विधि में प्रविष्ट व्यक्ति नवीन कर्म के प्रति उदासीन हो जाता है। वह अवश प्राकृत भाव से कुछ करता भी है तो वह कर्म विपाक के तीक्ष्ण बंधन से बद्ध नहीं होता और भक्त क्रमिक मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।

कर्म भी एक संस्कार विधि है। फलासक्ति के मोह से रहित कर्म हमें खिन्न नहीं होने देता, हम कर्म के प्रति एक निरासक्त भाव रखते हुए उसे करते हैं तो वह भी हमारे लिये भविष्य नहीं बनता। आशय यह है कि भव से पुनर्भव और पुनर्भव से अपुनर्भवता का संस्कार उत्तम संस्कार होता है। और इसके लिये पार्थसखा तथा गीता सर्वोत्तम दर्शन है।

-गोविन्द शास्त्री



नान्यः पन्थाः

दिनेशजी कहते हैं—“अब नौकरी करने का मन नहीं रहा, कितनी घुटन, कितनी लाचारी आखिर तब तक भोंगे, कितना सहें ?”

मैं पूछता हूँ—“फिर उसका स्थानिक क्या होगा ? जीविका का माध्यम क्या रहेगा ?”

बिना एक क्षण का विलम्ब किये वे अपना निर्णय सुना देते हैं—“बस डकैत बन जाता है। छोटा-मोटा संघ बनाया और जंगल में मंगल हो जायेगा।”

उनकी बात सुनकर मैं स्तब्ध रह जाता हूँ। उनके भीतर पनप रहे इस आक्रोश से मैं कभी परिचित ही नहीं हुआ। विगत चार-पाँच वर्षों से मेरा उनका सम्पर्क है। चरण-स्पर्श से उनका आगमन होता है और मेरा प्रत्येक वाक्य उनकी सहमति और स्वीकार होता है। हमारे सम्बन्धों को उन्होंने कभी वणिक् तुला से नहीं तोला, एक निश्छल सरल आत्मीयता हमारे बीच जुड़ी रही। शिक्षा और शासन व समाज की व्यवस्था का उन्हें कम अनुभव नहीं है और धीरज व विवेक की भी उनमें कमी नहीं है। फिर भी वे उद्वेलित होकर ऐसा कह रहे हैं तो असंदिग्ध रूप से आघात गहरा है और उसने निष्ठा की चूल्हे हिलाकर रख दी है।

अव्यवस्था के सत्यानाशी प्रसार में शक्ति का वैष्णव कुण्ठित हो गया है, व्यवस्था की ऊर्जा क्षीण होने लगी है। लगता है जिस सिपाही को बन्दूक दी थी उससे वह हमें भयमुक्त करना छोड़ आत्मरक्षा भी नहीं कर पा रहा है। शासन की अभेद्य क्रूरता असामाजिकों का दमन करने के लिये आवश्यक रहती है पर न्याय और नियम की देवपंक्ति में छद्मवेषी राक्षस आ बैठा है। उसे पहचान कर भी बतलाने का सौम-सावित्र किसी में प्रकट नहीं हो रहा। कौन कहे उसका दानवी छद्म विसर्पी विष की तरह देवत्व के ऊपर छितराता जा रहा है या कृत्रिम देव स्वरूप धरकर प्राकृत दानव प्रतिष्ठित होता जा रहा है ? जो अच्छे पद पर आसीन हैं उनके लिये पद जादुई चिराग है। शासन के शोभारथ में जुते ये श्यामकर्ण उच्चैःश्रवा है। शासनारूढ़ के मन्द भाषण को ये दूर से बहुत ऊँचे से सुन लेते हैं और अधीनस्थ की विवशता को ये नहीं सुन पाते—ऊँचा सुनते हैं। अच्छे की एक ही परिभाषा है—अर्थदुष्टा और अर्थ का स्वभाव है आत्मरति, घृतबिन्दुवत् अपने को सीमाबद्ध सुरक्षित रखना। यह स्वार्थसर्पिष् यज्ञ का आज्य नहीं हो सकता,

किसी दीपवर्तिका का प्राण नहीं बन सकता। आश्चर्य होता है इसमें विद्यमान अक्रूर स्नेहिलता क्यों इतनी विरुद्धवृत्ति हो गई है ?

x

x

x

चौधरी राजेन्द्र सिंह कहते हैं आज गाँवों में दस हजार रुपये की सम्पत्ति भी घातक हो जाती है। खेत तो दूर की बात है, आपकी सुदृढ़ हवेली भी असुरक्षित है। पता नहीं किस समय कोई पड़ौस के गाँववाला अपने मुँह पर ढाठा बाँध कर आपके दरवाजे पर दस्तक दे बैठे। मृत्युकंकण पहने दुर्मद रावण निर्बाध घूम रहा है पर आम जीवन के प्रति मोहसिकत हैं इसलिये जब कभी वह दस्यु आपका द्वार खड़कायेगा आपका जीवन मोह उसके वालीय बल को बढ़ा देगा।

आप जीवन को अमूल्य समझते हैं पर उसने आपकी शिष्टता और मर्यादा-परायणता को भीरुता का पर्याय समझ लिया है, उसके लिये जीवन निर्मूल्य है। मृत्यु-कवच पहने वह घूम रहा है, आपको आमन्त्रण दे रहा है, आप उसकी पकड़ से परे कहाँ हैं ? उसकी हुंकार सुनाई न दे इसके लिये आप कानों को पूरी तरह बंद कर लें अन्यथा आपकी अकवच जिजीविषा हाँफने-काँपने लगेगी।

आपके आदर्श, आपके आख्यान, आपकी दया वा सदाचार की मीमांसा एक वर्ग के लिये अर्थहीन हो चुकी है। प्रकृति मां की यह सुव्यवस्था ही है कि वह दर्प को संघनित नहीं होने दे रही। अनेक दर्पिष्ठ एकमत हो ही नहीं सकते। वहाँ तंरप् और तमप् का शासन चलता है और अभी किसी कंस या रावण जैसे दुष्टतम का जन्म नहीं हुआ इसीलिये यह असंयत, अनिबद्ध राक्षासीबल गणराज्यों के सीमित छिन्न छत्तीसी रूपों में बिखरा है किसी केन्द्रीय शक्ति को स्थापित नहीं कर सका अन्यथा विजातीयों, प्रतीपगामियों को निष्कासित कर दिया जाता।

x

x

x

भगवान कृष्ण है। थोड़ी सी भूमि हैं पर वह उसे व्यस्त रखने का बहाना है। जीविका का समग्र आधार नहीं है। वह कहता है कि आजकल खेतों में एक सफेद लट पनप रही है। उसकी कोई औषधि नहीं। समर्थ से समर्थ कीटमार औषधों में वह निर्विकार विचरण करती है। जब कभी खेतों में कीटनाशक छिड़का जाता है, वह उस दुर्गन्ध से अरुचि रखने के कारण और गहरे चली जाती है-पातालवासिनी जो ठहरी। दो चार दिन में जब दुर्गन्ध समाप्त हो जाती है, वह ऊपर आती है और पौधों की जड़ को खा जाती है।

किन्तु गोबर के ढेर में उसे दबा देने या जहाँ गोबर रखा हुआ है वहाँ से गोबर हटा कर उस स्थान पर रखने से वह सैकण्डों में ही मर जाती है। गोबर की गैस उसके लिए

कालकूट है। भगवान् ने अपने खेत में ऊर्वरक नहीं दिया, कीट-नाशक छिड़कने की भी बहुत कम आवश्यकता पड़ी।

×

×

×

छींतर नहीं रहा। जिस दिन से उसके कैंसर होने की घोषणा की गई उसी दिन उसके मस्तक पर कौवा बैठ गया अर्थात् छह मास से अधिक का जीवन नहीं रहा। मृत्यु अनिवार्य है, भय उससे त्राण नहीं करता फिर भी जीवन की मृदुता और सरसता इतनी हेय तो नहीं कि उनको इतने वीभत्स एवं निर्मम तरीके से मसला जाए। मृत्यु जीवन के साथ जब बलात्कार करने लगती है तो देह को इतना विद्रूप और वेदनामय कर देती है कि व्यक्ति मृत्यु से आतंकित हो जाता है और जीवन से चिपक जाना चाहता है।

छींतर दो माह में हो गठरी हो गया, अस्थि पुट्टली। जिसके चलने की मुद्रा थी, जो उत्सव में जाते समय भव्य वेश धारण करके अलग से पहचाना जाता था, कान से महकते इत्र की मन्दगंध उसके शील का सन्देश देती रहती थी, उसे आज देखकर संवेदनशील मन बुद्ध की-सी विरक्ति से भर उठता था। गले में सीटी लगा दी गई—मुँह केवल विवर रह गया, भोजन के लिये पसली के पास एक नलकी लगा दी गई स्वाद के आनन्द और वाणी के विवृत्ति-सुख से वंचित हो गया छींतर। जीवन की दूरी और घट गई, मृत्यु की निकटता और बढ़ गई। पारिवारिकों का दुःख और निविड हो गया। स्तब्ध-से, विवशता पीड़ित-से परिजन देह-नगरी का विनाश देख रहे थे, प्रतीक्षा थी छत के हरहरा कर गिर जाने की।

एक दिन छींतर के गले पर कीड़े तैर आये। गलकैंसर हो तो था। उन कीड़ों पर किसी भी कीटनाशक का कोई प्रभाव नहीं। तेजाब के पानी में तो वे निर्द्वन्द्व तैरते ही रहे, तेजाब में भी वे मरे या जले नहीं।

×

×

×

कस्बे के विद्यालय में सत्रारम्भ हुए एक माह भी नहीं हुआ। छात्र संघ के चुनाव कराने का दबाव प्राचार्य पर पड़ने लगा। छात्र चुनावी सरगर्मियों में डूब गये। अन्ततः चुनाव हुए। आठ प्रत्याशियों में एक विजयी हुआ। राजनीति का सिंहासन बहुत छोटा होता है, एक ही व्यक्ति तो बैठता है यहाँ विसंगति यह रही है कि तीन प्रत्याशियों के बराबर मत आये थे। गोली निकालकर निर्णय करने के सर्वसम्मत प्रकार के आधार पर एक विजयी हुआ था। भाग्य ही की बात कि छिपकली-सा छोकरा विद्यालय का प्रधानमन्त्री बन गया और वे सुरूप बिड़ाल पराजित हो गये।

इस पराजय को स्वीकार करने की शूरता उनमें कहाँ से आ सकती थी? अपने मतदाताओं को खिलाने-पिलाने में, चुनावी बिजूकों को कपड़े पहनाने में, विज्ञापन पत्रक छपाने चिपकाने में, जीप दौड़ाने में उन्होंने जिस सामन्ती प्रकृति और वैभव की प्राणप्रतिष्ठा की थी उसकी ऐसी अकाल मृत्यु और अपघात वे कैसे सहन कर लें ?

असन्तुष्टों—पराजित नायकों का दल बना और मांगपत्र लिखा गया। मांग पत्र तो मांगपत्र ही था, पूर्तिपत्र हो ही नहीं सकता था। सीधे संस्था प्रधान को दे दिया गया। छात्र संघ के माध्यम की क्या आवश्यकता ? वास्तविक छात्र संघ तो उनके पास था। निर्वाचित प्रधानमंत्री देखने के सिवा कर क्या सकता था ? अपने कतिपय मित्रों और समर्थकों को साथ लेकर वह मन से प्रार्थना करता रहा—उसकी कुर्सी बची रहे।

कुल पन्द्रह-बीस छात्रों ने तेरह सौ छात्रों का विद्यालय बन्द कर दिया। जो छात्र अध्यापक को प्रणाम करने के अतिरिक्त कुछ जानते ही नहीं थे वे भी सीना तान कर चलने लगे। अध्यापकों की दृष्टि भूस्पर्शी हो गई। अनावश्यक वचनों को सुनना उन्होंने बन्द कर दिया।

x

x

x

भारत के किसी नगर में एक वयस्क जन ने मात्र छह माह की बालिका से बलात्कार कर डाला।

अपनी कुर्सी बचाने के लिए एक राज्य के मुख्यमंत्री ने अपने मंत्रिमण्डल समेत केन्द्रीय परिवर्तित सत्तारूढ़ दल में विलय कर लिया और निर्लज्ज सत्ता ने उस समर्पण को मूल जनता का स्वर मानकर उस प्रदेश को चुनाव के झंझट से मुक्त कर दिया।

नकली दवा बनाने वाले, नकली नोट छापने वाले भी पकड़े जाते हैं।

पुण्य सलिला भागीरथी और तरणि-तनूजा अपना तेजस खोती जा रही हैं। वे अब अगम कर्दम और अपाच्य फैक्ट्रीमल की वाहिनी बन गई हैं।

इतना सब होने के बाद भी हम पिछड़े हैं। विश्व के मानदण्डों में हम उपयुक्त स्तर प्राप्त नहीं कर रहे। अमरीका या ब्रिटेन या फ्रांस के महानगरों में होने वाले अपराधों की तुलना में हम बहुत पीछे हैं।

फिर भी हमें यह विकासशीलता सुहाती नहीं। क्या हमने नये का स्वागत करना छोड़ दिया ? क्या हमारे विचार जड़ हो गये ? यह प्राचीन के प्रति दुर्वार आसक्ति हमें वानरीमोह का प्रतीक तो नहीं बना रही?

अन्ततः इसका भविष्यत् क्या है ? संसार में हो रहा यह घटना विकास यदृच्छा है अथवा नियोजित पूर्वापर। हम जिन सन्दर्भों को देख रहे हैं वे कारण हैं या कार्य ?

जिन विकृतियों को देख कर हम चौंक जाते हैं, अपराध के मानक स्थापित करके हम इतिहास को पराजित करना चाह रहे हैं यह सब प्रकृति की सहज गति है। प्रकृति का चरम विकृति है। ये विरुद्ध दिगन्त मिलकर ही प्रकृति की समग्र सीमा अंकित करते हैं, यहीं द्वैविध्य विविधता को निरूपित करता है।

संसार है ही इसलिये कि इसमें शिव अवस्थित है और उसकी रुद्ररूपिणी शक्ति उपस्थित है। सुरी और आसुरी अवस्था एक ही धारा के द्विविध रूप हैं, दोनों समवायी हैं, उपनिषद् के 'द्वा सुपर्णा' संसार वृक्ष के नियत निवासी हैं। प्राण और अपान के गृत्स और मद ऋषि जगत् की प्रतीति हैं।

एक ही प्रचण्डता दूसरे को विकासमान अवस्था बनती है। शेष कोई नहीं होता। तत्त्व और प्रति-तत्त्व का सिद्धान्त सृष्टि के परमार्थ को प्रकट करता है।

इस तरह, यह माना जा सकता है कि हमारा यह हास, अथवा अनभीष्ट दिशा में प्रवृत्ति, प्रकृति का सुनियोजित विन्यास है, यह कार्य है, कारण तो बहुत पहले घट चुका।

कारणान्वेषण के लिये हर सद्यः निवृत्त कालखण्ड का विश्लेषण करने की अपेक्षा परोक्षभूत के आख्यान को ले सकते हैं।

राम—राजा राम—विश्वास दीप्त वाणी में घोषणा करते हैं— “मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है, मेरे यहाँ अकालफलनी वनस्पति नहीं है, विधवा या पुंश्चली नहीं है। समय पर वृष्टि होती ही है, ऋतुकाल में वृक्ष फूलते फलते ही है।”

उसी राम के राज्य में जब पिता के सामने पुत्र की मृत्यु हो गई तो सारा राज्य चौंक गया, आश्चर्यविमूढ़ प्रजा के सामने राम को उत्तर देना था—आखिर, ऐसा क्यों हुआ ? किसका स्खलन था ? कौन दोषी है ?

प्रजापालक राम कुलगुरु वसिष्ठ से पूछते हैं—“पूज्यवर ऐसा अघटनीय किस कारण घटा ?”

वसिष्ठ सैद्धान्तिक विश्लेषण करते हैं—भद्र ! कहीं न कहीं व्यवस्था का हनन हुआ है, धर्म का अतिक्रमण हुए बिना ऐसा संभव नहीं। एक स्थान पर हुआ विप्लव पता नहीं किस स्थान पर किस रूप में प्रकट हो जाए ? सचेतन का जड़ गणित नहीं होता। हमारे मन में उठ रहे एक भाव का दमन जब कुण्ठा की ग्रन्थि बन जाता है तो निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि वह कब, कहाँ और किस रूप में विस्फुटित होगा ?

हमारी वर्तमान अव्यवस्था का भी कोई गणित अथवा वैज्ञानिक सूत्र निर्धारित नहीं किया जा सकता। बारहों महीने फलने वाले बीजों का आविष्कार करने वाले विश्वामित्र को हम श्रद्धाबल से बाध्य नहीं कर सकते कि वह प्रकृति की ऋतु-मर्यादा का उल्लंघन न करें। हमारा भागवत मन यह मानता है कि धर्म के मूल्यों की अवमानना करने पर ही प्रकृति ने अकालप्रसव करना प्रारम्भ किया। ब्राह्म तेजस क्षीण हो गया। उसका वर्चस्व हमारे राष्ट्रीय वाक्य ‘सत्यमेव जयते’ के मुद्रण तक ही सीमित रह गया और व्यवहार में राष्ट्र धर्म निरपेक्ष याने तटस्थ हो गया।

धर्म की वल्गा इतनी शिथिल हो जाए कि वह हमारे निजी कक्ष की साज-सज्जा की तरह संकीर्ण एकाकी रह जाये तो श्यामकर्ण इच्छाचारी होंगे ही। सूर्य का सप्ताश्ववाही रथ अश्वों के स्वैराचार का आखेट हो गया है। अश्व चल रहे हैं, रथ स्थिर है क्योंकि उनका समन्वय सूत्र शिथिल होता जा रहा है, उनकी विदिशा गति निर्लक्ष्य है और हम हैं कि अश्वों की गति को ही रथ की दौड़ मान रहे हैं।

व्यक्तिचिन्ता समष्टि चिन्तन को आहत करने लगी है ? पद अथवा पुरस्कार पुरस्करणीय को प्राप्त कर कृतार्थ थे यहाँ पुरस्कारों से शोभित होने की संस्कृति चल पड़ी है। धर्म को हम अपनी आवश्यकता के अनुसार रूपाकार देने लगे तो स्थिति विद्रूप बन जाती है।

धर्म की पकड़ नहीं रही। इस विरक्ति के पीछे धर्म के अनुपूरक कर्मकाण्ड का होना एक प्रमुख कारण है और उसी अनुपात में जीवन व जीविका की जटिलता बढ़ जाना भी। आर्थिक वैज्ञानिक संस्कृति के उदय ने हमारे विश्वास को और तंग कर दिया। ‘अन्न’ को ‘भगवान्’ कहने लगे। भौतिक विपन्नता ने साधनों का विस्तार किया और हमारा

बहिर्मुखी चिन्तन यान्त्रिक जड़ता से घिरता गया, साधनों के अनुसंधान और संग्रह के लिये भीड़ भरने लगी है।

प्रश्न यह है कि जिस दिशा में हम इतने चल लिये वहाँ से निवृत्त होकर मूल बिन्दु पर लौट आयें, यह न रुचिकर है, न संभव, फिर धर्म के ऐतिहासिक रूप को व्यवहारें - यह भी असम्भव है क्योंकि सामयिक परिवेश में वह वेश सामंजस्य नहीं बना पाता।

यह संघर्ष, अन्तः प्रकृति और बहिःप्रकृति का है। इनका साधक सूत्र होता है, धर्म और धर्म सत्य की तरह स्वप्रतिष्ठ होता है। कुछ सनातन मूल्यों और शाश्वत संवेदना को स्वीकारे बिना अतिचार को अवकाश मिलता ही रहेगा। धर्म को व्यक्तिनिष्ठ करने की अपेक्षा व्यक्ति को धर्मनिष्ठ किये बिना “नान्यः पन्थाः विद्यतेयनाय।”



साधना और संस्कार

हममें से अधिकांश व्यक्तियों के जीवन का सार-संक्षेप पूछा जाए तो बहुत निराशाजनक और अर्थहीन वाक्यों में लिखा जाएगा। जीवन पर व्यक्ति का सार्वभौम अधिकार है, वह आत्मघात करने की असफल चेष्टा करने पर दण्डित किया जा सकता है अन्यथा उसका वर्चस्व आमृत्यु है। इसके अलावा वह किसी भी तरह जीने को स्वतंत्र है अर्थात् वह अपने जीवन का कोई भी अन्तर्मुखी लक्ष्य निर्धारित कर सकता है; भले ही वह किसी भी तरह की सामाजिक व्यवस्था में रह रहा हो। यह मानवीय जीवन की विडम्बना ही मानी जाएगी कि उसको सामाजिक प्राणी बनना पड़ा और संघबद्धता में वह समाज के दुराग्रहों और अनावश्यक सुविधाओं के मोह में पड़ कर परापेक्षी होता गया। यदि उसके खान-पान की विधियाँ इतनी जटिल नहीं होती, उसका शरीर वातावरण की मार सहने और उससे प्रतिरोध करने की क्षमता खो नहीं देता, व्यक्तिगत अधिकार का अहंकार और दूसरों से भय का रोग उसके आत्मविश्वास को क्षीण नहीं करता तो जीवन अधिक स्वतंत्र होता, उसका सुख अधिक विस्तृत होता। भारत की प्राचीन व्यवस्था में आरण्यकों एवं आश्रमवासियों की स्वतंत्रता सर्वोपरि थी, नगर का प्रमुख भी उनके पास जाता था तो उनकी स्वतंत्रता का सम्मान करता था। एक-सी जाति की सामूहिक जीवन व्यवस्था में सुख और सहयोग निर्भर सुविधाओं का विस्तार अवश्य होता है किन्तु इन बाह्य उपकरणों के एवज में हमारा आभ्यन्तर कुण्ठित हो जाता है। विचारों और परम्परागत मान्यताओं की कारा में हम इस तरह सर्वाङ्गबद्ध रहते हैं कि तदितर सोचने का अवकाश ही नहीं मिलता और स्वतंत्रता अथवा उत्कृष्ट सुख की परिकल्पना तक दुष्कर रहती है और हमारा चिन्तन एक संकीर्ण गलियारे पर पनपने वाला क्षुप रह जाता है।

ऐसे एकरस जीवन का आख्यान पेट की विवशता से आगे नहीं बढ़ता। जीवित रहने के लिये हम पेट के बल भूख के रेगिस्तान में रेंगते, अपने को सुरक्षित रखने के लिए सैकड़ों किलोमीटर की दौड़ रोजाना लगाते रहे। असल में हमारा जीवन एक कूड़ादान से अधिक नहीं रहा, प्रकृति के अन्नमय विकार, अवस्था जनितमल और साहचर्य के दुष्प्रभावों को ढोने से अधिक अर्थवत्ता इस जीवन की क्या है—यह विचारणीय विषय है। भगवान् की कितनी बड़ी कृपा है कि वे भ्रान्ति और विस्मृति का मनोहर जाल हमारे पर

फैलाये हुए हैं अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का यथार्थ समझने के लिए आतुर होता।

सचाई यह है कि समरस जीवन आकर्षण शून्य हो जाता है। शान्त सागर, भी सागर तो है पर उसके विस्तार बल का परिचय तो उसका गर्जन, उसके आवर्त, उसकी विशाल तरंगों का नर्तन देता है। ऐसे ही जीवन का सौन्दर्य उसकी विविध घटनाओं और आन्दोलन में है, घटनारहित जीवन की समरसता व्यक्ति को पेट के पहियों पर बिठलाकर-बारास्ता भूख-श्मशान तक पहुँचा देती है, इससे अधिक व्यक्ति का इतिवृत्त कुछ नहीं हो पाता।

जीवन को दूसरी तरह से सार्थकता देता है- लक्ष्य। अर्थात् व्यक्ति अपने जीवन का एक प्रयोजन निर्धारित करता है तो सप्रयोजन जीवन एक विनियोग बन जाता है। किन्तु स्मरण रहे कि लक्ष्य इतना छोटा न हो कि वह सामान्य से प्रयास से सम्पूर्ण हो जाए। लक्ष्य इतना व्यापक और महत् हो कि जीवन को लक्ष्यमय होने के लिये अपने सम्पूर्ण सामर्थ्य का सम्यक् उपयोग करना पड़े अन्यथा लक्ष्यपूर्ति के पश्चात् शेष जीवन फिर एक अर्थहीन पहेली बन जायेगा। कितनी विकृत परम्परा है कि एक प्रौढ़ व्यक्ति के स्वस्थ होने के लिए लोग कहने लगते हैं-बेचारा ! बालबच्चों के भाग्य से बच जाए तो इस कच्चे-कबीले का आधार बना रहे।

याने उस व्यक्ति की अपने स्वयं के लिये कोई उपयोगिता नहीं रही, वह आत्मोपयोगी जीवन जी चुका, अब पिता के रूप में उसे केवल सन्तानों के लिए जीना है। जीवन का इतना छोटा प्रयोजन व्यक्ति को और निःसार बना देता है। पिता के रूप में व्यक्ति आत्मविस्तार प्राप्त करता है किन्तु इस विस्तार का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व और आधार होता है। इस पोषण और संरक्षण की आवश्यकता अवश्य रहती है किन्तु व्यक्ति के जीवन का समग्र विनियोज्य यह आत्मरचित परिवार ही नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार की कुण्ठा से बचने के लिए व्यक्ति को कुछ अप्रत्यक्ष अतएव अभौतिक लक्ष्य नियत करने चाहिए। मेरा यह दुराग्रह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् को माने ही, वह नित्य जप या संकीर्तन करे ही, क्योंकि बहिरंगवादी लोग ऐसे व्यक्तियों से सीधा प्रश्न करते हैं कि इतने दिनों तक नियमित भजन-पूजन करके उन्होंने क्या पाया ? और इस प्रश्न के उत्तर में वे आँखों से देखने लायक अथवा हाथ से छूने लायक या कान से सुनने योग्य कोई वस्तु न पा सके, न बना सके। यह प्रश्न यद्यपि वैसा ही है जैसा रात्रिचर प्रकाशजीवी से पूछता है क्योंकि प्रकाशजीवी का अनुभव रात्रिचर की कसौटी पर सिद्ध नहीं होगा तो वह उसे मानेगा नहीं। ऐसे ही भजन-पूजन करने वाले का संसार विश्वासदीप्त संसार है और उसे केवल आस्था की आँख से देखा जा सकता है, ये चर्मचक्षु वहाँ निरर्थक हैं।

अभौतिक लक्ष्य रखने से यद्यपि त्रिआयामी कोई वस्तु आयत्त नहीं होगी और न ऐसी कोई स्थिति ही बनेगी कि जिसे अनुमानगम्य कहा जा सके, फिर भी इतना अवश्य है कि उससे व्यक्ति आत्मरत बना रहेगा। ऐसे अनेक विकारों से बचा रहेगा जो उसकी तटस्था, को भंग करते हैं, उसकी स्वतंत्रता को सीमित करते और उसके सुख को मन्द करते हैं। ऐसे अलक्षित संसार से इन्कार नहीं किया जा सकता और उसकी हलचलों से प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित होता है, यह भी हम जानते हैं। ऐसी अवस्था ही दर्शन के बीज होती है। दर्शन का विस्तार हमें शुष्क लग सकता है, उसके अधिक प्रभविष्णु होने पर हम वर्तमान से पराङ्मुख हो सकते हैं। इन सारी आशंकाओं और संभावनाओं के बावजूद व्यक्ति के जीवन में एक ऐसा स्थल आता है जहाँ से दर्शन उसको प्रिय लगने लगता है। हमारे यहाँ के नितान्त अपठित जन भी कबीर के और सूफियों के दर्शनशास्त्र पर चर्चा करना जानते हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि प्रत्यक्ष से भिन्न जो संसार है, उसके प्रति लोगों की आस्था है और प्रत्यक्ष से ऊबकर व्यक्ति परोक्ष की ओर उन्मुख होता है।

यों तो न्यूनाधिक रूप में सारा संसार इस संसार और जीवन से आगे भी जीवन का अस्तित्व स्वीकार करता है फिर भी हिन्दू नाम से परिचित जाति अदृश्य संसार और जीवन को ही नहीं मानती, उसने क्रियाशील व्यवस्था को भी जानती है। उसका कर्मवाद इतना सम्पूर्ण और निर्दोष है कि एक बार समझने के बाद उससे असहमत नहीं हुआ जा सकता। स्थूल रूप से हम जानते हैं कि जब व्यक्ति इस विस्तार से जुड़ा हुआ है तो निश्चय से यह जोड़ने वाला कोई न कोई सूत्र अवश्य है और वही सूत्र व्यक्ति को अदृश्य विश्वासी बनाता है।

इस जीवन और अगले जीवन को जोड़ने वाला देहसूत्र उसी अदृश्य अतएव विश्वासगम्य अवस्था का संकेत करता है। इसलिये हमारे दृश्य जीवन में यदि ऐसा कोई कार्य अथवा विचार समाविष्ट हो जाता है जिसका प्रत्यक्ष से कोई संबंध नहीं तो उसे हम जन्मान्तर की निधि कह सकते हैं, क्योंकि संसार की प्रत्येक क्रिया फल में समाप्त होती है और हमने भजन या पूजन में जो कुछ क्रिया की उसका फल भी परिणाम के रूप में प्रकट होगा ही और प्रकट होगा तो वह हमारे सिवा किसी और को नहीं मिलेगा।

एतन्निमित्त हम अपने आपको स्वच्छ निर्मल करते हैं—यही संस्कार है और संस्कार के पश्चात् जिसे हम अवतरित करना चाहते हैं वह साधना है। यह अवतरण हमारी ही शक्ति का संघनित रूप है अथवा कोई अन्य अस्तित्व—इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। हम हमारे से भिन्न किसी सत्ता को मानते हैं या नहीं—यह भी कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। अहम् 'ब्रह्मास्मि' कह कर हमने व्यक्ति की सत्ता को पूर्ण समादर दिया है।



मोहपाश

एक देवस्थान का दर्शन करने की अभिलाषा बहुत समय से थी किन्तु स्थानाधिप की स्पष्ट अनुज्ञा बिना जा कैसे सकता था ? कई बार उनके आस-पास जा आया किन्तु उनकी इच्छा ने अर्गला नहीं खोली और सुयोग नहीं बना। अगस्त 82 में उनकी कृपा हुई, गया। उनके भव्य विग्रह को देख विभोर हो गया किन्तु वापसी में बहुत अपमानित हुआ। अपमानित कहना मेरी क्षुद्रता ही है क्योंकि मान/अपमान में समभाव बनाये रखने की उत्कृष्टता की साधना करना चाहता हूँ फिर भी अभी मन का अनुशय उच्छिन्न नहीं हो पाया है।

हुआ यह कि उस छोटे से गाँव में कुछ देर विश्राम-जलपान करने, आतिथ्य स्वीकार करने के निर्मित रुका, उतनी-सी देर में तो सारा गाँव आ जुटा। चरण-स्पर्श, दण्डवत् से प्रारम्भ हुआ यह समारम्भ, पुरुषों के नागहार से जयघोष तक जा पहुँचा कुछेक लोग धूप-दीप से आरती उतारने तक उद्यत हो उठे। इस सारे समायोजन में डेढ़-दो घण्टे लग गये। क्या बताऊँ! लज्जाहत-सा बना में चकित दृष्टि से यह सब देखता रहा। प्रतिक्षण मुझे लग रहा था एक वन्यपशु को नागरिकों ने बांध लिया है। वे उसे कुतूहल से देख रहे हैं और पशु यह कामना कर रहा है कि कब यह घेराव हटे, कब यह बंधन छूटे कि वह नाक की सीध में भागता चला जाए, कब उस अरण्यानी के एकान्त में अपनी सार्वभौम सत्ता पर प्रतिष्ठित हो जाए?

वे जिस देह को इतना महत्त्व दे रहे थे, उसमें ऐसा क्या था ? मैं स्वयं अपरिचित था उस महनीयता से। यदि एक क्षण को भी उनकी श्रद्धा की दिव्यदृष्टि मुझे मिल जाती तो मैं भी कृतार्थ हो जाता। दैहिक दृष्टि से उनमें और मुझमें क्या अन्तर था? संभव है सामाजिक मानदण्डों के आधार पर उनमें से कई जन मेरे से अधिक उपयुक्त थे। फिर भी यह कौन-सा मोह था जिसने मुझे विशिष्ट बना दिया था ? नहीं समझ सका।

यथार्थ यह है कि वह महतो महीयसी अकाण्डरोहिणी है, उसकी कृपा का कोई कारण हो ही—यह आवश्यक नहीं। मैं सामन्ती युग में जन्मा हूँ, मैंने देखा है राजा की दृष्टि में अनुग्राहिणी शक्ति होती है। वह एक बार जिसको कृपादृष्टि से देख लेता वह अपनी जाति में श्रेष्ठ और समाज में पूजित बन जाता था। “राजा जोगी अगन जला इनकी

उलटी रीति" कहने वाला समाज जानता था कि राजा की कृपा के लिये कोई संगत कारण नहीं होता था। जब चाहे, जिस पर चाहे, वह दृष्टि-निक्षेप हो सकता था और फिर वैभव का प्रसार आवश्यक हो जाता था। विभु का दृष्टि-निक्षेप ही वैभव होता है, विभु से भिन्न वैभव हो ही नहीं सकता। आज राज-युग और सामन्ती व्यवस्था शासन-संचालन में नहीं रही किन्तु उस सर्वेश्वरी के संसार में वह आज भी व्याहत नहीं हुई। उस त्रिपुरसुन्दरी का, जगद्धात्री का ही प्रभाव है कि उसने किञ्चित् कृपाकण इस नामधर देह पर फेंक दिये और यह नश्वर देह भी दर्शन-पूजन की पात्रता प्राप्त कर गया अन्यथा इस मलधर, अपावन चर्मपात्र में ऐसा है ही क्या ? ऋषियों ने देवताओं की स्तुति करते हुए अनेक बार कहा है कि उनके चरण देवताओं के मूर्धा का शरण्य है—कितना व्यावहारिक दर्शन रहा है उन धन्य ऋषिजनों का। मानव-वन्दित व्यक्तित्व में उनकी कला का स्थूलांश प्रकट होता है। जैसे-जैसे उनका वह अंश प्रकर्षभाव को प्राप्त करता है वह व्यक्तित्व, देवों, सिद्धों, योगियों के लिये भी नमस्य-वन्द्य होता जाता है। वस्तुतः यह व्यक्तित्व देहाभिमान अथवा 'स्व' की संकीर्ण कारा का विषय नहीं है। यदि स्व और परा का भेद उच्छिन्न नहीं होता है तो पूर्णव्यसिद्ध नहीं होता और यह व्यक्तित्व कर्मकाषाय से मुक्त/शुद्ध नहीं हो पाता। जहाँ उसने उस परांवा को इस प्रकर्ष में देख लिया वही उसके अविद्या अज्ञानजनित पाश छिन्न हो गये।

विश्वासपूर्वक नहीं कह सकता कि अस्थिर अधोमुखी मन उसके अवतरण के लिये उपयुक्त हो गया है क्योंकि जितना अपने को सुवासित करने की चेष्टा करता हूँ उतना ही दुर्गन्धकोश आभासित होता है। युगों मेली इस चीकट चादर को जितना निर्मल करना चाहता हूँ उतना ही मल का आवरण उग्र होता जाता है। प्रायः ऐसा लगने लगता है कि मैल धोते-धोते कहीं चादर ही फट न जाए। पर ऐसा होता नहीं, इसलिये होगा नहीं।

इसी सन्दर्भ में एक अन्य प्रसंग याद आता है। तीन दशक से भी पहले विवाह पश्चात् द्विरागमन (गोना) कराने गया था। कैसी-कैसी रूपवती वधू-सखियों ने घेर लिया था ? कितने कूट-कपट रचे थे उन सबने मिलकर ? कैसे-कैसे नर्म परिहास किये थे उन सबने ? वे इतनी और मैं अकेला—कितनी विषम-विकट परिस्थिति रही होगी। एक शिकार पर इतने-सारे शिकारी अपने-अपने अस्त्र संधान किये बैठे थे। यों उनका सहज स्नेह तो मिलता ही। इनके कूट में फँसता तो भी वे मुक्त करती, उनका यह व्यवहार दुर्भावना अथवा अहितप्रेरित नहीं था। पर मेरी अकुशलता पर वे प्रसन्न होती—इससे अधिक तृप्तिकर बात यह रहती कि मैं अपनी पटुता से उनको चौंकाता, अपनी चातुरी से उनको छकाता तो वे अधिक उल्लसित होती। नारी समर्पण सुखकामिनी होती है किन्तु वह समर्पण के पहले उस आधार को निरख-परख लेना चाहती है, वन में प्रसृत लता-वल्लियाँ आश्लेष से पहले महीरूह को जाँच लेती है कि वह उनके संभार को

सहन कर पायेगा या नहीं ? छोटे-छोटे क्षुणों पर कभी भी कोई लता आरोहण नहीं करती । परमार्थतः यह माँ का सहज भाव है, प्रकृति का आत्मानुगत चरित्र है । वह आने से पहले आधार को देख लेना चाहती है, अपना गाढ़तर आश्लेष देने के पहले आश्वस्त होना चाहती है कि आशिलष्य उसका तेजस् सह है या नहीं ? आज के सभ्य समाज में यह सब उपेक्षित हो रहा है । लगता है शाबर तन्त्र में संकल्प, विनियोग, उपचारवती पूजा का कर्मविलास नहीं है, पश्चिम की उपयोगितावादी सीधी पहुँच-पकड़ हमारे व्यवहार में आ गई है । कितने अमन्द आनन्द से निमज्जन के क्षण रहा करते थे । इस व्यावसायिक क्रूरता ने विभ्रम-विलासों का कैवरे बना दिया । देहेतर अनुभूति को नाड़ी संघट्ट और कण्डू घर्षण जैसा शुष्क देहव्यापार बना डाला । वातावरण और चिन्तन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । सब कुछ बदल रहा है । बदलना चाहिए था किन्तु अयथार्थ ने वास्तविक को इस तरह ढाँप लिया है कि सब कुछ अपरिचित, विकृत लग रहा है । वहाँ गौने में, मैंने अपनी मूर्खता को इस तरह छुपाया कि उनके सारे छदम्-चातुर्य को मेरी अज्ञता ने नापने का अवसर ही नहीं आने दिया ।

इस प्रसंग में भी मुझे प्रतिक्षण ऐसा ही लगता रहा कि निसर्गकरुणावती ने मेरी पात्रता को नापने के लिये ही यह भीड़ जुटाई थी, मेरे साहस की परीक्षा करने के लिये ही उसने पुष्पों के नागहार गले में डलवाये थे । वह देखना चाहती थी कि उसके ईषत् कृपाकटाक्ष से मैं बौरा तो नहीं जाता ? अगर उस प्रदर्शन के भ्रम में मुग्ध होकर मैं अहंभावापन्न हो जाता तो निश्चय से पतित होता और मेरे उस मानदर्प पर वह कुटलस्मिति से मुझे देखती और जब मेरा पतन होता और मैं आहतदर्प से अकुलाता-कराहता तो वह ताली पीट कर हँसती । निश्चय से उसके इस उल्लास में (जो मेरी मानहानि के विषाद की प्रतिक्रिया के रूप में होता, उसमें) भी मेरी अहितकामना नहीं होती तदपि वह अपात्रता ही सिद्ध होती और पात्रता प्राप्त करने के लिये मुझे फिर प्रयास करना होता । यह उसकी ही कृपा रही कि इस प्रदर्शन से मेरा मन आभारी नहीं हुआ, उसमें "और" का बीज नहीं गिरा ।

उन लोगों को मैं क्या दोष दूँ जो श्रद्धा-प्रेरित चले आये थे । उनमें मुझे माँ का श्रद्धास्वरूप ही दिखता रहा इसलिये वे मुझे प्रणाम करते रहे, मैं उनको प्रणाम करता रहा । आपत्ति यही रही कि उनके यहाँ अवस्थित सिद्ध-विग्रह से अधिक सम्मान मुझे दे रहे थे ।

यथार्थ रूप में, उस नटी का यह नाटक तटस्थवृत्ति से देखने-समझने का है, संपृक्त होने अथवा अधिकारविष से दूषित होकर देखने का नहीं है । एक शुद्धश्रद्धा विविध नाम-रूप आकार धारण कर एकत्र हो रही थी । यह मादृश व्यक्ति का अज्ञान ही था कि उसे अपने लिये समझ रहा था । यही तो वह धर्मक्षेत्र का समरांगण था जहाँ कृष्ण कहा

करते है—मैं ही होता, भोक्ता और हविष्य हूँ! इतने विराट् स्वरूप में गोविन्द शास्त्री का यह कलेवर कहाँ आ गया ? जब सभी कुछ उसी शिवा का है, सारा क्रिया-विस्तार उसी कृष्ण का है तो अपनी क्षुद्रता के संभार से आक्रान्त यह व्यक्ति कौन है ? तत्क्षण मुझे भान हो आता है कि इस देह में अवस्थित देही की दिव्य सत्ता को किसी भी कारा में बांधना मूर्खता ही हो सकती है और यही विचार मुझे स्वस्थ कर देता है।

यों श्रद्धा का विस्तार देवलोक तक है। वह इतनी तेजस्विनी है, इतनी प्रशस्त है कि अपने हल्के-से संस्पर्श से समस्त संशयजाल को काट फेंकती है, तर्क जैसा दुर्दान्त उसके सौम्यशालीन भूविलास के आगे प्रणत हो जाता है। घृणा-असूया जैसी कुट्टनियाँ उस सती के अन्तःपुर में प्रवेश नहीं कर सकती। यह निर्विवाद है कि श्रद्धा समस्त विश्व का अवलम्ब है, उसके बिना किसी की भी गति/स्थिति संभव नहीं। यह भिन्न बात है कि कोई उसे सदाधार देते हैं कोई उसे असदाधार।

असत् आधार असती का परिवार है, उसमें सारे घटक आत्मरत है, स्वच्छंद हैं, असहिष्णु हैं। वे परस्पर मिलते हैं तो किसी गर्हितलक्ष्य की पूर्ति के लिये एकाकी अभिमन्यु को मारने के लिये। दुरभिसंधि का व्यूह रचना और उस पर संघबद्ध आक्रमण करके वध कर देना उनका संयोजनसूत्र रहता है, मिलने का प्रायोगिक आधार बनता है। यही परिकर आसुरी सम्प्रदाय कहलाता है।

सती और असती का श्रद्धा और असूया का यह संघाचार संसार का वैचित्र्य है और यही इसकी समग्रता है। फिर भी इतना तो सत्य है कि असत् वध्य है और सत्य अवध्य। असत् का अवतारग्राही राक्षस होता है और पौराणिक आख्यान यह सिद्ध करते हैं कि देवों ने अथवा देवी ने ऊद्धत राक्षसों का वध किया। किन्तु किसी भी ग्रंथ में यह नहीं लिखा गया कि देवताओं को मार दिया गया। हाँ, देवताओं को बन्दी बनाने, उनको तेजस्विहीन करने, उनको पदच्युत वा कुण्ठित करने की बात अवश्य होती है। सत् के साथ यही हो सकता है क्योंकि सत् का विनाश होता ही नहीं। देवत्व दानवता का विनाश करता है क्योंकि असत् का 'अ' अभाव का बोधक है और असत् की आयुष्य सत् के प्रादुर्भाव तक सीमित रहती है। यह संसार का व्यवहारजाल भाव और अभाव किंवा सत् और असत् के मिथुनाचार का ही एक रूप है और इसमें से भाव अथवा सत् को नष्ट नहीं किया जा सकता। इसलिये सत् अवध्य होता है, वही अनश्वर, अव्यय, अविकारी होता है।

इस सम्बन्ध में एक कहानी याद आ रही है—हुआ यह कि बहुत पहले ब्रह्मा ने सत्य, असत्य, वरुण और अग्नि को अमृतफल देकर कहा—“जाओ, तुम चारों सुमेरु शिखर पर बैठकर इसे खा लो!” चारों चल पड़े। रास्ते में असत्य ने वरुण से कहा—“यदि तुम अग्नि का वध कर दो इसका अंश भी हम ही बाँटकर खा लेंगे।” वरुण को असत्य की

दुर्मति मोहक लगी। उसने अपने बल से अग्नि को शान्त कर दिया। थोड़ा आगे चढ़ने पर असत्य ने कहा-“वरुण मित्रघाती है” इस पापी को अमृतफल खाने का अधिकार नहीं है। फलस्वरूप वरुण का ऊपर चढ़ना रुक गया। सुमेरू जैसे सर्वोच्च शिखर हिमरेखा से ऊपर होते हैं, इसलिये वहाँ वरुण जलरूप में नहीं रह सकता, उसे जलीय कलेवर देने की सामर्थ्य अग्नि में हो सकती थी किन्तु उसे असत्य की कुमंत्रणा से पहले ही शान्त कर दिया गया था। परिणाम यह हुआ कि वरुण ऊपर नहीं चढ़ सका। ऊपर गये सत्य और असत्य। शिखर पर पहुँचकर असत्य ने कहा-“मैं अकेला ही यह अमर फल खाऊंगा। तेरा इस पर कोई अधिकार नहीं है।” इस पर सत्य को क्रोध आ गया। उसने असत्य को मारने के लिये बल-प्रयोग करना चाहा, तभी ब्रह्मा वहाँ आ गये। ब्रह्मा ने सत्य कहा-“तू सबल होकर भी इस पर हाथ उठा रहा था, बहुत घृणित कार्य कर रहा था, इसलिये मैं तुझे शाप दे रहा हूँ कि यावज्जीवन तुझे असत्य से संघर्ष करना पड़ेगा।”

कथा की संभाव्यता पर हमें विचार नहीं करना, इसके उद्देश्य पर विचार करना है कि सत्य असत्य से अधिक बलवान् होता है, उसे प्रवंचना की अनेक कलायें आती हैं, पर हमें उन सबसे अप्रभावित रहकर सत्य को अनाक्रामक रूप में प्रतिष्ठित करना है, अहर्निश असत् के आक्रमणों और कूटनीतिक छद्मों से बचते हुए सत्य को पुष्ट करना है, उसे संघर्ष की उत्कटता से मुक्त करके अविचल रूप में स्थापित करना है क्योंकि सत्य आक्रामक नहीं होता। असत्य उसे उत्तेजित करता है इसलिये सत्य में प्रतिक्रिया ही होती है पर हमें उसे क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वन्द्व से मुक्त करना है और यह होगा परांबा की कृपा से।



भारत : एक प्रतीक

भारत ने यंत्रों की साधना-विधि का अन्वेषण करके अपनी ब्रह्मवादिता को प्रमाणपुष्ट किया है। दूरसंचार में दोलन की सिद्धि का जो स्थान है वही यंत्र अथवा यंत्र में बारम्बार की आवृत्ति का स्थान है। फ्रीक्वेंसी से भौतिक विज्ञान सुपरिचित है। हमने दूरभाष और संचार को सार्वजनिक बनाने का विचार नहीं किया अन्यथा रेडियो जैसे उपकरण आज के विज्ञान का ही आविष्कार नहीं रहते। आकाशवाणी जैसा शब्द एक पद्धति के सूचक रहे हैं। भारतीय आख्यानों में वर्णित आकाशवाणी इस विकसित तकनीक से भी अधिक विकसित स्थिति रही है क्योंकि चाहे जिस स्थान पर श्रव्य ध्वनि के स्तर पर किसी सन्देश की उद्घोषणा आज तक सम्भव नहीं हो पायी है।

हमारे यहाँ एक जाति की जाति रही है जिसका व्यवसाय वैमानिकी ही था समाज में कोई भी लोकोत्तर कार्य होने पर वह जाति उसे देखने के लिये अपने विमानों में बैठकर उपस्थित रहा करती थी और नैतिक कर्तव्यों के उदात्त स्तर को प्रोत्साहित करने के लिए वचनबद्ध रहती थी। उनको हम विद्याधर और सिद्ध कहा करते थे। इन शब्दों का अर्थ ही यह है कि वे विद्या को धारण करने वाले थे। विद्या को तकनीकी भाषा में ज्ञान का विस्तारित रूप कहा जाता है। संक्षिप्त को मंत्र और विस्तृत को विद्या कहा करते थे। तिरस्करिणी विद्या (जिसमें व्यक्ति अदृश्य हो जाता है) राजवती विद्या आदि अनेक ऐसी अति वैज्ञानिक पद्धतियाँ रही थी जिनके ज्ञाता लोग विद्याधर कहलाते थे। सिद्ध कुछ उन्नत स्तर के रहते थे। ये उत्तर हिमालय के क्रोड में रहा करते थे। हिमाचल के सपाट बर्फीले श्रृंग विमानों के पतन के अधिक उपयुक्त थे और इस विद्या से व्यवसाय एवं अर्थ साधन प्रचुर होता था इसलिये कुबेर धनाध्यक्ष रहे थे, उत्तर का हिमाचल व आंचलिक प्रदेश उनकी वासभू था।

वस्तुतः साधना एक पद्धति है, एक राजमार्ग है जो व्यक्ति को देवत्व की ऊँचाई तक ले जाती है। मनुष्य से अधिक उन्नत स्तर ही देवत्व कहलाता है। सिद्ध विद्याधरों की यह जाति देवत्व के समर्पित थी। उनकी विद्या किसी दुर्मद राजा के अधिकार का विषय नहीं हो सकती थी। इसके साथ ही यह भी सच है कि उस युग में भाषा पवित्र थी, उसके साथ कदाचार नहीं किया जाता था। राजा प्रजा का रंजन करना अपना धर्म समझता था

और इस धर्म का पालन करने पर ही वह राजा कहा जाता था। प्राचीन युग में प्रजा का शोषण अथवा राजा के प्रति विद्रोह हुआ ही नहीं करता था क्योंकि धर्म की वल्गा समर्थ निःस्पृह व्यक्ति के हाथ में रहा करती थी और वह धर्मविप्लव को दण्डित करके ही रहता था। राज्याभिषेक के समय राजा की इस घोषणा के उत्तर में (अदण्ड्योऽहम्) राज पुरोहित उसके तीन दण्ड मारकर कहा करता था, धर्मदण्ड्यस्त्वम्, अर्थात् राजा कहा करता था कि मैं दण्डनीय नहीं हूँ कोई मुझे दण्डित नहीं कर सकता। इसके उत्तर में पुरोहित कहता था धर्म—तुझे दण्डित करेगा। इस प्रकार के वातावरण में राजा धन और धर्म की उत्तम निधि होता था। इसीलिये नीति-शास्त्र में कहा गया है—धर्म राजमूल होता है अर्थात् राजा धर्म का गोप्ता होता है और धर्म का विकास राजा के संरक्षण में ही हुआ करता है।

धर्म का नियंत्रण राजनीति को शुद्ध रूप दिये रहा और राम-काल तक राजा की प्रजा के प्रति निष्ठा और समाज की धर्म के प्रति प्रतिबद्धता अक्षत रही, किन्तु कालान्तर में उसमें विकार आने लगा और राजा का मोह एवं अहंकार सत्ताभिमुख हो गया। ऐसी स्थिति में सत्य की पूजक और नैतिकता को प्रोत्साहित करने वाली विद्यायें लुप्त हो गई, उनके ज्ञाता विद्याधर कहीं किसी सामान्य वृत्ति में आकर अपने गौरव एवं परम्परा प्राप्त तकनीक को भूलकर न जाने किस उपजाति या प्रजाति में प्रतिष्ठित हो गये, यह ऐतिहासिक अनुसंधान का विषय है।

हम हमारे पौराणिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वर्तमान सन्दर्भों को देखते हैं तो खिन्न हो जाते हैं कि अर्थ का शिव किसी अज्ञात कैलाश शिखर पर समाधिस्थ हो गया है, शब्दों की पार्वती प्रश्नों का माया-जाल फैला रही है। ऐसा नहीं होता तो विद्या राज्य का विषय न होकर राज्य विधा का विषय होता। आज के विद्याधर ने जिन अनुपम, परमोपयोगी चमत्कारों को प्रत्यक्ष किया है उनकी कुंजी राजनेता के पास नहीं रहती।

राजनेता पोलिटिशियन हो गया है और वह गर्व घोषणा करता है कि पोलिटिक्स में सभी-कुछ शुद्ध होता है। शुद्ध नीति छलछद्म का आकार बन गई है।

जिस प्रबुद्ध विद्याधर ने पीढ़ी को सुखी सम्पन्न बनाने के लिए अथक श्रम-साधना करके नवीन आविष्कार किये, उसे उनका प्रयोग करने से वंचित कर दिया और परिणाम यह है कि विज्ञान आज भय का उपादान बन गया है। प्रकृति से विमुख होकर वह विकृति का समीकरण हल कर रहा है। बाह्य का विकार मानव के अन्तस्तल को भी प्रभावित कर रहा है इसलिये नीति और नैतिक तो दूर, यहाँ अनैतिकता में नये मानदण्ड स्थापित किये जा रहे हैं।

आज जिस विस्तार में हम फंस गये हैं उससे सुलझना सम्भव नहीं है। इसलिये यंत्र जैसी विद्या को साधना का विषय बनाना सामाजिक आचार नहीं हो सकता। हाँ, वे लोग ही इस पर विश्वास कर सकेंगे जो भाषा के सत्य और देवत्व को पहचानते हैं।

भारत के प्रति मेरी आसक्ति सहजधर्म है और यह आक्षेप भी लगाया जा सकता है कि प्राचीनता को मैं बुर्जुआपन की सीमा तक मानता हूँ। यह एक विचार है और किसी के विचार को अशुद्ध असत्य कहना मेरा अधिकार नहीं क्योंकि ये विचार उनकी मौलिकता है तो मेरी रुचि मेरी स्वतंत्रता। फिर भी ऐसा नहीं है क्योंकि मैंने कहा है।

“पुराणमित्येव न साधु सर्वं न नान्वेत्यनवद्यरूपम्

पुराणा सारा ही श्रेष्ठ नहीं है, न नया ही सर्वस्व होता है।”

मेरी दृष्टि में भारत एक देश नहीं, प्रतीक है और ऋषि एक पद नहीं, शर्त समय है। यदि आज का अन्वेष्टा भी ऋषि जितनी निःस्पृहता और एकाग्रता से तपस्या करता है तो उसे ऋषि कहने में आपत्ति क्या है ? आईस्टीन को मैं ऋषि-तुल्य ही मानता हूँ। शब्द पर नहीं, उसके यथार्थ पर विश्वास करने वाला कोई भी व्यक्ति अपने निर्णय पर आश्वस्त हुआ करता है और उसे च्युत करना तब तक संभव नहीं जब तक उसके विश्वास को एकांगी सिद्ध नहीं किया जाता।

आज के वैज्ञानिक विकास से द्वेष रखना अर्थहीन है क्योंकि उसके अनर्गल निर्दिश विस्तार पर कोई अंकुश नहीं लगाया जा सकता। मय और चार्वाक का ज्ञान और दर्शन पल्लवित हो रहा है। उस पर नियंत्रण प्रकृति ही कर पायेगी। प्रकृति ही परिणामधर्मिणी है, परिवर्तन उसीकी परिभाषा है किन्तु मेरे जैसे व्यक्तियों का यही दोष है कि वे प्राचीन को पढ़ चुके होते हैं, पुराणों में वर्णित शाश्वत से उनका परिचय हुआ रहता है ऐसी स्थिति में वे नये का विश्लेषण अधिक सूक्ष्मता से करते हैं।

कितना कष्ट होता है यह देखकर कि वैज्ञानिक चिकित्साविधि की परिसीमा में न आने वाले अनेक जटिल असाध्य रोगों की सूची में आज सर्वोपरि कैंसर आ गया है और उसकी विविधता से अधिक चिन्ता का विषय उसका प्रसार है। पहले जब मेरे कस्बे में बिजली नहीं थी, उस काल में ही खेतों पर पानी निकालने वाले किसानों के बारिये के बोल सुनाई देते थे और राजा कर्ण के समय वे अपने बोलों में आस्तिकता और आस्था के भावों को शब्द दिया करते थे। कृषि उस समय निश्चय ही कष्टप्रद थी। आज किसान ही नहीं, गृहिणी को भी राहत किली है पर जितनी सुविधा जुटी है उतनी ही श्रम से उपेक्षा

भी पनपी है, परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की अनैतिकता के अपराध बढ़े हैं। जहाँ श्रम की प्रतिष्ठा थी वहाँ धन के प्रति अधिक समादर और लोभ नहीं था। आज रूस या जापान जैसे देशों में श्रम की पूजा होती है तो वहाँ अर्थ एक साधन ही बना हुआ है। कम श्रम करने पर अधिक उपार्जन करने की वृत्ति लोभ का पूर्वरूप है और लाभ तमोगुणी वृत्ति अतएव राक्षसी प्रकृति है। उसमें सत्-नीति और विवेक कुण्ठित हो जाता है। यह सब चार्वाक का लोकायत है।

प्रसंग था विज्ञान का। यदि विज्ञान केवल बिजली, मोटर या यातायात तक ही सीमित रहता तो कोई बात नहीं थी पर जब उसने हमारे खेती खलिहानों और कुओं-जोहड़ों पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया तो स्थिति अधिक विषम हो गई। व्यक्ति के निःसत्त्व होने के कारण प्रजनन अधिक होने लगा और उस बढ़ती जनसंख्या को भोजन देने के लिये अन्न की मूलप्रकृति को उत्तेजित किया गया। विविध प्रकार के खाद और कीटनाशक खेत की धरती पर छाने लगे। मनुष्य की तरह अन्न में भी सत्त्व नहीं रहा। इसलिये उसमें भी प्रजनन शक्ति तो अवश्य बढ़ गई पर अन्तर्बल नहीं रहा और इस निर्बलता के कारण अन्न में विविध व्याधियाँ लग गई। बस्तियाँ खेत की हरियाली को लॉघ गई, मनुष्यों के जंगल ने अरण्यों के वैभव को समाप्त करना प्रारम्भ कर दिया, कम धरती पर अधिक उपज लेने के लोभ ने धरती पर खादों की परत बिछा दी। आज हम जो कुछ खेतों से ले रहे हैं वह खाद की उपज है, धरती की नहीं। यदि यही क्रम चलता रहा तो वह समय दूर नहीं जब केवल खाद के चमत्कार के रूप में अनाज मान लिया जायेगा और वह अनाज प्राकृत न रह कर एक सिंथेटिक उत्पादन मात्र रह जायेगा। जिस तरह शरीर के लिये आवश्यक तत्त्व कैप्सूलों, गोलियों और शीशियों में मिलते हैं वैसे ही अनाज के दाने एक प्रकार के कृत्रिम किन्तु आवरण में बनाये गये कैप्सूल हो जायेंगे।

यह केवल कल्पना नहीं, 'आज' का संभावित 'कल' है। जिस प्रकार डाक्टर कहते हैं कि यदि किसी व्यक्ति को विटामिन जैसे तत्त्व ऊपर से सीधे लम्बे समय तक दिये जायें तो कालान्तर में शरीर उन तत्त्वों का निर्माण बन्द कर देता है तो क्या यह सिद्धान्त खेतों की धरती पर लागू नहीं होता कि उस पर अधिक मात्रा में (जो कि खाद सिद्धान्त के अनुसार प्रतिवर्ष सवाये के अनुपात से बढ़ाया जाता है) कृत्रिम उपादानों को बिछाने से उसकी स्वाभाविक उर्वरता नष्ट हो जायेगी, हो रही है, होगी। प्रकृति ने अनेक सामयिक व्याधियों को प्रकट करके आशंका व खतरे की पूर्व सूचना दे दी है, यह हमारी विडम्बना ही समझी जाए कि हम उसका यथार्थ ढूँढ़ने की अपेक्षा प्रतिगामी धारा से जुड़ते जा रहे

हैं। आज भी यहा परीक्षित सत्य है कि जो कीट कीटनाशक से नहीं मरते वे गोबर में जीवित नहीं रह पाते। जिस धरती पर कृत्रिम खाद डाला जा रहा है यदि उस पर कुछ अन्तराल से गोबर की खाद डाला जाए तो ये विकार क्षीण हो जाते हैं। यही स्थिति कैंसर जैसे रोगों की है। ये रोग रहे थे/रहेंगे, पर इनका प्रसार इस वैज्ञानिक युग की देन है। कोई आश्चर्य नहीं, भगवती की कृपा से किसी क्षण इस पर नियंत्रण पाने का उपचार खोज लिया जायेगा तो कोई और व्याधि प्रकट हो जावेगी।

मेरा विचार है-उपादान कारणों का विश्लेषण न करके निमित्त कारण का विश्लेषण किया जाए और उसी का उपचार किया जाय। कीटनाशकों और कृत्रिम उर्वरकों का प्रयोग बन्द करना संभव नहीं, इसलिए कोई समन्वित विधा व्यवहार में लानी आवश्यक है।

आहार शुद्धि से विचार शुद्धि होगी और शुद्ध विचार हमें शान्ति प्रदान कर सकेगा। शुद्ध से आशय प्राकृत से है। इस सारे प्रदर्शन/प्रदूषण का एक पक्ष और है कि हम बाहर से स्वस्थ सुन्दर अवश्य दीख रहे हैं किन्तु भीतर से जर्जर हो गये हैं। हमारा मन झंझावत का अभ्यस्त हो गया है निष्कम्प अवस्था का आस्वाद लेने की क्षमता इसमें रही ही नहीं। हम भीतर से टूट रहे हैं, त्याग, उदारता और आत्मीयता का स्रोत सूख गया है और स्वार्थ, संकीर्णता, तथा ईर्ष्या/द्वेष का प्राणलेवा मरुस्थल फैल गया है। इस भटकन को ही हमने सुख का सूचक मान लिया है। हमारी क्रिया फलवती हो रही है बलवती नहीं। फलासक्ति के मोह से पीड़ित हम, कर्म और फल को ही पहचान रहे हैं, बल को नहीं।

मनश्चिकित्सकों, मानसिक चिकित्सालयों, प्रेतपीड़ितों, स्नायुदौर्बल्य और नपुंसकता के रोगियों की संख्या बढ़ रही है, अधिक उत्तेजक, स्तंभक पदार्थों की खोज की जा रही है अर्थात् बलहीन क्रिया के केवल विडम्बित फलित ही सामने है और हम बल के कृत्रिम आधारों की खोज करते जा रहे हैं।

अपराध सामाजिकता का शाश्वत सहचर है किन्तु उसका दानवी विस्तार चिन्ता का कारण बनता ही है। हमने अर्थ का प्रतीक लक्ष्मी को मानकर विष्णु को पूजनीय माना है किन्तु उसी अर्थ के लिये यह भी कहा है कि सारे अनर्थों का मूल "अर्थ" है। अर्थ बल नहीं हो सकता। जब कभी समाज ने अर्थ को बल माना वही अनर्थ का तांडव शुरू हो गया। वस्तुतः अर्थ एक बाह्य प्रतीक है। उसमें बल तो विष्णु का ही रहना चाहिए। अर्थ

को वैष्णवी बल से नियुक्त करने पर परांबा सैरिभमर्दिनी नहीं रहेगी, अर्थ का सैरिभ जो विध्वंस मचायेगा-उसका परिणाम हमारे सामने है।

ये जो अपराध बढ़ रहे हैं, व्यक्ति में जो निषिद्ध भाव प्रसार पा रहा है वह सब मोह और अहंकार का सैरिभ उद्गुण्ड हो गया है—इसी की सूचना है। अपराधों में वृद्धि मानसिक विकृति से भिन्न कुछ भी नहीं है और इस विकृति के पीछे हमारी वर्तमान सामाजिक वृत्ति, आर्थिक वैज्ञानिक सभ्यता और इनके सम्पर्क में पिस रही अपना वास्तविक अर्थ खो रही, मानसिकता है जिसे वातावरण ने तीव्रतम रूप से प्रभावित किया है।

यह सारा जो कुछ हो रहा है, अप्रिय है, इसलिए है कि इसका भारतीय चिन्तन, शैली, प्रकृति से सामंजस्य नहीं है इसलिए हमें भारत की शाश्वत प्रतीकात्मकता को फिर से यापित करना है/स्थापित करना है क्योंकि भारत एक देश नहीं, चरित्र है/चिन्तन है/एक दिशा है/एक प्रतीक है।



दर्शन : वितंडा अथवा यथार्थ

आप कहते हैं—“दर्शन व्यर्थ का वितण्डा है।” मेरी आपसे असहमति नहीं, क्योंकि असहमति में विवाद होता है और विवाद में तर्कजाल व युक्ति बल का प्रयोग किया जाता है। विवाद फिर प्रतिष्ठा का प्रश्न बनता है और व्यक्ति का उदीप्त अहंकार देह को उत्तेजित कर बैठता है। जहाँ सहमति के क्षितिज खोजने चाहिए सहमति और असहमति के उत्स तक पहुँचना चाहिए, वहाँ हम तर्क की अरण्यानी में खो जायेंगे। इस विवाद से कुछ प्राप्त नहीं होगा—इसलिय शुष्क बैर और विवाद को दूर से ही नमस्कार कर लेना ठीक रहता है।

सत्य क्या है—यह जटिल प्रश्न है। असत्य को हम परिभाषित कर सकते हैं, संकेतिक कर सकते हैं किन्तु गहन चिन्तन करने पर हम यह मानते हैं कि सत्य इतना सरल और संक्षिप्त नहीं है कि वह परिभाषा की सीमा में आ जाए। सत्य हमारे उन आयामों से ऊपर है जिनके हम अभ्यस्त हैं। यों स्थूल रूप में पृथ्वी—जल, तेज और वायु—तीन आयामों का कारक है और दिशा व काल के रूप में ज्ञात सूक्ष्म आयाम इनसे भिन्न होकर भी शाश्वत नहीं है। यथार्थ में इन जागतिक व्यवहारों की नश्वरता ही किसी अनश्वर अविकारी सत्ता का विश्वास दिलाती है और हम उसी को सत्य मानने के लिए तैयार होते हैं जो इस भंगुरता एवं परिवर्तन की सीमा से ऊपर रहता है।

भारतीय दर्शन जिसे भगवान् कहता है जिसे परम ऐश्वर्य सम्पन्न मानता है वह सत् की अवतार भूमि ‘सत्य’ है। यों परम सत् उससे भी पर अवस्था है फिर भी जहाँ एक अव्याहत सत् जब अनेक रूप धारण करता है तो उसमें सत्य नैसर्गिक रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है जैसे तत्त्व में तत्। सत् का विकास सत्य में होता है और यही विकास-क्रम जिस प्रकार प्रकृति को विकृति तक विस्तीर्ण कर देता है, उसी प्रकार सत् को असत् तक फैला देता है। मूलतः विस्तार सत् का होता है किन्तु फैलाव असत् का दिखता है, जैसे सामान्य-सी गंध अथवा छोटे-से फूल की गंध आसपास के वातावरण में फूल के आकार की अपेक्षा अनेक गुणा अधिक बड़े स्थान में फैल जाती है। इस उदाहरण में सत् और असत् का सामंजस्य आपाततः दृष्टिगत नहीं होता किन्तु तत्त्वतः है क्योंकि गंध गंध है फूल नहीं। गंध के बिना फूल की या फूल के बिना गंध की सत्ता नहीं, फिर भी गंध में

फूल का स्थूल रूप में अभाव है, गंध में फूल असत् है। इस दृष्टि से असत् अधिक प्रसृत है क्योंकि भाव को आवृत करने के लिए अभाव होता है। यही ब्रह्म के चेतन को ढाँपने वाली जड़ माया है जिसके लिये कृष्ण गीता में कहते हैं “यह मेरी ही माया मुझको आवृत किये रहती है।”

जो लोग संसार से इतर को मानते हैं उनसे मेरी असहमति नहीं, इसलिये विवाद भी नहीं। वास्तव में संसार से इतर जो है उसमें ऊहापोह नहीं है और जब हम तर्क से अघा जाते हैं अथवा विवाद की व्यर्थता को जान लेते हैं तब विवेक का द्वार खुलता है। सन्देहों की अर्ध-संकीर्ण सरणि को पार करने के पश्चात् विश्वास का दीप्त-प्रशस्त पथ आता है। जिन लोगों ने विश्वास को इन्द्रियों की परिधि में बाँध दिया है उनको प्रज्ञा का निर्णय सुनाई नहीं देता। जो इन्द्रियों से आगे की विश्वास-भूमि तक पहुँचते हैं उनकी संवेदना अन्तर्दर्शी हो जाती है, वे स्थूल आयाम और बहिरंग आकार प्रकार पर अधिक विचार नहीं करते। जंगम में अवस्थित स्थिरता को वे चीहते हैं।

यह जिज्ञासा पहले विस्तृत होती है क्योंकि अनेक को पहचानती-परखती है, नश्वर अतएव परिवर्तनशील को प्राप्त करती है, फिर सिमटकर अनश्वर से अन्तर्हित हो रहती है। आश्चर्य होता है—लोग अदृश्यकारिणी गुटिका को बनाने के लिये प्रयत्न करते हैं, तिरस्करिणी विद्या को प्राप्त करने के लिये गहन साधना करते हैं। मेरा मानना है कि हमारे ही इस स्थूल देह में एक परम दिव्य सत्ता है जो सदा अन्तर्हित ही रहती है, उसे प्रकट करने के लिये हम परम संघर्ष करते हैं, अथवा हमारे स्थूल करण को संक्षिप्त करने के लिये प्रयत्न करते हैं। यही तिरस्करिणी विद्या है। क्या यह असंभव या कम आश्चर्यजनक है कि हमारा एक वास्तविक स्वरूप हमेशा तिरोहित रहता है ? यह स्थूल देह तो मंच पर अभिनय करने वाला नट है जो पात्र और कथा के अनुसार नानाविध वेश धारण करता है, अनेक मुद्रायें बनाता है। काम या क्रोध या लोभ के आवेश में आया व्यक्ति किस तरह अस्वाभाविक किंवा पराधीन वृत्ति में जटित की तरह व्यवहार करता है—उन मुद्राओं और विडम्बित रूपों को यदि हम शान्त मनःस्थिति और तटस्थ वृत्ति से देखें तो हँसे बिना नहीं रहेंगे।

इस सांसारिक विस्तार को अथवा क्रियाविधि को समझने के लिये अनेक मार्ग हमारे यहाँ वर्णित हैं। देवता की आराधना के अथवा आत्मसाधना के जितने प्रकार बताये गये हैं वे विश्व में व्याप्त अथवा हमारे में अन्तर्निहित उदात्त स्वरूप को प्रकट करने के ही प्रकार हैं।

कोई जड़ विज्ञानका विद्यार्थी है, वह संसार एवं प्रकृति की कार्यपद्धति को इलैक्ट्रान के माध्यम से, कोई कार्बन के माध्यम से, कोई प्राणवायु के माध्यम से, कोई परमाणु के

माध्यम से जानने का प्रयास करता है, किन्तु दुःख यह है कि ये सारे लोग मिलकर भी प्रकृति के रहस्यों को उजागर नहीं कर पा रहे।

विज्ञान ने आज तक कुछ विधियाँ ढूँढ़ी है जिनमें मोटर, ट्रांजिस्टर, मिश्रण, संलयन, विखण्डन आदि है पर ये न तो अपने-आप में सम्पूर्ण हैं, न सब मिलकर ही सम्पूर्ण है। हाँ, इनसे हमारे जीवन में एक समारम्भ, एक अनावश्यक सम्पर्क अवश्य जुट जाता है।

भारत ने भी प्रकृति की कार्यविधि की शैलियों को जाना/परखा है और उनका वर्गीकरण - मारण, मोहन, वशीकरण, विद्वेषण, उच्चाटन, स्तंभन में किया है। संसार इन छः प्रकार के कर्मों के वात्याचक्र में चलता रहता है अथवा संसार की कार्यविधि को हम इन प्रकारों में वर्गीकृत कर सकते हैं। और तो और, हमारे देह के षडंग भी कायशास्त्र की दृष्टि से वमन-विरेचन, स्नेहन-स्वेदन, नस्य-बस्ती आदि कार्यों से प्रभावित/परिचालित होते हैं। ये षट्कर्म हमारे देह की मांसपेशियों में स्नायु-मण्डल में व्यवस्था बनाये रखते हैं जैसे किसी के अतिसार हो रहा है उसे स्तंभन से व्यवस्थित किया जाता है तो स्तंभन को उच्चाटन अथवा विरेचन से।

ये षट्कर्म स्थूल के हैं, सूक्ष्म में अथवा अन्तःकरण में ये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सरता बन जाते हैं। ये गुणों की विकृत अवस्था होकर भी प्रकृति की सीमा में ही आते हैं। इनकी विपरीत अवस्था, जिसमें सत्त्व गुण की प्रबलता रहती है - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह; त्याग और संयम माने जाते हैं। विकृत अवस्था व्यक्ति को बहिर्मुखी-जड़ बनाती है और प्राकृत अवस्थाये व्यक्ति को अन्तर्मुखी-चेतनवादी बनाती है।

मूलतः काम-क्रोध अथवा अहिंसा-अस्तेय जैसी वृत्तियाँ प्रकृति की शैलियाँ हैं और इन छः ऋणात्मक एवं छः धनात्मक शैलियों का संक्षेपण करके हम इन्हें सत्त्व, रज, और तम जैसे तीन गुणों में समाहृत कर लिया करते हैं।

अवान्तर ग्रंथियों की बात हम छोड़ भी दें तो भी कायशास्त्र के अन्वेषण के अनुसार हमारे देह में अवस्थित अन्तःप्रावी ग्रन्थियाँ आभ्यन्तर शरीर/अन्तःकरण की आवश्यकता को पूर्ण करती है। काम का आवेश आने पर कामग्रंथि, क्रोध या उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप आने वाली स्थिति को झेलने के लिए एडर्नलीन जैसी ग्रंथियों की क्रियाशीलता बढ़ जाती है।

तात्त्विक रूप में ये ऋणात्मक और धनात्मक भाव त्रिगुणों की ही असमान आनुपातिक अवस्थाये हैं। त्रिगुणों के अधिष्ठाता के रूप में ब्रह्मा, विष्णु और महेश को स्वयंभू स्थिति के प्रतीक मानकर स्थापित किया गया है। ब्रह्मा रजोगुणी है, सृजनमुखी क्रिया रजोगुण का लक्षण है, सत्त्वगुणी विष्णु प्रवृत्त रचना को सीमायित एवं रक्षित करते हैं तो तमोगुणी

महेश रुद्र रूप धारण कर समग्र रचना का समाहार करते हैं। जैसे ये मूल गुणत्रय परस्पर संयोजन करते हुए अपनी आनुपातिक स्थिति के कारण अनन्त रूपों में विकसित हो जाते हैं वैसे ही इन गुणाधिष्ठातृ देवताओं का मूल परिवार विकसित होते-होते मानवी, पाशवी और वानस्पतिक सृष्टि तक प्रसार पा जाता है।

तंत्र और सांख्य दर्शन इस विकास-कथा को अधिक गम्य रूप से समझाते हैं। यद्यपि सांख्य दर्शन पदार्थ की मूल एवं सूक्ष्म दोनों अवस्था और प्रक्रिया का विश्लेषण करता है किन्तु तन्त्र उससे अधिक व्यापक और सार्वदिक विवेचन करता है। तंत्र जितना दर्शन की तरह प्रज्ञा भूमि में प्रसृत है उतना ही संसार के स्थूल व्यवहार एवं सांसारिक लालसाओं में विकीर्ण है, वह जितना प्रायोगिक है उतना ही वैचारिक भी। इसलिए तंत्र का प्रकृति दर्शन जन-जन के लिए निकट भी है। और सरल भी।

व्यवहार में हम जिनको देवता कहते हैं वे ज्ञानमय क्षेत्र में एक शैली है। हमारे इतस्ततः हम जिन वृक्षों को देखते हैं वे वस्तुतः प्रकृति के प्राकृत चक्र को प्रवृत्त रखने के कार्यघटक हैं। वृक्ष, दृश्य रूप में कार्बन को प्राणवायु में रूपान्तरित करने वाले मिनी प्लांट हैं। कौन कहे पादपों को प्लांट कहने के पीछे अलक्षित रूप से यही बौद्धिकता रही हो। इसी तरह हमारे मन्दिरों में स्थापित विविध देवाकृतियाँ भी प्रकृति के मूल वा उदात्त क्षेत्र के सिस्टम हैं। जब तक हमारा विज्ञानमयकोश अथवा प्रज्ञा का द्वार नहीं खुलता तब तक इदम् और अहम् का द्वैत बना रहता है। हमारा सीमित अस्तित्व प्रकृति के विराट्/विभ्राट् स्वरूप एवं क्रियाविधि को गंधाक्षत से पूजता रहता है। इसके विपरीत जिस समय वह इस स्वयंभू प्रक्रिया को अपने देह में देखता है वह समय सोहम् का अजपा जप सुनने लगता है।

स्पष्टीकरण के लिये हम शिव और शिवा को अथवा प्रकृति पुरुष के परस्पर सम्बन्धों को जानना चाहे तो गणपति की आराधना करते हैं। जागतिक दृष्टि से गणपति गौरी और ईश्वर के पुत्र हैं, उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है, प्रभाव है स्वरूप है और वे सब देवों में प्रथम पूज्य है। निश्चित है-संसार शिव और शिवा का लीला-विलास है, स्थाणु और चंचल का मिथुनकर्म है जिसके प्रत्यक्ष परिणाम गणपति हैं जैसे पुत्र, पिता और माता के मिथुनकर्म का प्रमाण होता है किन्तु वह मिथुन कर्म होता क्या है। उसका पारमार्थिक रूप और प्रयोजन क्या होता है इसको जानने के लिये गणपति की उपासना की जाती है। गौरीसुत के रूप में वे संसार की प्रवर्तमान अवस्था के प्रतीक हैं, शिव के गुणरूपातीत और शिवा के अतिचंचल भाव के परस्परबद्ध होने की मुद्रा हैं, उस क्रिया में अन्तर्हित अवाच्य अनुभूति के प्रतीक हैं।

इस दृष्टि से गणपति हमारे देह-विन्यास में एक प्रारम्भिक वा महत्त्वपूर्ण पद्धति है तो विश्वात्मा की विश्वरूपता में वे एक विशिष्ट एवं आदिपूज्य शैली है। इसी सत्र को

स्पष्ट करते हुए गणपति अथर्वशीर्ष में कहते हैं। “त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि” अर्थात् तत् (वह) के रूप में अपरिभाष्य सत्ता का आविर्भाव तुम्हीं हो। आगे कहा गया “त्वम् सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽसि”। तुम्हीं सत्, चित्, आनन्दमय और अद्वितीय हो। सामान्यतया प्रत्येक घटक अद्वितीय ही होता है किन्तु गणपति अनन्य हैं कारण कि सत्, चित् और आनन्दमय भी है। थोड़ा और गंभीरता के विचार करें तो गणपति जो महामाया का एक स्वरूप अथवा एक कार्यविधि है उनके प्रत्यक्ष ज्ञानगम्य दर्शन हो जाते हैं। हमारे काम संस्थान में एक प्राकृतिक महिमा निहित है, वह इतना जुगुप्सित नहीं है कि हम उस पर विचार करने में भी एकान्त का विचार करें। मान लीजिए आपके यहाँ एक व्यक्ति को जन्म लेता है तो यह जनन एक पद्धति के अनुसार ही होगा। जन्म लेना है अव्यक्त को प्रकट होना है अरूप को जिसे हम प्रारम्भ में सत् के नाम से जान चुके हैं, उसे स्थूल देह में आने के लिये चित् और आनन्दमय भूमिका में से गुजरना होगा तब कहीं वे देहरूप पुर में अवस्थित होंगे। इस प्रक्रिया में सत् को चित्स्वरूप ग्रहण करना होगा और फिर आनन्दमय होना होगा। ये क्रियायें युगपत् होती हैं और इन अवस्थाओं में परस्पर समवाय सम्बन्ध है। इसलिये सत् ही चिन्मय और आनन्दमय हो जाता है। जन्म के लिये यह प्रक्रिया जिस संस्थान और शैली के माध्यम से होती है उसमें आनन्दमयता रहती है अर्थात् सांसारिक प्रतीतियों में काम ही एक ऐसा व्यवहार है जो आनन्दमय है, यही बद्धानन्द है, मूल रूप में मुक्तानन्द जब भौतिक आयामों में स्वच्छेया बंधता है तो विषयानन्द कहलाता है। इस प्रक्रिया के अधिष्ठाता को गणाधिप कह लेते हैं क्योंकि महामाया की सृजनशीलता इतनी संवेदनशील, सूक्ष्म, अव्याहत और व्यापक है कि उसे देखकर व्यक्ति भाव-विभोर हो जाता है। यह प्रक्रिया मूल अतएव प्रारम्भिक होने के कारण सभी गणों की नायिका है और गणपति कहलाती है। स्थूल रूप में यह गजानन के गण्ड-शुण्डा कहे जाते हैं।

सृष्टि के इन रहस्यों को समझना न प्रत्येक को रुचिकर रहता है और न आवश्यक इसीलिए संभव तो नहीं है फिर भी एक न एक दिन यह हमारे लिए ज्ञातव्य एवं ध्यातव्य बन जाता है।

मेरा विचार है—जीवन यात्रा में हमारा यह देह अन्तिम नहीं है। विगत जीवन के संस्कार हमारे व्यवहार एवं चिन्तन में अनुशय के रूप में लगे रह जाते हैं और वे हमारे मानव देह का इतिहास बताते हैं। जिनकी जीभ मोटी है, जिनको आहार, निद्रा और मैथुन के अतिरिक्त कुछ दिखता ही नहीं, जो पिशाचवत् धन के पीछे पड़े रहते हैं। उनको नर देह अभी मिला है इस जीवन में, सत्कर्म करने पर उनका और परिष्कार होगा और इसी तरह परिष्कृत होते-होते वे देवत्व तक पहुँचेंगे। ऐसे रहस्य जगत् में प्रवेश करना और उसकी जटिलता को समझना ही यथार्थ दर्शन है और इस बिन्दु पर आना पड़ता ही है।



विज्ञान और आत्मज्ञान

सुविधाओं के जुटाते हुए हम असुविधाओं पर केन्द्रित होते जा रहे हैं। कुछ बुद्धिमान् और कर्मठ व्यक्ति हर वस्तु को यन्त्र को सौंप कर बिना किसी श्रम के फल का उपभोग करने की लालसा में भटक गये हैं और इस प्रवृत्ति के दो कुफल हमें भोगने पड़ रहे हैं—एक यह कि हम शरीर को कम से कम काम में लेना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि शरीर पर भार अधिक पड़ रहा है। जो कुछ भी हम भोजन के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह सारा आँतों को पचाना पड़ता है और आँतों को शक्तिशाली एवं स्वस्थ बनाने के लिए व्यायाम एवं स्वच्छ वायु को जुटाने की तरफ किसी का ध्यान ही नहीं जा रहा। बहुत संभव है इस प्राकृतिक क्रिया में और शरीर की यथार्थ आवश्यकता में भी वैज्ञानिक असुविधा देख ले और कालान्तर में ऐसा आहार बनाने की कामयाब कोशिश कर डाले जिससे पका हुआ आहार तत्वों के रूप में मिलने लगे और मानव को उसे केवल निगलने की तोहमत उठानी पड़े। इस पद्धति के परिणामों की समीक्षा तो इस तरह के पदार्थों के सुलभ होने और प्रयोग करने पर ही की जा सकेगी, अभी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उस स्थिति में शरीर अपनी वास्तविक शक्ति और धर्म को खो देगा। दूसरा कुफल यह है कि व्यक्ति यन्त्रों को दास बनाने के बहाने स्वयं उनसे घिर गया है और आज स्थिति इतनी उपहासास्पद हो चुकी है नगरों का निवासी व्यक्ति पूर्ण रूप से यन्त्रों के हाथ बिक गया है। उसके जीवन में यन्त्रों को नीरसता और एकरसता इस कदर व्याप्त हो गई कि वह इस कृत्रिमता को ही वास्तविकता समझ बैठता है।

दिखने को आज का व्यक्ति अतिव्यस्त दिखता है। द्रुत से द्रुत साधन भी उसे अपर्याप्त लग रहे हैं और वह इन्हें पाने के लिये भी परेशान है और पाकर भी पीड़ित है। व्यवहार में हम यह कह सकते हैं कि आज संसार सिकुड़ता जा रहा है किन्तु वास्तविकता यह है कि व्यक्ति की दृष्टि टेबल तक सीमित हो गई है। यह भिन्न बात है कि टेबल पर उसने विश्व का मानचित्र बिछा रखा है और सारा ग्लोब उसकी परिसीमा में है।

सारे संसार का चक्कर काट लेने वाले सभ्य पुरुष को जो कुछ भी दिखाई देता है वह केवल महानगरों के जनसम्पर्क में। गहन जंगल में और उसके बंगले के उपवन में नन्हें पादपों के पुष्पों में जो पराग के रूप में केलि-क्रीड़ा हो रही है अथवा एक जाति के

पौधों को नामशेष करके अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए भीषण संघर्ष हो रहा है उसे देखने की क्षमता और अवकाश नहीं है। उसकी व्यावसायिक बुद्धि जंगलों की लकड़ी का नानाविध उपयोग खोज कर उन्हें तहस-नहस करने के लिये अनेकानेक कुल्हाड़े जुटा रही है। सच, व्यक्ति कितना दयनीय और विक्षिप्त हो चुका है, उसकी स्वार्थान्ध-दृष्टि आसन्न-भय को भी नहीं देख पा रही। वनों के विनाश से नग्न हो रही धरती पर न उसे लज्जा आ रही है, न दया ही।

आश्चर्य और विक्षोभ तब होता है जब भारत जैसा धर्मपरायण देश भी अपने धर्म में छुपे वैज्ञानिक सत्य को केवल इसलिये निन्दनीय समझ बैठा है कि वह केवल धर्म है और धर्म पिछड़ेपन की निशानी। हमारे यहाँ धर्म और विज्ञान में भेद नहीं रहा। इसलिए इन दोनों में विकल्प जैसी बात कभी उठी नहीं। विज्ञान ही जब व्यवहार का विषय बना तो धर्म हो गया। यह आवश्यक है कि हमारे धर्म ने ट्रांजिस्टर, कम्प्यूटर और वाल्व नहीं दिये पर उसने जो कुछ भी दिया वह महत्वहीन और हानिकर निश्चय ही नहीं रहा।

नित्य प्रातःकाल स्नान करके देव मन्दिर में जाने वाले पुरुष ने देव प्रतिमा को प्रणत भाव से आत्म-निवेदन करके अशुभ विचारों और कर्मों पर पश्चात्ताप किया और सत्कर्म बने रहने की याचना की। इस धार्मिक आचरण का यह था आभ्यन्तरिक पक्ष, अब उसने जो चरणामृत लिया वह था बाह्यपक्ष। चरणामृत में दी जाने वाली तुलसी उसे आगन्तुक बीमारियों से और मलेरिया जैसी अति प्रचलित बीमारी से बचायेगी। देव दर्शन के निमित्त मन्दिर से निकलने वाला व्यक्ति धार्मिक माना जाता है क्योंकि शेष दिन में अर्थ के लिये प्रयास करने वाले के लिये जीवन धर्म से प्रारम्भ होता है और इस आचरण में विज्ञान ने देहधर्म और मानसिक स्वास्थ्य के लिये एक प्रयोग दिया, जिसे हमने आचरण में उतार लिया, जीवन का अंग बना लिया।

धर्म के लिये या विविध सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिये हमने परीक्षणों, और औषधियों को गौण माना, प्रमुखता प्रकृति को दी। पीपल का पूजन करने जा रही स्त्रियाँ या सन्तान प्राप्ति के लिए आँवले का पूजन करने वाली महिलायें इसका वैज्ञानिक आधार नहीं ढूँढ़ती क्योंकि उनके पास श्रद्धा और विश्वास है, प्रश्न और जिज्ञासा तर्क और कारणवाद नहीं है वे प्रकृति को पूजना जानती हैं और प्रकृति उनके अभावों को भर देगी—यही विश्वास उनको कर्मरत रखता है। अन्यथा जिन व्यक्तियों ने पीपल का पूजन करने की व्यवस्था दी थी वे जानते थे कि प्रातः काल के समय पीपल में आक्सीकरण की प्रक्रिया अत्यन्त तीव्रगति से हुआ करती है और आँवले में लोहा प्रचुर मात्रा में रहा करता है। इस तरह पीपल को पवित्र वृक्ष बतला कर न काटने की और पूजा करने के तथा आँवले को सींचने और तुलसी दर्शन की पद्धति प्रचलित करने के पीछे मानव-कल्याण

और देश के स्वास्थ्य को प्राथमिकता देना प्रधान कारण रहे हैं। भारत के प्रत्येक वृक्ष का देवता है और देवता पूज्य होता है। इस दृष्टि से विज्ञान व्यवहार का विषय होकर भी पूज्य विधा रही।

तत्त्व का रहस्य खोजने में निरत विज्ञान तत्त्व के परतों को खोलता जा रहा है पर यह भेदन केवल परतों का दर्शन ही बना है। समग्र का नहीं। अणु के प्रमुख तीन अंगों इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन और न्यूट्रॉन की सचेतन परम्परा भारत में भी रही है। पर आज इसका नितान्त बहिर्मुखी रूप या अर्थ समझना चाहे तो उन विवरणों के माध्यम से समझ नहीं सकते क्योंकि वे उपाख्यान श्रद्धा की अतिरंजना और मानवीकरण के मोह से इतने प्रभावित हैं कि उन्हें विश्वास के रूप में स्वीकार कर लेना ही उचित लगता है, कारण-कार्य का तारतम्य जोड़ना दुष्कर रहेगा।

फिर भी साधारण बुद्धि से हम विचार करें तो शक्ति के प्रबल स्रोत के रूप में प्राप्त किया गया अणु भगवान् शंकर के परिवेश में हमें स्पष्ट दिखाई देता है। उनके हाथ में या प्रतीक रूप में त्रिशूल दिखलाया गया है वह अणु का समेकित रूप है। इसीलिए शंकर विनाश के देवता है पर उनका विनाश विजय के लिये नहीं, जीर्ण के स्थान पर नवीन की सृष्टि करने लिये होता है इसलिये वे अथ से इति तक शंकर हैं। उनके हाथों किया गया विनाश भी नवनिर्माण की भूमिका हुआ करता है। इस परिप्रेक्ष्य में हम यह मानें कि अणु की शक्ति को हमने सदा से कल्याणकारी प्रयोजन के लिये उपयोग करने की बात सोची है तो विचित्रता क्या है ?

जिज्ञासा और अनुसंधान, मानवप्रकृति का गुण है और यह सनातन रूप से चलता आया है। कोई भी देश पिछड़ा हुआ नहीं रह सकता, कोई भी व्यक्ति स्थिर नहीं रह सकता। आगे बढ़ना, विकास करना एक स्वाभाविक गुण है और व्यक्ति या समष्टि इस गुण से न रहित है न वंचित ही। पिछड़ापन और स्थिरता भी एक प्रकार की गति ही है। आशय यह कि स्थिरता या मृत्यु एक ऐसा बिन्दु है जहाँ यात्रा का श्रमिक विराम आया करता है और वह उपेक्षणीय रहा करता है, जैसे पूर्व में जा रही वस्तु का नगण्य समय में ही पश्चिम में घूमना। यह विकास वास्तव में विकास ही होता है। यह भिन्न बात है कि विकास का क्षेत्र और दिशा कौन-सी है। आज हम पुराने युग को पिछड़ा हुआ या अन्धविश्वासी कहें तो यह सापेक्षता है क्योंकि तुलना करने पर उस युग के विकास को प्राचीन के इतिहास को निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर यह सहज रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि विकास और उन्नति उन पीढ़ियों ने भी की थी, जिज्ञासा और उत्कंठा, गवेषणा और कामना प्रेरक शक्ति स्वाभाविक रूप में तब भी कार्यरत थी।

अध्यात्मवादी और देहवादी किंवा भौतिक दृष्टियाँ भारत में भी रही थी। दोनों ही क्षेत्रों में व्यक्ति ने प्रगति की थी। उनकी अनुसंधान यात्रा के फल भी वैसे ही निकले थे जैसे आज के विज्ञान को प्राप्त हो रहे हैं। फल से आशय सन्दूषण से या प्रतिक्रिया से नहीं है। भारतीय वैज्ञानिक भी परमाणु तक पहुँच चुके थे पर परमाणु का एकत्व उनके लिये उपास्य रहकर भी परम नहीं था। वह निष्क्रिय अवस्था है, गहन शून्य है उसमें थोड़ी-सी भी हरकत दूसरे तत्व या संयोग का परिणाम है। हालाँकि हरकत उसकी स्वयं की ही है पर उससे स्थिति परिवर्तित होती है। शक्ति या माया उसी की है, दोनों को भिन्न नहीं किया जा सकता किन्तु दोनों के भेद को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता।

परमाणु के पोस्ट मार्टम से स्थिति यह आ चुकी है कि प्याज की परतों की तरह परत दर परत निकलती आ रही है। अन्त नहीं आ रहा क्योंकि अन्त जिस विधि या मार्ग से आ सकता था उसे या तो छोड़ आये और दिशा परिवर्तन कर ली या उस स्थिति में आने से विज्ञान में रहस्यवाद और सूक्ष्मवाद आ जाता। जो हो, पूर्व ने शक्ति के स्रोत को ठोस पदार्थ न मानकर विशाल और विराट् तथा चेतन से युक्त माना। शक्ति का दोहन और जिज्ञासा उस पीढ़ी ने भी की पर चेतनवाद जिसे श्रद्धा कहना अधिक उपयुक्त रहेगा, उससे अभिन्न रूप से जुड़ा रहा इसलिए, जो कुछ भी प्राप्त हुआ वह लक्ष्य तक ही गया, प्रतिफलित या विकीर्ण नहीं हुआ।

श्रद्धाकुल जिज्ञासा भौतिक कामना से शून्य नहीं हुई तो अनुभवातीत सत्य से विमुख भी नहीं हुई। सांसारिक रागद्वेष, इच्छा-आकांक्षा से प्रेरित मानव ने शक्ति का बहिर्मुखी प्रयोग और उपयोग भी ढूँढ़ा पर उसका मूल सदा अवाच्य अध्यात्म किंवा विराट् रहा। उसके आविष्कार मानवकृत अवश्य रहे पर वे प्रकृति के धर्म के विरुद्ध अथवा विकृत नहीं रहे। इसलिए कोई भी वैज्ञानिक आयोजन समस्याजनक नहीं रहा। उस पीढ़ी की श्रद्धा ने समर्पण के आधार पर पाया था और ऐसी उपलब्धि अहंकार या चुनौती की भावना से प्राप्त नहीं की जाती। स्वाभाविक है वह विनाशक होकर भी समस्यामूलक नहीं हो सकती।

शक्ति के साधन स्रोत और विविध उपयोगों के रूप में प्रस्तुत मशीनों को इस युग का सत्य कहा जा सकता है और सामयिक व्यवस्था ने उनका सुख सरल शर्तों पर (क्रय शक्ति) बिना किसी भेद के हर व्यक्ति को दिया। मान लिया भारत के पास आज तकनीकी विकास नहीं है और न इतने प्रबल साक्ष्य हैं जिनके आधार पर यह सिद्ध किया जा सके कि अतीव में वह आज से भी अधिक उन्नत और विकसित था तदपि इतने बड़े वाङ्मय को निराधार और असत्य मान लेना भी तो तर्क संगत नहीं होगा, जिसमें आज की

ही नहीं भविष्य में संभावित विकास की भी परिकल्पना सरस कथाओं के रूप में प्रस्तुत है।

हमारे इस दावे को, कि तकनीकी विषयों के विवरणात्मक ग्रन्थ आक्रान्ताओं द्वारा अथवा समय के द्वारा नष्ट कर दिये गये, मान्यता भले ही न दी जाए किन्तु यह तो स्वीकार किया ही जाना चाहिए कि इस प्रकार की संगत कल्पना हमारे पास थी। यह भी उस समय जबकि आज की वैज्ञानिक विद्या का सूत्रपात भी नहीं हुआ था। वैमानिकी विद्या, अस्त्रवेद, विषतन्त्र जैसे विषयों का पौराणिक उपाख्यानों और कथाओं में जिस तरह का सजीव और उपयुक्त वर्णन मिलता है वह कल्पना को पक्षियों के पंख लगाने से होने वाला अनुभव मात्र नहीं है। आखिर इतनी सटीक कल्पना का भी कोई न कोई ठोस और दृश्य आधार रहना ही चाहिए।

विगत चाहे वह किसी भी देश का या विद्या का हो—मृत नहीं हुआ करता। इसलिए उसकी उपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिए। भौतिक क्षेत्र जितना ही समर्थ है, उससे अधिक व्यापक आध्यात्मिक संसार है जिसमें तर्क निरर्थक हो जाता है। विज्ञान के यन्त्र स्थूल है इसलिये वे शक्ति के स्थूल रूप से परिचालित होते हैं किन्तु संसार का व्यापार और व्यवहार विश्वास के सूक्ष्म ईंधन से चलता है। विश्वास की शक्ति का हमें एहसास पूरी तरह से नहीं हो पाता, क्योंकि उसे भी हम स्थूल जगत् में और भौतिक अवयवों में प्रयोग करते हैं। विगत पीढ़ी ने विश्वास को ही विज्ञान का प्रेरक आधार माना था। आधार को आज हम झुंठला सकते हैं किन्तु प्राचीन काल में वह निष्ठा एक वर्ग की जीवनीय ऊर्जा थी।



स्थूल प्रपञ्च

विश्व के पदार्थों को दो श्रेणियों में विभाजन कर लेते हैं स्थावर और जंगम। यह श्रेणी विभाजन स्थूल भी है और सूक्ष्म भी, काल्पनिक भी है, परमार्थ भी। स्थूल इसलिए कि जो भी ठोस पदार्थ स्थावर (स्वतः गतिशील नहीं) माने जाते हैं उनमें सघनकणता और गुरुत्व अपेक्षया अधिक रहता है और काल्पनिक इसलिये कि उन पदार्थों का सूक्ष्मतम अंश 'परमाणु' गतिप्राण है, गति के बीच है, आन्दोलित है। सूक्ष्म इसलिए है कि भारतीय ब्रह्मवाद ब्रह्म को नित्य, स्थाणु और अचल मानता है इसलिए यह श्रेणीविभाजन परमार्थ भी रहता है। भौतिक विज्ञान की दृष्टि से स्थावर कोई पदार्थ नहीं है, प्रत्येक पदार्थ का परमाणु, प्रत्येक परमाणु का नाभिक चंचल है, गतिशील है, रूपान्तरित होता रहता है, इसलिये सारा ब्रह्माण्ड जंगम ही है। मनुष्य के जीवन और आँखों की परिसीमा छोटी है, इसलिए उसे स्थावर पदार्थ नजर आते हैं।

हमारा देह इसी लोक में निर्मित होता है, इसलिये इसका सब कुछ इसी लोक की परिधि का रहता है और यह बाह्य तत्वों से प्रत्यक्ष एवं घनिष्ठ सम्बन्ध भी बनाये रखता है। तत्वों का अनुपात नियत मात्रा में बनाये रखने के लिये हमारा भौतिक शरीर अहर्निश क्रियाशील रहता है। जो शरीर देखा जाता है, छुआ जाता है उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है, क्योंकि उसके आकार निर्माण में पाँचों तत्वों का सहयोग रहता है, इसलिये उसमें पाँच आयाम रहते हैं और वह पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से युक्त भी रहता है और उनके अनुभव की सीमा में भी आता है। यह मानव शरीर ही है, जिसमें सारे तत्वों का अनुपात बिल्कुल सन्तुलित रूप में रहता है, अन्यथा पेड़ वनस्पति वर्ग जैसी जातियाँ हैं, जिनमें आकाश तत्व बिल्कुल सुप्त अवस्था में रहता है तो पितर लोक जैसी व्यवस्थाएँ भी हैं जिनके शरीरों में पृथ्वी और जल अत्यन्त क्षीण अनुपात में, केवल तत्वों की आनुक्रमिक व्यवस्था से जुड़े हुए रहने के कारण आभास मात्र की स्थिति में रहते हैं।

दृश्य वातावरण शक्ति पूर्ण है, इसलिये शक्ति का आवेश भी इसमें होता है और यह शक्ति के प्रकट होने का आधार एवं कारण भी बनता है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो शक्ति पूर्ण न हो और शक्ति के प्रभाव क्षेत्र में न हो, शक्ति का उत्सर्ग एवं संग्रह न कर रही हो। तांत्रिक दृष्टि से इसका विश्लेषण इस तरह होता है कि संसार के क्षेत्र एवं क्रिया

को हम क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल होने की प्रक्रिया मानते हैं। स्थूल होने की अन्तिम अवस्था ही तत्त्वों का स्तर है। तत्त्व स्तर से पहले शक्ति का स्तर है। शक्ति-तत्त्व स्तर से बिल्कुल निकट है इसलिए तत्त्व स्तर पर शक्ति को या शक्ति स्तर पर तत्त्वों को हम प्रकट रूप से देख-जान सकते हैं। यद्यपि आगे के स्तरों पर, माया, महामाया और परामाया के स्तरों पर, प्रकृति शक्ति रूप रहती है जिसे पराशक्ति भी कहा जाता है किन्तु वहाँ उसकी शक्ति का रूप और कार्य भिन्न प्रकार का होता है, इसलिये महामाया और परामाया के रूप में जानता और कहना अधिक युक्त लगता है। पराशक्ति कहने से शक्ति का ही विराट रूप प्रकट होता है, मायामय स्वरूप नहीं, इसलिए आगे के स्तरों पर उसकी शक्ति रूपान्तरित हो जाती है।

यह जितना भी विस्तार है, इसमें जो कुछ भी हो रहा है वह शक्ति की अनवरत क्रीड़ा ही है जिसमें सारे पदार्थ—परमाणु से लेकर पिण्ड तक—ब्रह्म और आन्तरिक रूप से क्रियारत लगते हैं, यह प्रकृति ही है। तांत्रिक दृष्टि से यह शिव और शिवा की स्थावर और जंगम तत्त्व की लीला है। ये शक्तिवादी हैं, प्रकृतिवादी हैं, इसलिये माया को सर्वोपरि मानते हैं। वे कहते हैं “शिव शिवा के बिना शव-स्वरूप है, बिल्कुल निष्क्रिय और जड़। यह शक्ति या शिवा ही है जो शव को शिव स्वरूप बना देती है।”

यद्यपि यह शिवा या प्रकृति शिव या ब्रह्म की ही अवस्था है, पर सम्पूर्णता इसके ही कारण आती है। आशय यह है कि शिवा का कार्य-व्यापार शिव के कारण, शिव के लिये सम्पन्न होता है। यह निश्चित है कि दो तत्त्व, शक्ति की दो स्थितियाँ, सत्य के दो रूप सृष्टि-विस्तार के मूल में रहे हैं। इनमें एक, दूसरे के आयाम का विवर्त है। पर एक के बिना दूसरे की सत्ता नहीं, दूसरे के बिना पहले को चैन नहीं। दोनों के जन्य-जनक भाव है पर वह इतना सूक्ष्म है कि ज्ञान की सीमा में नहीं आ पाता। इसलिये तन्त्र उस पर विचार अन्तिम स्थिति में ही करता है, प्रारम्भ और मध्य में वह युगल भाव को विचारणीय मानता है। तांत्रिक दृष्टि से सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ जो क्रिया कर रहा है वह मिथुन की क्रिया है अर्थात् मैथुन है।

हमारा शरीर भी ऐसे ही मिथुन भाव का परिणाम है और यह मिथुनकर्म में रत है। मूल रूप से अवस्थित दो पदार्थ, दो सत्तायें जब विस्तृत होती हैं तो पच्चीस हो जाती है। अव्यक्त के व्यक्त होने की प्रथम स्थिति महत् माना जाता है अर्थात् वह अव्यक्त अतिसूक्ष्म, अगम्य स्थिति में अवश्य था, पर उसके अभिव्यक्त होने का प्रारम्भ महत् से होता है, अणु से नहीं। कौन कहे महत् की यह दार्शनिक परिकल्पना भौतिक विज्ञान के विशाल पिण्डीय सिद्धान्त * का आधार बनी हो ? दो से प्रारम्भ हुआ सिद्धान्त पाँच के समूह पर चला जाता है। जहाँ दो सूक्ष्म स्थूल के प्रतीक हैं वहाँ पाँच स्थूल के प्रतीक हैं और सृष्टि किंवा प्रकृति स्थूल रूप में हमारी ज्ञेय बनती है। ऋषियों ने पाँच तत्त्वों को

केवल तत्व के रूप में ही नहीं माना, क्योंकि ये तत्व के रूप में निरपेक्ष अथवा स्वतंत्र सत्तामान लिये जाते तो इनमें क्रिया नहीं होती, शक्ति नहीं रहती, इसलिये इनमें तत् और सा (He & she) का भाव नहीं आता पर ऐसा नहीं है। इसीलिये इन्हें प्रकृति से जुड़ा हुआ माना गया, 'तत्त्व' कहा गया। तत्त्वों के पंचक को भी दो पंचकों से और जोड़ा गया अथवा इन पाँच तत्त्वों के अभिव्यक्त होने से पहले गुणात्मकता और ज्ञेय आयामों के लिये पाँच ज्ञानेन्द्रियों, मुख, त्वचा, आंख, जीभ, नाक और गुणात्मकता के लिये शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध की शर्तें और पूरी करनी पड़ी है तब कहीं जाकर इन तत्त्वों का यह व्यक्त स्वरूप स्थिर हो पाया है।

हमारी शरीर इन तत्त्वों से प्रत्यक्ष रूप में जुड़ा हुआ भी है और विशिष्ट अनुपात में ढला हुआ भी। तत्त्वों का शरीर के भीतर क्रिया एवं प्रति-क्रियात्मक रूप एक लम्बा और जटिल प्रकार है ? ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के स्वतंत्र व्यापार (function) के रूप में हम उसे स्पष्ट देख सकते हैं। इस पर क्रमशः हम विचार करें—आकाश तत्व की गुणात्मक स्थिति शब्द है, जिसका आदान कान से होता है और विसर्ग या अभिव्यक्ति कण्ठ से, वायु तत्व का नासा छिद्रों से मुख्य रूप से विसर्ग होता है, और उसका स्पर्श गुणात्मक रूप ज्ञानेन्द्रिय त्वचा से होता है। वैद्युत देह पर हम अन्यत्र विचार करेंगे जिसके आधार पर यह कहा और माना जा सकता है कि तैजस् का संग्रह और विसर्ग समग्र शरीर से होता है पर रूप (गुण) को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय आँख ही है और चुम्बकीय शक्ति का विसर्जन भी इसी के द्वारा होता है। जल तत्व का रस-गुण जीभ के द्वारा ग्रहण किया जाता है और जनेन्द्रिय के द्वारा विसर्ग किया जाता है। पृथ्वी के गन्ध गुण को नाक ग्रहण करती है और गुदा द्वारा उसके स्थूल रूप का उन्मोचन कर दिया जाता है।

गंध पृथ्वी का गुण है और सान्द्रता उसका स्वरूप। जो प्राणी गन्ध का ज्ञान अधिक संवेदनशील होकर या तीव्र रूप में करते हैं, उनमें पृथ्वी तत्व अधिक प्रबल होता है; अथवा जिन वस्तुओं में स्वयं में अत्यन्त तीव्र गन्ध होती है उनमें पृथ्वी प्रखर रूप से विद्यमान रहती है। निश्चय ही इन पदार्थों के सेवन से हमारे शरीर में पृथ्वी तत्व की प्रखरता होगी। लहसुन, प्याज, मछली जैसे पदार्थ पृथ्वी तत्व प्रधान हैं, इनका निरन्तर या अधिक सेवन करने से हमारे शरीर के स्वाभाविक गन्धमय स्वरूप पर प्रभाव पड़ता है। ऐसे ही जिन प्राणियों को बड़ी दूर से दिख जाता है, जैसे गीध पक्षी, या जिनको बहुत मन्द आवाज भी सुनाई दे जाती है जैसे मोर, उनमें सम्बन्धित तत्व प्रमुख रूप से उग्र है, पर तत्त्वों की उग्रता किंवा असन्तुलन अथवा भिन्न अनुपात उनके शरीरों की आकृति व क्षमता को भी नियन्त्रित करता है और एक स्तर पर उनमें समानता भी स्थापित करता है।

* भौतिक विज्ञान मानता है कि सारे विश्व का आदिरूप एक विशाल पिण्ड था जो तड़ककर इन पिण्डों के रूप में छिटर गया।

मनुष्य ही ऐसा है जो मैथुनी सृष्टि में सर्वोत्तम है और जिसकी सन्तुलित अभिव्यक्ति है। इसलिये संसार के रहस्य को और आत्मा की पहेली को वही सुलझा-समझा सकता है। मैथुनी सृष्टि यहाँ विषम लिंगी व्यक्तियों की पारस्परिक क्रिया के लिये प्रयुक्त है। मनुष्य की श्रेष्ठता पर विचार करने और निष्कर्ष निकालने वाले अनेक शास्त्र हैं पर मैथुन की महिमा और आनन्द का वास्तविक अनुभव करने वाला केवल तन्त्र है। वही इन आधारों को आँकता है, वही इनकी क्रिया को संवेदनशील होकर देखता है और वही इसे आत्मदर्शन का माध्यम सिद्ध करता है।

योनि और शिश्न, दो नितान्त भिन्न अंग हैं। रूप से, आकार से क्रिया से और गुणों से भिन्न इन दोनों का संयोजन, संघर्ष कितना सुखकर, कितना हर्षकर और कितना विस्मय कर हैं। शारीरिक और सांसारिक सम्बन्धों के पूर्ण विराम लग जाता है इस संघर्ष साधना से। एक विवर-दूसरा ठोस, एक गर्त-दूसरा दण्ड किन्तु जब दोनों क्रियारत होते हैं तो सारे शरीर में उद्वेलन हो आता है, सारी तंत्रिकायें स्पन्दनरत हो जाती हैं, सारी इन्द्रियाँ केवल मैथुन को सम्पूर्णता प्रदान करने के लिए जागृत हो जाती हैं। एक पृथ्वी की तरह स्थिर दूसरा वायु की तरह चंचल। तंत्र भगवान शंकर को अर्धनारीश्वर कहता है। वे मैथुन की निरन्तर स्थिति के, महा मैथुन के सक्रिय स्वरूप के प्रतीक हैं। स्त्री में पुरुषता और पुरुष में नारीत्व गुणों के रूप में ही नहीं—स्थितियों के रूप में भी विद्यमान है।

नारी आधार है और उसकी यह आधार शक्ति उसके दो विवरों से प्रकट होती है। पहला मुख विवर जो ऊर्ध्व शरीर में है दूसरा 'योनि गह्वर' है जो अधः शरीर में है। दोनों का ज्यामितीय रेखाचित्र पृथिवी तत्त्व के अनुरूप बनता है। इधर पुरुष द्विदण्ड है। एक मेरुदण्ड जो केवल हड्डियों से निर्मित है (अत्यल्प अंश में दूसरी चीजें भी हैं) दूसरा स्नायु दण्ड है। एक स्वाभाविक अवस्था में खड़ा करता है, ऊँचा उठाता है, दूसरा उसे लिटाता है। एक शून्य में यात्रा करता हुआ शिश्न दण्ड व्यक्ति को शून्य में क्रियारत रखता है पर उसका आधार पृथिवी तत्त्व है। पुरुष के एक मुख से उसमें अवस्थित नारीत्व प्रकट होता है और नारी में स्थित मेरुदण्ड से पुरुषत्व प्रकट होता है यहाँ भी दण्ड और विवर सामान्य गुणक है।

तंत्रों में प्रकृति और पुरुष के सम्पर्क का प्रतीक चिह्न युगल त्रिभुज होता है। प्रकृति का अधः शीर्ष और पुरुष का ऊर्ध्व शीर्ष त्रिभुज सर्वमान्य प्रतीक है। तंत्र के गहन प्रतीकार्य को भूल कर यदि हम सामान्य दृष्टि से देखें तो इन त्रिभुजों के तीन बिन्दु दण्ड और विवर के सूचक माने जा सकते हैं। अर्थात् प्रकृति के वा नारी के दो मुख और एक दण्ड और पुरुष के दो दण्ड और एक मुख।

मैथुनी सृष्टि में देह का विज्ञान की दृष्टि से वायु तत्व क्रियाशील होता है। क्रियावान् वायु प्रेरक शक्ति से युक्त होकर तेजस् तत्व को विक्षुब्ध करता है। दोनों की सक्रियता से जल तत्व और पृथिवी तत्त्व भी सक्रिय होते हैं। इस तरह ये सारे तत्व अपनी क्रियाओं को आकाश में उत्सर्जित कर देते हैं। आकाश दुःख स्वरूप है, इसलिये जब आकाश तत्व प्रकट होता है, अर्थात् मैथुनान्त में, तो दुःख व अवसाद की-सी स्थिति प्रकट होती है। शरीर की स्थिति के अनुसार आकाश तत्व की अभिव्यक्ति (दुःखमयता) कभी तीव्र और कभी मन्द रूप में होती है पर होती है अवश्य।

तंत्र मिथुन कर्म को दुःखमयता से हटाकर, अर्थात् पाँच के समूहों से ऊपर उठाकर, उसे केवल दो की सीमा में ले जाता है। दो में दुःख नहीं है, सुख भी नहीं है। दो का भेद ही सुख और दुःख की प्रतीति कराता है। जब दोनों एक रूप में बद्ध हो जाते हैं, तो आनन्द की प्रतीति होती है और आनन्द की विपरीत स्थिति कुछ होती ही नहीं। एकत्व से भिन्न की जितनी भी प्रतीतियाँ हैं वे निरानन्दता की स्थितियाँ हैं। संसार के जितने भी भावात्मक सुख हैं वे आनन्द की वास्तविक प्रतीति नहीं कराते और सच तो यह है कि आनन्द अनुभवातीत स्थिति है अथवा ऐसी स्थिति है जिसमें कोई प्रतीति रहती ही नहीं। यह आकाश की सत्त्वगुण वाली अवस्था है।

यह तंत्र मार्ग की विलक्षणता ही है कि वह गति में स्थिरता का अनुसंधान करता है, मैथुन में महामैथुन का दर्शन करता है। महामैथुन वैष्णवों का सर्व ब्रह्मवाद ही है। मैथुन वायुतत्व का चमत्कार है, जिसमें तेजस् तत्व प्रमुख सहयोगी की भूमिका निभाता है। तांत्रिक मैथुन में वायु को जिस तरह आकाश तत्व की ओर अभिमुख करते हैं, योगी उससे भिन्न रूप में करते हैं। स्मरण रहे तांत्रिक क्रियाओं में एवं अनुष्ठानों में मैथुन अन्तिम और एकाकी क्रिया नहीं होती बल्कि उसके साथ मन्त्र के रूप में आकाश तत्व उपस्थित रहता है जो वायु का नियंत्रण भी करता है और दिशा-निर्देश भी।

तांत्रिक साधना के लिये किया गया मैथुन वायु को ऊर्ध्व अथवा आकाश तत्व की ओर गति करने के लिये प्रेरित करता है जबकि सामान्य अवस्था में किया गया मैथुन नीचे के तत्वों की भूमि पर अवतरित होता है जिसका फल सन्तान प्राप्ति होता है। सामान्य मैथुन में आकाश तत्व एक अनिवार्यता के रूप में ज्ञात होता है इसलिये उसकी दुःखमयता ही प्रकट होती है, तांत्रिक साधन में आकाश भी एक माध्यम के रूप में स्वीकार्य होता है और लक्ष्य उससे कहीं आगे रहता है इसलिये उसकी दुःखात्मकता प्रभावित नहीं कर पाती।

तंत्र मत ने और योग शास्त्र ने अपनी आन्तरिक यात्रा का प्रारम्भ वायु तत्व से किया है जिसमें वह आभास या प्रतीक रूप में रहता है अन्यथा मन्त्रोपासना किंवा आकाश तत्व

से यात्रा का प्रारम्भ होता है। आकाश, तत्वों की शृंखला में प्रतिलोम विधि से अन्तिम रहता है, इसलिये यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि भारतीयों की अध्यात्म साधना का प्रारम्भ बिल्कुल सही और अग्रिम बिन्दु से होता है।

वायु तत्व का अपना क्षेत्र और विस्तार है। इसके सम्पूर्ण क्रिया-कलाप को देखकर हर्षविभोर हो जाने वाले ऋषियों ने इसे अनेक रूपों में देखा है और इसका वर्णन करते समय वे अतिशय भावुक, श्रद्धानत और चमत्कृत हो गये हैं। श्वास के रूप में यह हमारे शरीर को बाह्य संसार से जोड़े रखता है किन्तु हम इसे रोकना जितना अच्छा समझते हैं बाहर निकालना नहीं समझते। इसकी बहिर्मुखी गति हमें संसार से जोड़ती है और अन्तर्मुखी आत्मसाक्षात्कार का साधन बनती है। योग में भी इसका निरोध ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

वायु क्रियाशील है और शरीर में जितनी भी वात वाहिनियाँ हैं, संवेदना का संवाहन करने वाली नाड़ियाँ हैं, वे इसी के कारण क्रियापरायण हैं। स्नायु रूप तंत्रियों को निनादित करने की शक्ति इसी तत्व में है। श्वास के रूप में इसकी चंचलता के कारण ही हमारा चित्त चंचल रहता है, इसका निरोध करने पर चित्त की वृत्तियों का भी निरोध हो जाता है।

मन्त्रोपासना में मानसिक जप सबसे अधिक शक्तिसम्पन्न माना जाता है। प्रारम्भ में मन की सूक्ष्म भाव-भूमि पर उतरने के लिए श्वास को भीतर खींचते समय और कुंभक-श्वास के भीतर रोकने की-स्थिति में किया जाने वाला जप ही मानसिक होता है, इसके बाहर निकलते समय उच्चारित मन्त्र बहिर्मुख रहता है। कालान्तर में जब मन मंत्र पर केन्द्रित होने लगता है, तब व्यक्ति वायुतत्व के स्तर से ऊपर उठ जाता है, उस समय वायु आधार नहीं रहता। वायु की महिमा हम जानते हैं, उसकी स्थूल शक्ति से हम परिचित हैं, इसलिये उसे ही हम माध्यम बनाते हैं।

आज की बहिर्मुखी यात्रा तेजस्तत्व से प्रारम्भ हो रही है। भौतिक विज्ञान का शब्द 'नाभिक' या 'केन्द्रक' इस तथ्य को भारतीय परिप्रेक्ष्य में भी सिद्ध कर देता है कि नाभिक से ऊर्जा और शक्ति की साधना सुगम होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक वस्तु वही से प्रारम्भ होती है जहाँ से होनी चाहिए, हो सकती है। भारतीयों को अन्तर्यात्रा करनी थी, इसलिये वे वायु और आकाश तत्व से चलें और आधुनिक विज्ञान को बाहर की यात्रा करनी थी इसलिये वह तेजस्तत्व से चला।

नाभिक शब्द का अर्थ होता है मध्य, केन्द्र। पाँच तत्वों में तेजस्तत्व बिल्कुल केन्द्र में है, हमारे शरीर में स्थित पाँच प्रकार के वायुओं में समान नामक वायु नाभि प्रदेश में है। शरीर में ताप का केन्द्र भी, जिसे पित्त कहा जाता है, नाभि के गिर्द ही रहता है। ताप या तेजस्तत्व में आते-आते तत्वों का रूप अधिक व्यक्त होने लगता है, इसलिये शक्ति की

अभिव्यक्ति भी प्रकट रूप में होने लगती है। केन्द्रक से नीचे अत्यन्त स्थूल जगत है और ऊपर सूक्ष्म। वायु का आघात सहनकर ध्वनित होने वाले अंग (कंठ और उसका निग्रह करने वाला फैंफड़ा) ऊपर ही है तो शब्द को निश्चितध्वनि तथा विचार को शब्द देने वाला मस्तक (मस्तिष्क) भी ऊपर ही है। ऊपर के अंगों की साधना करने से आत्मिक शक्ति प्राप्त होती है और नाभिकीय तेजस् की उपासना से बाह्य शक्ति प्रकट होती है।

शक्ति की खोज में भटक रहा वैज्ञानिक अपने में छुपी शक्ति से परिचित अवश्य है किन्तु वह उनके भौतिक पक्ष में ही अभिरुचि रख रहा है, इस विद्युत् को प्राणिज चेतना का जो संयोग मिल रहा है, उसका परीक्षण करने के लिये तैयार नहीं है।

भारत ने शक्ति और शक्तिमय के स्वभाव को जानने की अथक चेष्टा की है। दोनों का समागम कितने सूक्ष्म रूप में और कितने अनिवार्य रूप में हो रहा है इसे पहचानना तंत्र की उपलब्धि कही जाती है। संभोग को केवल ऐन्द्रिय प्रयोग मानना जीव-विज्ञान का विषय हो सकता है किन्तु उससे मिलने वाले आभासिक आनन्द को आत्मानन्द की स्थिति तक ले जाना तंत्र का दर्शन है। तंत्र के अनुसार आनन्द एक प्रकार की धारा का प्रवाह है जो संभोग में दोनों (स्त्री-पुरुषों) पक्षों को एक अवर्णनीय अनुभूति दे जाता है।

यह ऐसी ही स्थिति है जो ठोस मक्खन के पिघलने पर हुआ करती है। हमारे शरीर में छुपा सत्व-शुक्र और रज-संभोग की क्रिया से ऊष्मा प्राप्त करता है और इस ऊष्मा से वह द्रवित होता है, उसकी धारा का प्रवाह होता है। जिन व्यक्तियों में यह तत्व नहीं होता वे संभोग से प्राप्त होने वाली आनन्दधारा से अपरिचित होते हैं। यह इसी तरह प्रवाह का प्रभाव है कि इसके कारण संभोगरत युगल आपस में अत्यन्त क्रूर होकर आक्रमण करते हैं, किन्तु फिर भी इसमें आनन्द की वृद्धि ही होती है। यही से, इसी आक्रामकता से, इसी परस्पर समर्पण से, सृष्टि का प्रारम्भ होता है। वायु का प्रवाह और तेजस् की ऊष्मा इस तात्त्विक प्रपंच के सूत्रधार बनते हैं।

□ □ □

अघृण शब्द संघान

मनुष्य की सामाजिकता एक स्वाभाविक तथ्य है। मनुष्य ने इस गुण का विकास मात्र किया है अथवा यह भी कहा जा सकता है "समाज के विस्तार सामाजिकता को गहरा और विस्तृत आयाम दिया है।" सामाजिकता में दोनों ही तरह की स्थितियों को भोगना पड़ता है—सुख को भी और दुःख को भी, अभिशाप को भी और वरदान जो भी, किन्तु घृणा एक ऐसी मनःस्थिति है जो समाज में दायरे खींचती है और मनुष्य को अस्वाभाविक भी बनाती है। क्रूर उपहास यह है कि विभिन्न धर्म भी आज घृणा पर जी रहे हैं अन्यथा उनका जन्म घृणा से घृणा करने या घृणा पर विजय प्राप्त करने के साधन के रूप में ही हुआ था। जैनियों की अहिंसा और ईसाइयत का प्रेम घृणा को जीतने या निष्क्रिय कर देने के ही प्रकार रहे हैं।

घृणा कितने रूपों में प्रतिफलित होती है और कितनी विकृतियों एवं विसंगतियों को जन्म देती है, इस बात पर विचार न करके सम्प्रति हम उस तथ्य का विश्लेषण करते हैं जिसने ज्ञान की समग्रता को भी अनेक भागों में बाँट दिया है। जिस ज्ञान से सारे मानव समाज का इतिहास बुना गया, जिससे मानव जाति के कल्याण के निमित्त अपना सब कुछ समर्पित कर दिया उसी ज्ञान के क्षीर-सागर को हमने दो भागों में बाँट दिया—मुख्यतः एक पूर्व, एक पश्चिम। पश्चिम के लिये पूर्व पिछड़ा हुआ, अन्धविश्वासी है, पूर्व के लिये पश्चिम अनास्थावादी, भौतिकता का पूजक है। एक के लिये अदृश्य, रहस्यपूर्ण ही विश्वास योग्य है, दूसरे के लिये दृश्य श्रेय ही सत्य है।

ये दोनों दो परस्पर भिन्न वस्तुयें हैं। दोनों में कोई साम्य नहीं है फिर भी दोनों एक दूसरे से जुड़ती हैं, एक बिन्दु ऐसा है जहाँ से दोनों अलग होती हैं, पर यही बिन्दु उनको जोड़ता भी है। घृणा ने हमारी दृष्टि को इतना संकीर्ण और क्रूर बना दिया है कि हम उस योजक बिन्दु को भाजक मानने लग गये। पूर्व की आस्तिकता और रहस्यवाद में 'कुछ' है जो पश्चिम के प्रत्यक्षवाद में भी 'कुछ' है। इन दोनों के 'कुछ' को मिलाकर सब कुछ जाना जा सकता है पर ऐसी वास्तविक जिज्ञासा हो तब न ? घृणा हमारा दामन छोड़े तब न ?

प्रत्यक्षवाद ने परोक्षवाद को अस्पृश्य माना और वर्तमान से इतना जुड़ गया कि इन्द्रियों की सीमा में ही बंध कर रह गया। उसके लिये वही और उतना ही श्रेयस्कर है।

कारणवाद ने भविष्य में उतना उतरता है, न भूत में खो जाता है वह केवल कार्य से कारण तक या कारण से कार्य तक की यात्रा करता है। कारण के प्रश्न चिह्न नहीं लगाता, सूक्ष्म या कार्य कारण से परे के सम्बन्धों में उसकी अभिरुचि नहीं, इसलिये पूर्व का रहस्यवाद अथवा आत्मवाद पश्चिम की उपलब्धियों पर आक्षेप करता है।

प्रत्यक्षवाद ने भौतिक, रासायनिक और जीववैज्ञानिक उन्नति करके अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित कर दिया है। विज्ञान के इस पक्ष की निन्दा करने से कुछ नहीं मिलेगा और न भौतिक विज्ञान के एवज में अध्यात्मवाद की स्थापना का दुराग्रह ही पूर्ण होगा। बल्कि इन दो भिन्न मानों और मूल्यों की संख्याओं के बीच एक रेखा को ढूँढ़ना पड़ेगा जो दोनों को जोड़ती है। यह कार्य सहिष्णुता और उदारता से सम्भव हो सकता है जो दोनों पक्षों में प्रतिष्ठित हो और स्वीकार्य हो।

वास्तव में देखा जाए तो स्थूल और सूक्ष्म, भौतिक और आध्यात्मिक, चेतनाओं में एक अलक्षित सामंजस्य और अज्ञात सूक्ष्म सम्बन्ध अवश्य रहता है। अध्यात्मवाद यदि नहीं होता, व्यक्ति की बुद्धि परोक्ष और रहस्य तक नहीं जाती, जीवन-मरण के प्राकृतिक व्यापार के प्रश्न चिह्न नहीं लगाया जाता तो योग, दर्शन, ज्योतिष, मंत्र, तंत्र आदि विषय इतने विकसित नहीं होते। भौतिकता से अघाकर व्यक्ति अध्यात्म की ओर झुकता है, दृश्य से ऊबकर रहस्य की खोज करता है। दोनों विषय एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों ही मानव समाज के लिये आवश्यक।

अध्यात्मवाद को भौतिक विज्ञान की शब्दावली एवं विधा में अविकल रूप से ढाल देना संभव नहीं तो भौतिक विज्ञान को अध्यात्मक के दायरे में जड़ देना भी असंभव है, विशेषकर आधुनिक विज्ञान के विकास को। अध्यात्म का सबसे बड़ा गुण है या दोष कि वह प्रत्येक कार्य को मानवीय प्रकृति में ढालकर देखता है, विश्व के प्रत्येक व्यापार में मानवी प्रकृति के आचरण को ढूँढ़ता है। मानवीकरण का यह आग्रह उसे काल्पनिक सिद्ध करता है पर उसके दृष्टिकोण और देखने के आयाम ऐसा ही देखने/अनुभव करने के लिये विवश करते हैं। यथार्थवाद की नीरस भूमि पर चेतनवाद की कुमुदिनी खिलती है और भारत का आत्मवाद प्राणवाद के प्रमाण पर पल्लवित होता है।

विज्ञान उन वस्तुओं में सिर खपाना पसन्द नहीं करता जिनका आदि अतीत की गहराइयों में दब गया है। पर एक वर्ग है जो उनमें ही रमना चाहता है। आकाश में घूम रहे अगणित पिण्डों को देखना इसको भी सुहाता है पर यह उनकी पूजा नहीं कर सकता तथा एस्ट्रोलाजी तथा एस्ट्रोनामी, ग्रहों और तारों के आकार, भार, भ्रमण, वृत्त दूरी आदि विषयों तक पहुँच सकती है, शनि की या राहु की अनिष्टकारिता पर विश्वास नहीं कर सकती तथा भारतीय ज्योतिष उनका मानवीकरण करके फलित भी निकाल सकती है, उनको तुष्ट करने के लिये पूजा, जप आदि भी कर सकती है।

विश्व के कार्य एवं संरचना में अन्तर्हित द्वित्व को भौतिक विज्ञान किसी भी दृष्टि से देखे, चेतनवाद उसे प्रकृति और पुरुष के रूप में (स्त्री और पुरुष के दो रूपों में) देखेगा। दर्शन और तंत्र प्रकृति पुरुष के द्वित्व को बड़ी आस्था और गंभीरता से देखता है। आज जो तंत्र के प्रति दिलचस्पी जगी है, वह उसकी अभिव्यक्ति और सरस चिन्तन के कारण ही।

यद्यपि तंत्र संस्कारित विद्या है फिर भी वह अपने क्रान्तिकारी दर्शन के कारण और सन्तुलित पद्धति के कारण समाज को अधिक सहज रूप से स्वीकार्य और ज्ञेय है। तंत्र की दृष्टि से ज्योतिष, आयुर्वेद जैसे विषय ही नहीं, चित्रकला की रंगीन दुनिया भी बिल्कुल स्पष्टार्थ और संकेतवती लगती है।

आज प्राचीन यन्त्रों (मशीन नहीं) को, प्रतीकात्मक चित्रों को, तान्त्रिक आर्ट के रूप में जाना जाता है और पश्चिमी जगत् उन चित्रों की अमूर्तता का अपनी दृष्टि से अर्थ लगाकर उन पर न्योछावर है। उन चित्रों के रंग और रेखायें, आकृतियाँ और प्रतीक पश्चिम को लुभा रहे हैं। भले ही वे लोग उन चित्रों के मूल उत्स तक न जा पायें पर वे गुणग्राही तो हो ही रहे हैं।

यह जाना-माना तथ्य है कि हर नई खोज पुरानी का परिमार्जन किये हुए भी रहती है और उसे अपने में समेटे हुए भी। तंत्र परतरे विधा है, इसलिये पूर्वतर को स्पष्ट अर्थ भी देती है और उसका सही एवं सरल समीकरण भी बिठलाती है। यह भिन्न बात है कि उसकी मान्यतायें किसी सीमा तक ही स्वतंत्र हैं। माना, तन्त्र प्रकृति किंवा शक्ति को इतना विराट् मानता है कि सारा वैष्णव अथवा ब्रह्मवादी दर्शन उसके गर्भ में समाया हुआ लगता है फिर भी तांत्रिक चिन्तन एवं दर्शन को किसी भी दृष्टि से अपूर्ण या दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह अपनी स्वतंत्र मीमांसा के साथ इतर दर्शनों का संयोजन भी करता चलता है।

तन्त्र की दृष्टि नीरस नहीं है—आह्लादकारी है, उसमें निषेध नहीं है—स्वीकार है। वह इतनी विशाल और विशद है कि ज्ञान के सभी विषय उसमें अंकुरित होने लगते हैं। गणित/रेखागणित, कला, भाषा आदि सभी विषय तन्त्र के रहस्य को जानने के या प्रकृति के मर्म को पहचानने के माध्यम हो सकते हैं।

चित्रों को ही हम लें—रेखाओं को अपना व्यक्तित्व देने या उनके तात्त्विक अर्थ की व्याख्या करने का साहस तन्त्र ही करता है। तन्त्र यह मानता है कि मूल 'अव्यक्त' बिन्दु रूप में क्षरित होता है अर्थात् ज्यों ही अव्याहत शून्य में कोई संकल्प जन्म लेता है तो वह प्रकृति से युक्त हो जाता है, अन्यथा उस चेतन की सुप्तावस्था कल्पनातीत रहा करती है। प्रकृति में विक्षोभ होते ही विस्तार का क्रम चल पड़ता है, जिसका आशय यह हुआ कि

बिन्दु का रूपान्तर किंवा विस्तार रेखा का रूप ग्रहण करता है और यह बिन्दु एवं रेखा का विस्तार ही समूची चित्रकला का प्राण है।

व्यक्ति ने चित्र बनाने की प्रेरणा किसी भी परिस्थिति में, किसी भी माध्यम से, ग्रहण की हो, पर वह मनुष्य का स्वयंकृत आविष्कार नहीं है बल्कि प्रकृति का विक्षोभ है जो प्रकट होने को आतुर था। मनुष्य ने उसे ग्रहण किया और संवाहित किया है। रेखा के पीछे इतना बड़ा रहस्य नहीं होता तो उसका वक्तव्य और व्यक्तित्व इतना प्रखर नहीं होता। यह मानी हुई बात है कि माध्यम की शक्ति पर ही आधार की शक्ति निर्भर करती है, इसलिये यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रेखायें प्रतीकात्मता के रूप में कुछ भी बोध करावें, उनका वास्तविक बोध्यव्य प्रकृति है। वे व्यक्ति को सूक्ष्मतम स्थिति तक ले जाने की क्षमता रखती है।

रेखा में आकृतिबोध किन्हीं भी परिस्थितियों में जुड़ा हो पर इसकी मूल और स्वाभाविक प्रकृति व्यक्ति के विकास के स्तरों की कहानी है। वैज्ञानिक आयाम से देखें तो रेखा की यह तरंग-प्रकृति भी-कण प्रकृति से समवेत है अर्थात् रेखा में कणों की सूक्ष्म शृंखला अन्तर्हित है और ये दोनों-बिन्दु और रेखा, कण और तरंग एक दूसरे में इस तरह अनुस्यूत हैं कि इनका अस्तित्व भिन्न होकर भी एक-सा दिखता है।

भक्ति मार्ग में संकीर्तन करते हुए या किसी स्वरूप की लीला को गायन करते हुए हमें जो अनुभूति होती है वह मन के सूक्ष्म भूमि में प्रवेश करने की प्रक्रिया है। कानों में शब्द गूंजते रहते हैं और मन उन शब्दों के उद्भव/अंकुरण की भूमि पर चला जाता है। श्रव्य शब्द ही सूक्ष्म होकर हमारे शरीर में स्थित दिव्यलोकों में मन को ले जाता है और वे लोक क्या हैं ? वे उन शब्दों/अक्षरों की उत्स भूमि है, जहाँ प्रकृति स्पन्दित होकर उन प्रदेशों को उसी तरह दोलित कर देती है जिस तरह मन्द पवन किसी उपवन के पादपों को मृदु स्पर्श से छेड़ जाती है।

इन भूमियों में भी प्रकृति अकेली नहीं रहती। पुरुष अर्थात् चेतन उसके साथ अविच्छिन्न रूप में जुड़ा रहता है इसलिये प्रकृति के मिथुन भाव की वे अधिक स्पष्ट और अधिक मादक स्थितियाँ हैं, जिनके परिचय से, जिनके अनुभव से व्यक्ति की चेतना या ज्ञान तृप्त-सा हो जाता है।

व्यवहार में हम देखते हैं कि समझ में आने योग्य ज्ञेय शब्दावली जब संगीत की लहरियों से युक्त हो जाती है तो हमें बड़े प्रबल रूप से प्रभावित करती है। उस समय या बाद में भी हम यह विचार नहीं कर पाते कि हमें अधिक आनन्दित गीत ने किया या संगीत ने ? वास्तविक बात यह है कि शब्दावली के मिथुन में प्रकृति अधिक चंचल है और संगीत में चेतन का सूक्ष्म स्वरूप अधिक प्रकट है। दोनों का संयोग अद्भुत साम्य उपस्थित कर देता है और हम अनायास सूक्ष्म किंवा दिव्य लोकों में चले जाते हैं।

संगीत में वर्ण नहीं हैं नाद है और नाद वर्ण की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है, इसलिये वह हमें अधिक शीघ्रता से भीतर प्रवेश करा देता है। जब तक हम बुद्धि के क्षेत्र में रहते हैं, तब तक केवल प्रतीक बोध की स्थिति रहा करती है। इस स्तर में तर्क और अनुमान अविद्यमान रहते हैं और हम शब्द के वास्तविक स्वरूप के किनारे पर बैठकर सागर की शोभा देखने तक सीमित रहते हैं। नाद अधिक प्रभावशाली इसीलिये है कि वह व्यक्ति को तुरन्त एक रूप कर लेता है, उसमें तर्क और अनुमान को अवकाश नहीं मिलता।

शब्द से एकरूप होने की स्थिति तो बहुत आगे की है—और यह वही स्थिति है जो आँखों के स्वयं के देख पाने की स्थिति होती है, बिना किसी माध्यम के यहाँ तक शब्द के वे आवरण बहुत कम हो जाते हैं जो शब्द की वास्तविक शक्ति अर्थ को ढँके रहते हैं। नाद की शक्ति स्थूल दृष्टि से कोई विशेष चमत्कार नहीं दिखाती क्योंकि उसमें निहित शक्ति यूरेनियम के अणुओं और आकार की तरह स्थूल अधिक है, पर जब यही नाद हमारे परिज्ञान को बलपूर्वक भीतर खींच ले जाता है तो हमें इसकी शक्ति का आभास होने लगता है। यह क्षेत्र चमत्कृत होने का तो है पर अन्तिम नहीं है। वास्तव में यह शक्ति को सोम्य और सहनीय रूप में पहचान पाने की भूमिका है।

ये सारी क्रियायें अलक्षित रूप में होती रहती हैं। बाहर से हमें केवल इन परिणामों की सूचना सांकेतिक रूप में मिलती रहती है और हमारा कारणवाद इतने पर ही सन्तुष्ट हो जाता है। शब्द की—अति व्यवहार के कारण—अवमूल्यन की स्थिति से हमारा भौतिक शास्त्र गुजर रहा है, इसलिये उसकी सूक्ष्म शक्ति को जानना उसे अभीष्ट नहीं पर शक्ति का यह अन्तः स्फुरण सामाजिक दृष्टि से न सही, वैयक्तिक दृष्टि से अपूर्व आनन्द को भोगने की स्थिति है।

इन आन्तरिक लोकों में जो कुछ घटता है वह नैसर्गिक रूप में। मानवीकरण करने वाले प्रकृति की क्रीड़ा को भी इस रूप में देख लें और वर्णन कर दें कि हम उसे किसी दूसरे लोक की बात समझ लें या केवल वायवीय।

सूक्ष्म स्तर पर भेद मिटते जाते हैं, वासनाएँ क्षीण होती जाती हैं, व्यक्ति निर्मल होता जाता है, क्योंकि ऐसा हुए बिना वह आगे की भूमियों में नहीं जा सकता, यह उसका संस्कार है। पुराणों में दिव्य लोकों की अथवा इस पृथ्वी पिण्ड से उच्चतर लोकों की तथा उनके अधिपतियों की जो परिकल्पना की गई हैं वे प्रकृति की विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं जहाँ वह स्थानगत रूप से विभिन्न नाम रूपों से अधिष्ठित है। प्रकृति की सत्ता को कोई भी पुराण या दर्शन अनदेखा नहीं कर सका इसलिये लक्ष्मी के साथ विष्णु, शंकर के साथ पार्वती और ब्रह्मा के साथ सरस्वती की उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है।

इन लोकों को हम गुणात्मक प्रकृति का क्रीड़ा क्षेत्र मानते हैं। स्वर्ग जैसी भीड़-भाड़ इनमें नहीं रहती, यहाँ प्रकृति अपने प्रतीक पुरुषों—शिव, विष्णु और ब्रह्मा के साथ विराजमान है। वैष्णव दर्शन ने यद्यपि उस निष्क्रिय और चेतन ब्रह्म का वर्णन इन तीन देवताओं में से किसी या सभी को सम्बोधित करते हुए किया है पर ये पृथक् या सम्मिलित रूप से ब्रह्म की उन स्थितियों में नहीं आते। अतः यह प्रकृति का ही विस्तार है।

सूक्ष्म दर्शन का चेतनवाद स्तर-भेद ही करता है प्रकृति में, कोई अन्तर नहीं करता, इसलिये उसका दृष्टिकोण विस्तृत भी है और किसी भी स्तर पर टकराता भी नहीं। निरात्मवादी अतएव भौतिक विज्ञान एकता की इतनी विस्तृत परिभाषा नहीं कर सकता, इसलिये वह बाहर के विस्तार की सीमायें बांधता है। आत्मवाद में एक ही प्रकृति-पुरुष का संयोग संसार के सारे कार्यों व व्यवहार का प्रवर्तक भी है और उत्तरदायी भी, पर भौतिकी में ऐसा नहीं है। वहाँ नर-मादा केवल जीव-धारियों की दुनिया तक है और यह जीव या शस्य विज्ञान का ही क्षेत्र है तो पदार्थ की संरचना उसका अणु, नाभिकीय और शक्ति ये भौतिक विज्ञान की बातें हैं। दोनों इतने भिन्न हैं कि कहीं भी नहीं मिलते, एक दूसरे को जान ही नहीं सकते। जीव विज्ञान के संसार में आने वाले विकारों के लिये रसायन शास्त्र है, उसे भौतिक विज्ञान से कोई सरोकार नहीं।

पूर्व के आत्मदर्शन में ज्ञानों का विभाजन नहीं है। प्रकृति के मूल स्वरूप को प्राप्त करने की चेष्टा करने वाला साधु उसके गुणात्मक रूप को भी जानता है तो तत्वात्मक स्वरूप को भी, इसलिये उसे कहीं भी अटक नहीं है। देह के दोषों को, प्रकृति की पांच भौतिक शक्ति को वह समझता है और उसमें अपनी लक्ष्यपूर्ति कर लिया करता है। प्रस्तुत आधारों पर विश्वास करने वाला व्यक्ति देवताओं को, अत्यन्त शक्तिशाली अस्त्रों को और अद्भुत शक्तियों, निधियों व सिद्धियों को एक प्राकृतिक क्रिया समझता है।

□ □ □

साधना पद्धतियों का दार्शनिक आधार

वर्तमान हमारे लिये है क्योंकि हम उसे देख रहे हैं, छू रहे हैं और जी रहे हैं। सत्य की यह परिभाषा विज्ञान ने स्थापित की है। आत्मज्ञान सत्य के स्वरूप को अधिक व्यापक मानता है। वेदान्त दर्शन इस सारे ऐन्द्रियज्ञान और दृश्यसंसार को असत्य कहता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में सत्य प्रमेय होकर भी शाश्वत होता है। वह कोण ज्ञान नहीं है सम्पूर्ण ज्ञान है। सम्पूर्ण ज्ञान केन्द्रक से प्राप्त होता है, विस्तार से नहीं। केन्द्रक भी वह जो अपरिवर्तनीय और अमर है। निश्चय से ऐसा सत्य इन्द्रिय-प्राप्त ज्ञान का सूक्ष्म और उदात्त स्वरूप है और उसे समझ पाना साधारण बात नहीं, पर असंभव भी नहीं।

सत्य की परिभाषा पर हम तर्क और युक्ति यहाँ नहीं देंगे। हाँ, इस विवेचन का वास्तविक लक्ष्य सत्य को रूपायित करना है, इस तथ्य से अस्वीकार भी नहीं करेंगे। हम जिस परिवेश में रह रहे हैं वह एक दृष्टि से अभूतपूर्व है। विलास और सुख के अनन्त साधन हमारी पीढ़ी ने जुटा दिये हैं और वे सर्वसुलभ हैं। केवल बाहरी उपकरण ही नहीं, विचारों से भी आज का व्यक्ति उन्मुक्त है। सामाजिक या पारम्परिक आग्रह कुछ नहीं रहे, रहे भी हों तो अपनी स्वतंत्रता के आगे व्यक्ति ने उनको उपेक्षित करने की स्थिति और साहस प्राप्त कर लिया है। अपने 'स्व' से उसे कितना प्रेम है और अपने सुख को प्राप्त करने के लिये उसने मर्यादाओं और मान्यताओं को कितने संघर्ष के बाद शिथिल किया है और चैन की सांस ली है। आवश्यकता तक सोचने वाली पुरानी पीढ़ी ने इच्छा के विस्तार को न तलाशा था, न इच्छाओं की पूर्ति के लिये कठोर प्रयत्न ही किया था। आज की पीढ़ी इसके लिये तो साधुवाद की पात्र है कि उसने इच्छा की है और उसकी पूर्ति भी।

आज के मनोराम संसार को देखकर मन ही नहीं करता कि किसी और विषय पर सोंचे। फिर भी वातावरण की यह गहमा गहमी हमें अज्ञात भविष्य में ले जाती है और हम उदास हो जाते हैं। यह उदासी हमें संसार से विमुख नहीं करती, चिन्तित कर देती है और जीवन का एक भाग चिन्ता ही खा जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हर्ष का ही दूसरा भाग विषाद है इसलिये दोनों के अलट-पलट के दायरे में ही हमारा जीवन चलता रहता है। संस्कृत में यह स्थिति उपसर्गों का चमत्कार मानी जाती है जो प्रसाद एवं विषाद शब्दों से व्यक्त की जाती है। वस्तुतः अक्षय आनन्द इन दोनों स्थितियों से भिन्न स्थिति है जो भाव या अभाव से परे एक स्वतंत्र सत्ता है।

सुख साधनों का उपभोग कर रहे हम लोग ही चिन्ता को नहीं जीया करते बल्कि जो वर्ग हमें ये साधन मुहय्या करा रहा है, जिसे हम बड़े मान सम्मान से पूजते हैं वह वैज्ञानिक भी चिन्ता की पकड़ से मुक्त नहीं है। उसकी चिन्ता भी भविष्यकेन्द्रित है। एक आविष्कार के कालान्तर में संभावित दुष्परिणाम जब सामने आते हैं या उनकी सम्भाव्यता पर विचार किया जाता है तो भयभीत वैज्ञानिक सिहर उठता है, पर उसे अपनी क्षमता पर अटूट विश्वास है। इसलिये समाधान का मार्ग ढूँढ़ता है।

जिस गणित को वह सत्य का दीपक मान कर चलता है वही दीपक सूर्य की तरह प्रखर ताप से जब झुलसाने लगता है तो वह उसके सहनीय रूप की साधना करता है। वास्तव में उसे गणित पर विश्वास है पर गणित भी उसके लिये साधन ही है साध्य नहीं। गणित को वह सत्य मानता है पर गणित के भीतर छुपे सत्य को या सत्य के गणित को वह समझ नहीं पा रहा। यह भी अच्छा ही है अन्यथा सत्य का स्वरूप उसके चिन्तन की धारा को ही बदल डाले और ये सारे उपकरण उसे व्यर्थ लगने लगें।

सत्य की वैज्ञानिक परिभाषा को मानने वाले लोग यह स्वीकार नहीं कर पायेंगे कि स्थूल पदार्थ और मशीनें व्यक्ति के चिन्तन और विचारधारा को प्रभावित करते हैं किन्तु यह व्यवहार सिद्ध और अनुभव प्रमाणित बात है कि इन वैज्ञानिक आविष्कारों ने व्यक्ति के जीवन में ही नहीं विचार पद्धति में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है। उसकी कल्पना को बहिर्मुख करके अनावश्यक दुश्चिन्ताओं के भूत को गणित के सत्य से पोत कर खड़ा कर डाला है। वह अपनी ही सृष्टि में उलझ-फँस गया है। हालाँकि भगवान् पर समर्पित होना बुरा नहीं है पर कर्मवादी मानव सारी परिस्थितियों को भगवान् के सहारे छोड़कर निरुपाय भाव से देखता नहीं रह सकता। उसने अपनी क्षमता और कार्यशक्ति पर सन्देह करना नहीं सीखा।

कर्मवाद का विशुद्ध स्वरूप सन्देह रहित है पर उसमें आत्मविश्वास की 'अति' अहंकार की सीमा तक रहती है इसलिये श्रद्धा से प्राप्य स्थिति उससे प्राप्त नहीं हो सकती। आज के विज्ञान का लक्ष्य पूर्व के अध्यात्म से भिन्न नहीं है, क्योंकि सामाजिक स्तर पर दोनों ही समाज का मंगल चाहते हैं दोनों ही समाज को सुखी स्वस्थ देखना चाहते हैं, किन्तु व्यक्ति स्तर पर वे इतने उदार हैं कि समग्र विस्तार को अपने में देखना चाहते हैं। पूर्व के दृष्टि विस्तार ने अध्यात्म को पहचाना और आत्मवाद का चैतन्य उसके जीवन दर्शन को ही एक स्थायी दिशा दे गया।

चैतन्य से प्रेरित जीवन दर्शन सत्य को पाने के लिये लालायित भी रहा और प्रयत्नरत भी। उसने सीधे सत्य तक पहुँचने की कोशिश नहीं की बल्कि क्रमशः यही वह प्रारम्भिक

बिन्दु है जिससे आज के वैज्ञानिक और विगत के ज्ञानवान् दो भिन्न दिशाओं में चल पड़े। यद्यपि इस बात की पूरी संभावना है कि दोनों एक दूसरे से मिलेंगे फिर भी आज के गहराते अन्तर को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक भौतिकवादी है वह पदार्थ के परमाणु तक जाकर भी उसके बहिरंग को ही टटोलता है। उसके लक्ष्य साधन के प्रकार पदार्थ को पदार्थ के रूप में ही मानते हैं। वह चाहे फ्यूजन करता है या फिशन, संयोग करता है या वियोग, उसका लक्ष्य शक्ति को प्रकट करना है और शक्ति के चमत्कार को प्रयोग में लाना है।

पूर्व का ज्ञानी परमाणु को तत्त्व नहीं मानता क्योंकि तत्त्व का अपना रूप/गुण होते हुए भी उसमें स्वतंत्र भाव नहीं है। वह तत्त्व है जिसमें तत् की, 'उस' की उपस्थिति महत्त्वपूर्ण है। यही तत् अपरिभाष्य है और इसी तत् की महिमा से ये तत्त्व क्रियाशील हैं तथा अस्तित्व में है। वैज्ञानिकों द्वारा कल्पित anti element (प्रतितत्त्वज्ञानवानों) के लिये अनुमान का विषय नहीं है। वे उसका स्वभाव, विकास और प्रकट होने का काल जानते हैं और वे यह भी जानते हैं कि जिस समय प्रति तत्त्व सक्रिय होकर विनाश का ताण्डव रचेगा वह समय भी उसके लिये भय, चिन्ता या क्षोभ का नहीं होगा। प्रतितत्त्व की यह लीला विकास के अप्रिय एवं अमंगल पक्ष को नष्ट करने के लिए रची जायगी, संसार के जीर्ण, विकृत और अनुपयोगी को भस्मसात् करके नये निर्माण की भेरी बजेगी। वह प्रतितत्त्व बर्फ की चादर में लिपटा पड़ा है, उसकी समाधि समय पर ही टूटेगी इसलिए प्रतितत्त्व को वे शंकर कहते हैं। शंकर अर्थात् कल्याणकारी।

यह खोज श्रद्धा की देन है, यह विज्ञान चेतनवादी है और यह विश्वास असीम है। पूर्व इस पर अविश्वास नहीं करता, इसे पूजता है।

पूर्व की पुरानी काल्पनिक कथाओं का साहित्यिक महत्त्व सर्वविदित है पर उनके वैज्ञानिक पक्ष को समझने का अवकाश किसी को नहीं है। यह स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं है कि पुरानी कथाओं को आज के विज्ञान की संरचना से एवं सिद्धान्तों से जोड़ना केवल बुद्धि का विलास ही होगा। फिर भी जिन आधारों यह साम्य सिद्ध किया जायेगा उसमें किसी सीमा तक सार्थकता का आधार तो है ही।

इसे हम गुण कहें या दोष कि भारतीय विचारकों ने दर्शन और तकनीक को छोड़कर सभी विषयों में मानवीकरण का सिद्धान्त अपनाया है। यद्यपि आत्मवादी विचारधारा सारे विस्तार को ब्रह्म का अंश अथवा ब्रह्म का स्वरूप समझती है फिर भी प्रत्येक घटना

का मानवीकरण करके उसे कथा का कुतूहल देना, उसके तकनीकी पक्ष को रहस्य में लपेट देना, रहता ही है।

विश्व की ऐसी कौनसी वस्तु है जिसे भारतीयों ने देवता के रूप में नहीं माना और देवता भी बिल्कुल मानवीय आकार और संवेग लिये हुए। हिन्दू धर्म के चौबीस अवतार चतुष्पद से लेकर जलचर तक की जातियों में हुए हैं। यह अवतारवाद विश्व शक्ति को व्यक्ति शक्ति में अवतरित करने का सूत्र है अर्थात् हिन्दुओं का ईश्वर सभी रूपों में है अथवा उसका कोई भी रूप नहीं है। इसीलिये भारत सर्व ब्रह्मवाद का पक्ष लेता है, वह शक्ति को सीमित नहीं करता।

ब्रह्मवाद निषेध भी करता है और स्वीकार भी, भले ही यह दुहरापन विरोधाभास लगे पर ये दोनों मिलकर ही सम्पूर्ण होते हैं। बिजली की ऋणात्मक और घनात्मक धारायें ही बिजली को सम्पूर्णता प्रदान करती हैं। दुविधा से सृष्टि चलती है। दो विपरीत गुणधर्मा सूत्रों से ही निर्माण का क्रम चलता है—बात एक ही है। इस द्वित्व को पूर्व के रहस्यवाद ने बहुत गहराई तक परखा है। और तो और उसने भाषा में भी इस द्वित्व को माना और पहचाना है। संस्कृत के स्वर ब्रह्म के प्रतीक माने जाते हैं तथा व्यंजन प्रकृति के प्रतीक। प्रत्येक व्यंजन स्वर के बिना अपूर्ण है। अक्षरों किंवा वर्णमाला का इस प्रकार का विभाजन भारत की द्वैतबुद्धि का ज्वलन्त प्रमाण है और यह मूल रूप में भी अपने सिद्धान्त की खोज लेता है।

भारतीय ज्ञान एवं ब्रह्मवाद उसके चिन्तन के मूल में रहा है इसलिये दोनों की प्रकृति एवं चरित्र को समझाने का स्थूल माध्यम 'भाषा' भी तद्रूप है। स्वर अपने में स्वतंत्र है पर व्यंजन की पूर्णता स्वर की अपेक्षा रखती है। यही ब्रह्म और प्रकृति का स्वाभाविक भेद है। जहाँ शब्द नहीं रहते अथवा जो स्थिति शब्दों की प्रतीकार्थता में नहीं आ पाती वह मूल और सूक्ष्म स्थिति होती है। व्यंजन प्रकृति का प्रतीक है क्योंकि प्रकृति अभिव्यक्त होती है और व्यंजन व्यक्त करता है पर अभिव्यक्ति के लिये स्वर किया ब्रह्म का चैतन्य चाहिए ही। आश्चर्य यह है कि भारत के इस सिद्धान्त का व्यतिक्रम विश्व की किसी भी भाषा में नहीं होता।

भाषा तक में निहित द्वित्व तन्त्र में मिथुन भाव कहलाता है। तंत्र इसी तथ्य को इस रूप में मानता है कि विश्व प्रकृति में एक क्रिया चल रही है, एक मिथुनभाव विद्यमान है जो महामैथुन के रूप में विचारणीय है। दो विपरीत गुणाधर्मा पदार्थ सम्मिलित रूप से क्रियारत है। प्रत्येक स्तर पर यह मैथुन चल रहा है। विश्व प्रकृति के सहज स्वभाव एवं

नैसर्गिक क्रिया को, जो स्थूल और सूक्ष्म में हो रही है, मानवीय रूप देना हिन्दू दर्शन की विशेषता है।

मानवीकरण अथवा आत्मवाद का यह दर्शन एक तत् को अजर अमर मानता है, इसलिये देह अस्थायी व्यंजना है, देह प्रकृति है क्रिया प्रकृति का धर्म है। चेतन आत्मा को इस क्रिया और देह से कुछ लेना देना नहीं फिर भी वह कर्म से और देह से बंधा-बंधा फिरता है। इस बात को हम ऐसे भी समझ सकते हैं कि प्रत्येक घूर्णांक (excel) में एक भाग, केन्द्र का, शून्य, ऐसा होता है कि घूमता नहीं स्थिर रहता है। परमात्मा भी एक प्रकार का शून्य और निष्क्रिय अस्तित्व है पर वह चेतन है यह उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

मनुष्य केवल भौतिक पिण्ड होता तो उसका निर्माण यन्त्रशाला में हो सकता था क्योंकि मानवदेह में जो भौतिक पदार्थ है वे प्रकृति में भी है, पर वह आत्मा का वास है और आत्मा के कारण प्रकृति उसमें क्रियारत है। प्राणवायु उसे सड़ने नहीं देता, जल उसमें कोई चीज जमने नहीं देता, तेजस् उसे ठण्डा नहीं होने देता और धरती उसे ठोस आकार देकर निश्चित रूप देती है, ढेरी की तरह पुंज नहीं होने देती।

आत्मा के अस्तित्व के कारण ही पुनर्जन्म माना जाता है। प्रकृति के कर्म व्यापार के कारण फल भोग को मानना अनिवार्य हो जाता है और फल के कारण विविध प्रकार के देह होना आवश्यक हो जाता है। हिन्दू दर्शन का यह मानना बहुत अंशों में तर्क संगत एवं सर्वांश में सत्य है कि व्यक्ति के कर्म ही कई प्रकार के देह के रूप में प्रकट होते हैं। मनुष्य का शरीर सन्तुलित है, इसलिये मानव देह से सारे कर्मों का फल-भोग करना संभव नहीं। मानव के जीवन में सन्तुलन बना रहता है। अधिक नहीं तो मानव होने के कारण चिन्तन और संवेदना की श्रेष्ठता ही एक बहुत बड़े सन्तुलन के प्रतीक बन जाते हैं। मानव के बाद पशु-योनि की पीड़ा और परतन्त्रता को किसी दूसरे देह में नहीं भोगा जा सकता। पशुओं की अनेक उपजातियों की सीमित शक्ति के बाद पेड़-पौधों की योनि की वेदना सर्वाधिक कष्टकर होती है। नितांत प्रकृति पर निर्भर रहने वाला यह वर्ग अपनी रक्षा भी नहीं कर सकता, कोई काटने आये तो दूर भी नहीं भगा सकता, अपने दुःख-दर्द को स्वयं ही भोगता हुआ विस्मृत बना रहता है। यही एक कारण है कि भारतीय व्यवहार पेड़-पौधों पर भी दयालुतापूर्ण रहता है। भारत के वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र वसु ने वैज्ञानिक दृष्टि से और परीक्षणों से यह सिद्ध कर दिया था कि पेड़ पौधे भी सुख-दुःख जैसी संवेदना से युक्त है। वसु ने यह आज सिद्ध किया है जबकि भारतीय ऋषियों ने

सहस्राब्दियों पूर्व ही पेड़ों को पूजने की परम्परा डाल कर उनमें चेतनता की प्रतिष्ठा कर दी थी।

पुनर्जन्म अत्यन्त भौतिक क्रम है, क्योंकि मृत्यु के साथ ही एक ऐसा बिन्दु आता है जो शरीर को जड़ बना देता है, उसमें चैतन्य नहीं रहता। यह चेतन ही आत्मा है और आत्मा जब एक आवास को छोड़ कर चला गया तो आखिर क्यों और कहाँ ? वह कौन-सी व्यवस्था है जो इस तरह के व्यवहार को नियन्त्रित करती है ? इन प्रश्नों का उत्तर भौतिक विज्ञान नहीं देता क्योंकि ये प्रश्न उसके लिए अनावश्यक है इसलिये इनके उत्तर बकवास है। फिर भी ये प्रश्न हैं और इनका उत्तर भी होना चाहिए। भारतीय दार्शनिकों ने इन प्रश्नों को तह तक खोजा है और कर्म तथा फल भोग का सिद्धान्त नियत किया है। चेतन है इसलिये जड़ है और जड़ प्रकृति आत्मा के चेतन से क्रियाशील है। चेतन के सिवा जो कुछ भी है वह प्रकृति का राज्य है इसलिये प्रकृति कर्मरत है, फल भोग करती है।



ज्योतिर्मय चेतन

कुछ दिन पहले पश्चिम के कतिपय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिकों का वक्तव्य आया था—“ज्योतिष झूठ है, किसी भी ग्रह की रश्मियों का व्यक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न इस प्रकार के आधार पर कैसी भी भविष्यवाणी की जा सकती है।” वैज्ञानिकों के कथन के पीछे कोई न कोई गंभीर कारण/आधार रहा होगा, पर इसने कई देशों के पीढ़ियों से किये जा रहे अन्वेषण-अनुसंधान को ही व्यर्थ घोषित कर दिया। आज तक जो कुछ भी होता रहा वह तो झूठ था ही पर ऐसे निर्णय ने भविष्य की संभावनाओं के द्वार भी बन्द कर दिये और ऐसा कार्य श्रेयस्कर नहीं होता। अभी विज्ञान सम्पूर्ण ही कहाँ हुआ ? वैज्ञानिक चांद और सूर्य का ही पूरा ज्ञान और अन्वेषण का उपयोग नहीं कर पाये, बृहस्पति, वरुण, शनि, हर्शल आदि ग्रहों की तो बात ही दूर की है।

किसी भी तथ्य को अपने आयाम से देखकर निर्णय लेना व्यावहारिक भले ही हो किन्तु पूर्ण तो किसी भी दृष्टि से नहीं होता। तुलनात्मक दृष्टि के लिए सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों को छोड़कर दोनों पक्षों को उसके वास्तविक आयाम से देखने के बाद तटस्थ और तर्क व आधार संगत बात ही सही निर्णय की मान्यता प्राप्त करती है।

भ्रान्तियाँ हमेशा अल्पजीवी ही हों यह जरूरी नहीं होता, पर अधिक (कल्पनातीत) समय तक किसी भी विषय का प्रचलित रहना यह स्पष्ट करता है कि उसमें कोई न कोई पक्ष अवश्य रहा है जो सत्य था। ज्योतिष का उद्गम भारत रहा हो या मिस्र, पर इसके विकास में अरब, ग्रीस, बेबीलोन सीरिया जैसे अनेक राष्ट्रों का योगदान रहा है फिर यह तो प्रत्यक्ष शास्त्र रहा है। व्यक्ति की या समाज की भविष्य में छुपी घटनाओं की सूचना देना इसकी विशेषता और आकर्षण रहे हैं यदि वह असत्य रहता तो इतने दिन तक विश्वास प्राप्त नहीं करता इसमें आकर्षण नहीं रहता।

निष्पक्ष दृष्टि से पूरे परिप्रेक्ष्य को देखें और समग्र दर्शन का ज्ञान प्राप्त करें तो ज्योतिष वास्तव में प्रकाश की तरह भास्वर और आँख की तरह सत्य दिखाई देगा। इसमें दृश्य और दर्शक दोनों शक्तियाँ हैं। ये दोनों रूप एक दूसरे के अनुपूरक भी हैं और पारस्परिक परिणाम भी। एक के कारण दूसरे की सत्ता है।

भौतिक विज्ञान की दृष्टि से भी इसमें असत्य जैसा कुछ लगता नहीं। उसके सत्य को पहचानने के लिए हमारे शरीर को जानना पड़ेगा। आज यह निर्विवाद रूप से माना जाता है कि व्यक्ति शक्ति के महासागर में तैर रहा है। वह शक्ति का पुंज भी है और संग्राहक भी है तो विसर्जक भी है। उससे शरीर में ऊर्जा के सभी प्रकार हैं और सभी क्रियारत हैं। संलयन और विलयन-फ्यूजन और फिशन-की दोनों क्रियायें उसमें होती रहती हैं। मानव के नन्हें-से शरीर में अगणित कोशिकायें ऊर्जा का उत्पादन और विसर्जन कर रही हैं। मानव का निर्माण स्वयं में संलयन क्रिया का उदाहरण है। यह दूसरी बात है कि यह क्रिया जैविक माध्यमों में होती है और बड़ी सौम्य होती है, तदपि इसके परिणामों को देखें तो हमारा गणित संलयन शक्ति के माप तक पहुँच जाएगा। मतलब यह कि हमारे शरीर के प्रति वर्ग इंच में हजारों वाट वैद्युतिक ऊर्जा उत्पन्न होती रहती है और समूचे शरीर में लाखों वाट ऊर्जा का वैद्युतिक शक्ति उत्पन्न होती रहती है। यह आश्चर्यजनक परिणाम स्त्री के डिंब और पुरुष के शुक्रकीट के संलयन से निर्णीत होता है। यह तथ्य पहले प्रकट किया जा चुका है कि संलयन चेतन प्रतीकों और सजीव माध्यमों में हुआ था, इसलिये परिणाम बड़े विलम्ब से प्राप्त हुए पर जितने भी प्राप्त हुए वे विस्मयजनक और ठोस हैं। सृष्टि की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण रचना संलयन के सिद्धान्त पर ही होती है। विलयन को पुनः रचना का आधार मानते हैं। उससे सृष्टि नहीं, प्रलय होता है और हर प्रलय नई सृष्टि का उपक्रम होता है।

यदि प्रश्न बल की साधना का ही होता तो प्रत्येक ज्ञान वही जाता जहाँ आज का विज्ञान जा रहा है। शक्ति की लालसा शक्ति के केन्द्रक तक ही पहुँच पाती है। पर उससे परे की निष्क्रिय अवस्था को प्राप्त करने वाले शक्ति साधनों एवं बल क्रियाओं पर ही नहीं रुकते, वे उससे आगे जाते हैं। उनकी कारण-जिज्ञासा प्रकृति के भी प्रश्न-चिह्न लगाती है। उस समय यह रहस्य स्वतः खुल जाता है कि ऊर्जा के विविध माध्यम और शक्ति की विभिन्न स्थितियाँ अपने आप में प्रकृति तो अवश्य हैं पर उनमें भी प्रेरणा किसी और से प्राप्त होती है। शक्ति की दिगन्त व्याप्त गति का प्राण कुछ और ही है।

यह 'और' क्या है ? इसका अनुमान न कर पाने के कारण ही विज्ञान बहिर्मुख है। एक को सत्य और एक को असत्य मानने का भ्रम भी इसीलिये है। सत्य के मूल रूप तक पहुँचने के बाद भिन्न और असत्य दिखने वाले तथ्यों का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है इसलिये वह इनको समझ जाता है, विवाद में नहीं पड़ता।

ज्योतिष को असत्य कहने वाले वैज्ञानिकों से हम प्रश्न करें—पृथ्वी या अन्य पिण्डों के गुरुत्वकर्षण केन्द्रक को क्या वे भली भाँति जान चुके हैं ? उसकी स्थिति, प्रकृति और स्वरूप के बारे में वे कोई भी प्रामाणिक निष्कर्ष निकाल सकते हैं क्या ? प्रकृति को इस तरह प्रेरित और नियंत्रित कौन करता है ?

इन प्रश्नों के समाधान में शायद एक लम्बी बहस का सिलसिला चल पड़े, जिसमें प्रत्येक पक्ष अपने ज्ञात आधारों तक पहुँच कर अपने आपको विजेता समझने का भ्रम कर ले, क्योंकि जिस वस्तु का वास्तविक रहस्य जब तक पूरी तरह से समझ में नहीं आता तब तक व्यक्ति अपने ज्ञान को तर्क और युक्तियों से पुष्ट करके सम्पूर्णता का सन्तोष कर लिया करता है। एक बालक को कोई ऐसी वस्तु दे दी जाए, जिसे उसने कभी भी नहीं देखा है और उससे पूछा जाए कि यह क्या है तो वह उस वस्तु के आकार, उपयोग, संरचना आदि आधारों पर ही अपने ज्ञान की सीमा में आने वाला समाधान प्रस्तुत करेगा। उसका उत्तर भी तर्क और युक्तियों से पूर्ण होगा क्योंकि बुद्धि जो व्यक्ति का सहज धर्म है, तर्क और युक्तियों से ही क्रियारत होती है। ज्ञान तर्क एवं कल्पना शून्य नहीं हुआ करता। यह भिन्न बात है कि बालक के तर्क और युक्तियाँ एक सीमित क्षेत्र व ज्ञान से उत्पन्न हैं, इसलिये वे अपूर्ण भी हैं और अशुद्ध भी, फिर भी इस संभावना और तथ्य को अस्वीकार किसी भी तरह नहीं किया जा सकता कि ऐसा बालकपन हर क्षेत्र में है, और रहेगा।

मनुष्य की जिज्ञासा एक युग या व्यक्ति की जिज्ञासा नहीं है, सतत् गतिशील मानव मात्र की जिज्ञासा है। इसलिये उसका गन्तव्य उसे मिल जाए, यह अकल्पित है। पर इसका आशय यह भी नहीं है कि ऐसा कोई गन्तव्य है ही नहीं। है, और उस तक पहुँचे भी है पर वह स्थिति ऐसी है, जो विराट् शून्य की हो सकती है। आकर्षण-शून्यता की स्थिति का अनुभव भौतिक विज्ञान ने कर लिया है पर ऐसा शून्य जिसमें किसी भी प्रकार का बल एवं शक्ति बिल्कुल भी न रहे—वह स्थिति क्या और कैसी होगी—इसका विवरण वैज्ञानिक भाषा में नहीं दिया जा सकता। विज्ञान के जो उपकरण और भाषा के प्रतीक हैं उसी का लेखा-जोखा वे पेश कर रहे हैं, जो व्यक्त हैं, उसी के विविध रूपों एवं परिणामों को आंक रहे हैं। अव्यक्त का ज्ञान हो ही नहीं सकता, शून्य का अनुभव भी शून्य ही होता है।

प्रस्तुत विवेचन का आशय यह नहीं है कि 'और' कोई स्थिति ही नहीं है, बल्कि वास्तविक स्थिति वही है जिसे शब्दों, तर्क और कल्पना के आयामों से नापा नहीं जा सकता और वही चेतन है। प्रत्येक अणु के चतुर्दिक् और केन्द्र में विद्यमान शून्य अपरिभाष्य है और प्रकृति को गतिशील वही करता है, प्रकृति पर नियंत्रण वही रखता है।

हम पृथ्वी को ही उदाहरण के रूप में लें—वह अणुओं का विशाल भण्डार है, कल्पनातीत वाट की शक्ति इसमें क्रियारत है, पदार्थ और शक्ति का पारस्परिक रूपान्तरण इसमें प्रतिक्षण चालू है। इसी पृथ्वी को यदि हम सजीव मान लें तो निश्चय से एक ऐसा अज्ञात और अज्ञेय तत्व मानना पड़ेगा जिसे हम चेतन कहते हैं, जीव कहते हैं, प्राण मानते

हैं। प्राण को स्वीकार करते ही शक्ति के ये सारे लीला विलास जड़ सिद्ध हो जायेंगे। क्योंकि जिस तरह व्यक्ति के देह में से चेतन तत्व निकल जाने पर शक्ति के सारे केन्द्र पड़े रह कर भी क्रियाशून्य हो जाते हैं—क्रिया शून्यता की यह वास्तविक स्थिति नहीं है; क्योंकि मृत शरीर में दूसरे प्रकार की क्रियायें होने लगती हैं—सुविधा के लिये हम इस शब्द का प्रयोग कर लेते हैं।

पृथ्वी का चेतन तत्व एक निश्चित स्थान पर है—यह हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं और उसकी उपस्थिति के कारण ही सक्रिय है। जिस दिन शक्ति अपना व्यापार बन्द कर देगी, चेतन उसका साथ छोड़ देगा। और चेतन स्वतंत्र है, उसके साथ ही प्रकृति की क्रियायें हैं, प्रकृति है।

पृथ्वी के चेतन को ठीक तरह से संवृत करने के लिये ये सारे आवरण जुटाये जा रहे हैं। पृथ्वी के गर्भ में ज्ञात लावा की सतह, पृथ्वी की कठोर सतह और वायुमण्डल का सुरक्षा कवच ये सब उस प्राण को सुरक्षित रखने के ही आवरण हैं।

मनुष्य से—अन्य सजीव प्राणियों को भी हम ले सकते हैं—चेतन का सिद्धान्त यथाविधि प्रमाणित हो जाता है। इस सिद्धान्त का प्रमाणित होना ज्योतिष को भी प्रमाणित कर देता है। हम जानते हैं कि व्यक्ति के अंग, इंद्रियाँ, ज्ञानशक्ति और परिकल्पना ये सब स्वतंत्र संस्थान हैं जो परस्पर सम्बद्ध रह कर देह को सक्रिय बनाये रखते हैं। देह के क्रियाकलापों को चालित एवं नियंत्रित करने वाली शक्ति प्रकृति है पर शक्ति को नियमित करने वाला चेतन है जिसके रहने से देह प्रकाशित है, स्वच्छ और सप्राण है, अन्यथा मृत्यु कोई क्रियाशून्यता का नाम नहीं है। चेतन के देह का परित्याग करने के बाद विश्व प्रकृति या बाह्य प्रकृति अपना काम शुरू कर देती है।

प्राण को सुरक्षित रखने के लिये हमारे देह में अनेक व्यवस्थायें हैं। जीव के रहने की अनेक शर्तें हैं जिन्हें पराधीन देह प्रकृति निभाती है। विविध प्रकार के रक्षा संस्थानों को हम शरीर कहते हैं क्योंकि ये शरीर ही चेतन तत्व को धारण कर पाते हैं। शरीरों का क्रम मन से चलता है। चेतना का पहला संस्पर्श मन वेदान्त की शब्दावली में इसे अन्तःकरण कहा जाता है पर हम अभी उन बारीकियों में नहीं जाते हैं। जिसका सीधा सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों से रहता है। मनोलोक पहला शरीर है, दूसरा शरीर वैद्युतिक है जिसका मनः संसार से कोई सम्बन्ध नहीं। दोनों के कार्य और स्वरूप भिन्न हैं किन्तु दोनों में एक तारतम्य निश्चय से रहता है। तीसरा शरीर भौतिक है जिसके आकार से हम परिचित हैं।

यों हमारा शरीर काफी मजबूत है। इससे अधिक शक्तिशाली वस्तुयें इसको प्रभावित कर देती हैं—यह सापेक्ष बात रही, अन्यथा इसकी संरचना को देखते हुए यह स्वचालित भी है और सुदृढ़ भी। बाहरी तत्वों और विश्व प्रकृति से प्रत्यक्ष रूप से यही जुड़ा हुआ है।

हमें श्वास, पानी और भोजन के रूप में जिन तरल, ठोस व गैसीय पदार्थों की आवश्यकता होती है वह हमारे शरीर की विशिष्ट संरचना के ही कारण है। अन्यथा वैद्युतिक एवं मानसिक शरीर को इन पदार्थों की कोई आवश्यकता नहीं है। यह अवश्य है कि इन शरीरों का पारस्परिक तारतम्य नियत रहता है। योग में एक ऐसी भी स्थिति आती है जिसमें शरीर का भौतिक अंश जड़ हो जाता है। परिणामस्वरूप उसे कुछ लेने की आवश्यकता नहीं रहती, वैद्युतिक एवं मानसिक शरीर ही इसको सम्हाले रहते हैं, विकृत नहीं होने देते।

स्थूल रूप में हमारा शरीर भौतिक आवश्यकताओं के कारण तथा भौतिक तत्वों से निर्मित होने के कारण इनसे बाह्य रूप में जुड़ा रहता है, पर तत्वों का विस्तार इतना ही नहीं है। पृथ्वी और जल को तो हम इसी लोक का मान लेते हैं पर तेजस् तो दूसरे लोकों में भी है। पृथ्वी और जल भी भौतिक विज्ञान की दृष्टि से दूसरे लोकों में भी है पर अणु अवस्था में, यहाँ जैसा स्पष्ट और सन्तुलित वातावरण उन लोकों में नहीं है, इसलिये ऐसे रूप में वे अन्यत्र सुलभ नहीं है। पर है अवश्य, इस बात से किसी को असहमति नहीं है।

भारत या आत्मचेतन को मानने वाले लोग तत्वों की संख्या एवं रूप निर्धारण करने के लिये इलेक्ट्रॉन्स की संख्या को आधार नहीं मानते। वे केवल तत्व मानते हैं जिसमें विज्ञान के अणु को लेकर रसायन शास्त्र तक की प्रक्रियायें आ जाती हैं।

भौतिक शरीर का सूक्ष्म रूप वैद्युतिक शरीर में होता है। यह प्रकाश रश्मियों के माध्यम से लोकान्तरों के सम्पर्क में आता है। किरणों का विभाजन अल्फा, बीटा, गामा, थीटा, एक्स आदि कई स्तरों पर कर लिया गया है फिर भी उनको उस आधार से नहीं जाना समझा गया जिससे वे निर्गत और उत्पन्न होती हैं। प्रकाश रश्मियाँ व्यक्ति में विभिन्न प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करती हैं—इस तथ्य पर वैज्ञानिकों को सहिष्णुतापूर्वक विचार करना है।

मान लिया, सूर्य इतना प्रबल है कि उससे प्रतिक्षण करोड़ों वाट ऊर्जा उत्पन्न व निर्गत होती है। हमारी धरती का वायुमण्डल इतना घना नहीं होता तो जीवन की सुकुमार क्रीड़ा और सृष्टि का विचित्र दृश्य नहीं होता सूर्य का ताप खाक कर देता। सूर्य की रश्मियों में सातों ही रंग विद्यमान हैं तथा इसका ऊर्जा-प्रक्षेपण इतनी तीव्र गति से होता है कि ज्योतिष इसे आकाश परिषद् का सम्राट् मानती है।

इसकी रश्मियों का प्रभाव व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न रूप में नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि ये समान गति एवं शक्ति से आती है। पर ज्योतिष सूर्य रश्मियों का माप नहीं करता—विशेषतः फलित ज्योतिष—बल्कि वह मानव, व्यक्ति विशेष की, शारीरिक

क्षमता का नाप करता है, तदनुसार वह निर्णय करता है कि सूर्य रश्मियों का सम्पर्क अमुक व्यक्ति में क्या दोष व शक्ति उत्पन्न करेगा।

प्रकाश रश्मियों के रंगों को ज्योतिष सात ग्रहों में बाँट देता है और उनको रंगों की प्रमुखता के कारण व्यक्ति के प्रभावों का मूल्यांकन करता है। आज हमारे पास साधन है, हम किसी विशेष रंग की कृत्रिम रोशनी में प्राणी को रख कर प्रभावों और परिणामों का अध्ययन कर सकते हैं। सोडियम लैम्प की पीली रोशनी की किरणें एक व्यक्ति पर क्या प्रभाव डालती है—इसका परीक्षण हमें भौतिक अर्थात् स्थूल परिणामों से परिचित करा सकता है।

ग्रहों से निरन्तर आ रही रश्मियाँ व्यक्ति के भौतिक शरीर से अहर्निश टकरा रही हैं। वे नियत काल तक किसी ग्रह विशेष के विशिष्ट रंग से ही युक्त नहीं रहती, न उनमें व्यक्ति से सम्पर्क करने का निश्चित सामर्थ्य ही है। इसके विपरीत वे एक दूसरे से उलझती-टकराती व्यक्ति से सम्पर्क करती हैं। ज्योतिष का फलित शास्त्र व्यक्ति के प्रभावित होने का माप करता है।

हमारे शरीर में वैद्युतिक शरीर है, उसकी भी वही प्रकृति है जो बाह्य वातावरण में विचरण कर रही विद्युत् की है। अतः ग्रहान्तरों से आ रही रश्मियाँ उसके भौतिक—फिजिकल—शरीर के आवरण को भेद कर वैद्युतिक शरीर के सम्पर्क में आ जाती हैं। ठीक वैसे ही जैसे वातावरण द्वारा सोख लिये जाने के बावजूद रेडियमधर्मी या हानिकारक किरणें अत्यन्त सूक्ष्म रूप में धरती पर आ जाती हैं। ग्रहान्तरों से आ रही किरणों का मानसिक शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस पर हम बाद में विचार करेंगे। अभी हम इसी पर विचार करते हैं कि उनसे भौतिक शरीर पर प्रभाव क्यों पड़ता है। जब ये किरणें हमारे शरीर को भेद कर विद्युत शरीर से सम्पर्क करती हैं तो उसकी स्वाभाविक स्थिति को प्रभावित करती हैं। दो ही स्थितियाँ होती हैं, या तो वह मन्द पड़ता है, या उसके वोल्टेज तेज हो जाते हैं (पर इतने नहीं कि कोई हानि पहुँचाये)। यही ग्रहों की अनुकूल या प्रतिकूल स्थिति कहलाती है। मन्द होने पर शारीरिक अक्षमता उत्पन्न होती है और हमें कई प्रकार के रोग घेर लेते हैं। कई बार रश्मियों का सम्पर्क हमारे स्नायु मण्डल किंवा चर्म को विकृत अवस्था में ला देता है। ग्रहों के प्रभाव का सही व सन्तुलित सिद्धान्त आयुर्वेद से अधिक संगत होता है और उस विधि से ठीक निरूपित भी किया जाता है।

गीता और सप्तशती का दर्शन

प्रकृति आत्मविस्तार करती हुई विकृति पर्यन्त व्याप जाती है। इस विस्तार क्रम में अनिवार्यतः प्रकृति-विकृति का स्तर भी आता है जिसे हम मध्य बिन्दु, क्षितिज अथवा उभयनिष्ठता कहते हैं। स्मरण रहे यह उभयात्मकता केन्द्र नहीं है क्योंकि केन्द्र में प्रेरक और सर्जक क्षमता रहती है। प्रकृति के भी अनेक स्तर रहते हैं जो परा अवस्था में संवरित होते हैं। विकृति तो विविधता का नाम ही है। विकृति मलप्रधान है और प्रकृति मलयुक्त अवस्था, मलांश जैसे-जैसे क्षीण होता जाता है वैसे-वैसे प्रकृति प्रकर्ष प्राप्त करती जाती है। यह मल स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार का होता है। पृथ्वी जिस तरह स्थूल है किन्तु काल सूक्ष्म है तो इनके मल भी उसी तरह स्थूल और सूक्ष्म है। हमारे भोजन में जो स्थूलांश है उसका विकार हमें निद्रा जैसी तापसी वृत्ति देता है। हमारा देहतंत्र उसका चूषण करके शेष को मल के रूप में बाहर फेंक देता है। जो जितना स्थूल आहार करता है उसमें तामसी वृत्तियाँ उतनी ही अधिक होगी—यह प्राकृत सिद्धान्त हम किसी भी अतिभोजी या मितभोजी की प्रकृति का विश्लेषण/परीक्षण करके देख सकते हैं। भोजन के परिपाक व पश्चात् की स्थितियों को देख कर यह अनुमान करना दुर्गम नहीं है कि भोजन का सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप हमारे अन्तःकरण की वृत्त्यात्मक अवस्था को प्रभावित करता है। विकृति की विविध अवस्थायें मल का कारण होती हैं।

तात्त्विक मल के अतिरिक्त काल मल भी होता है जो अलक्षित रूप से हमारे देहों को प्रभावित करता है। देह चूँकि काल परिणामी है, इसलिये दैहिक काल को हम वय कहते हैं और वय उन कालोत्सृष्ट मलों को वहन करने की प्राकृत व्यवस्था से शासित रहता है। शैशव निर्दोष है, उस पर काल मल का प्रभाव नगण्य रूप में पड़ता है, किन्तु भविष्यगर्भी, विकार बीज उसमें पनपते रहते हैं। संवेदना स्रोतों के प्रबल तेजस् के क्रमशः विकसित होने का पूर्वावस्था ही किशोर का कुतूहल कहलाती है। इसके आगम के साथ ही हमारे तन-मन में एक स्वर्णिम कल्पना का मोहक संसार बनने लगता है। तत्त्वज्ञ ऋषियों ने इसे तारुण्य मल कहा है। यथार्थ में यह मल ही है किन्तु मोहाविष्ट मन को यह बहुत लुभाया करता है इसलिये यह भासित नहीं होता है। देह का अणु-अणु स्पन्दित बहुत लुभाया करता है इसलिये हमें कामक्रीड़ा और उनमें विहित सृजन संगीत सुनाई नहीं उल्लसित रहता है इसलिये हमें कामक्रीड़ा और उनमें विहित सृजन संगीत सुनाई नहीं

पड़ता, अन्यथा यह प्रकृति का स्वप्रतिष्ठ प्रयोजन है। गर्भस्थ शिशु की रक्षा कर रही जरायु, उसके गर्भमुक्त होते ही जुगुप्सित मल बन जाती है, ऐसी ही अवस्थापरिणति तारुण्य मल की होती है। जिन लोगों ने अपने साधना बल से काल को देह पर हावी नहीं होने दिया है, वे कालजयी भीष्म होते हैं अथवा चिरायु हनुमान्। किन्तु साधारण लोगों के लिये यह काल मल एक रक्षा कवच बनता है जो उनको स्वस्थ रखता है और दूसरे विकार प्रान्तर में धकेल देता है।

इसके पश्चात् लाठी टेकती, काँपती-खखारती जरा आती है। जरा भी कालमल है जो मानसिक स्तर पर मोह को एकत्रित करती है। काम का आवेश मन्द पड़ जाता है और मोह का अमन्द आन्दोलन प्रारम्भ हो जाता है। हमारे चेतन की यह देह यात्रा बहिर्मुखी होने पर दुःखपरिणामी सुखों के अन्वेषण-संचय का इतिवृत्त बनाती है, सापेक्षता के आवर्त में इस तरह घूमने लगती है कि उसे आत्म का कुछ ज्ञान ही नहीं रहता। आत्मा का शील उसके लिये अपरिचित रहता है इसलिये आनन्द की दिव्यता से साक्षात्कार करने की स्वाभाविक क्षमता वह भूला रहता है। मन के प्राकृत-विकृत अतएव उभयात्मक स्तर की वह विकार प्रवणता से आहत हो कर नितान्त पराधीनता को भोगने लगता है। अधिकांश व्यक्तियों के जीवन का यही निष्कर्ष निकलता है।

कितना विचित्र, कितना प्रचण्ड प्रभाव है इस प्रकृति का कि वह विकृति को मोह से जड़े रहती हैं—उस निष्फल, निष्कलुष सत् को। इस सारे विस्तार के बावजूद एक क्षण ऐसा आता है जब जातिस्मर की तरह आत्मा अपने रूप सामर्थ्य का स्मरण करता है तब प्रकृति का उत्कट आकर्षण उसको खींचता नहीं सेतुबंध पर एकत्र वानरवाहिनी के गौरव की प्रतिष्ठा करने के लिये उत्प्लावक बन पौरुष के हनुमान को प्रकट करता है। यही जीवन का, मानवीय देहस्तर का चरम लक्ष्य है, प्राकृत इष्ट है।

भारतीय दर्शन की जटिलता को कृपाप्रवण मुनियों ने सरस उपाख्यान के रूप में जीवन के इस परमोत्कर्ष अतएव एकस्थ भाव से प्राप्तव्य प्रयोजन को गीता एवं सप्तशती (दुर्गा) के नाम से हमें दिया है, इनका प्रतिदिन पाठ करने का निर्देश देकर उन्होंने हम पर परम अनुग्रह किया है। जगत् के मायावी विस्तार का यथार्थ समझने के लिये इन पठनीय ग्रन्थों से अधिक श्रेयस्कर कोई ग्रन्थ नहीं है।

किन्तु इन ग्रन्थों का तत्त्वार्थ कब समझ में आता है—यह एक विचारणीय विषय है। मेरा अपना विचार है कि शास्त्रों का रहस्य परांबा की कृपा है और वह उस अकाण्डकारुणिक कृपावती की इच्छा है। जब, जिस पर वे कृपालु होती हैं उसी पर उनका अनुग्रह मेघा के रूप में उद्भासित होता है। दूसरा प्रकार है व्यक्ति की अपनी सप्राणता, उद्यमशीलता और विनम्र अनुशीलन। निरन्तर अनुशीलन करने से व्यक्ति में

और कथानायक में वैसा ही सामंजस्य उत्पन्न हो जाता है जैसा नट में और नायक में, अर्थात् इन ग्रन्थों का पाठ करने वाला एक न एक दिन उस समरांगण में चला जाता है जहाँ व्यक्ति सर्वदिक् घिरा रह कर भी एकाकी हो जाता है। यह एकाकीपन वन प्रान्तर में विशुब्ध समाधि-सुरथ को भी विमूढ़ किये रहता है तो कुरुक्षेत्र में विमग्ध अर्जुन को भी।

दोनों की स्थिति अप्राकृत है, वे सम्प्रति को भूल कर अतीत/अनागत की विकृति को जी रहे हैं। समाधि व्यतीत भोगी है और अर्जुन अनागततहत। व्यतीत भोगी होना शूकरी दृष्टि इस अर्थ में है कि हमने जो खाया था उसका परिणामी रूप शूकर को प्रिय है। विगत पर विषाद ग्रस्त होने वाले इसी शूकरी दर्शन को भोगा करते हैं। यदि ये आकृति से भी शूकर ही होते तो उस दर्शन में दुःख अथवा हताशा की कालिमा नहीं रहती किन्तु विडम्बना यह कि ये मननशील मानव है। इसलिये शूकर दर्शन को आत्मसात् नहीं कर सकते। अर्जुन भविष्यत है क्योंकि उसका कार्पण्य भविष्यत् को भी कलुषित किये रहता है।

यद्यपि अतीत और अनागत को सुखद प्रेरक सहकारी के रूप में भी लिया जा सकता है और भोगने की अवस्था दोनों को ही मिल सकती है, फिर भी यहाँ भोग शब्द एक पराधीनता को संकेतित करने के लिये किया गया है क्योंकि भोग अपने आप में एक पराधीनता है। जीना अथवा जीवन में एक स्वातंत्र्य है वह व्यक्ति को अधिकारी बनाता है और अधिकारी को लिये इच्छा स्वाधिकृत विषय है। इसलिये विगत के अवसाद और भविष्यत् के विष से प्रताड़ित होना व्यक्ति की दुर्बलता तो है ही, उसकी विवशता भी है। विलुप्त विगत की हताशा और आशंकादृष्ट भविष्य की दुश्चिन्ता अनर्थकारिणी होती हैं, इससे व्यक्ति हतविर्य होता है, वह संघर्षरत न हो कर पलायनवादी बन जाता है। इसलिये इन दोनों व्यामोहों से ऊपर उठकर आत्मस्वातंत्र्य अतएव आनन्द का आस्वाद प्राप्त करने की चेष्टा ही साधना है, दोनों (गीता और सप्तशती) के पाठ की यह फलश्रुति है। यह फल तभी प्राप्त होता है जब व्यक्ति संघर्षाभिमुखी होता है, अपने पर आश्वस्त और लक्ष्य पर विश्वस्त रहता है। ऐसे व्यक्ति को अतीत की विजय और अधिक आश्वस्त करती हैं, निराशंक भविष्य का रूपांकन उसकी कल्पना को संकल्परूप करता है। अर्जुन के कार्पण्य और कृष्ण के विश्वासस्फीत मन्दस्मित को और समाधि के कदर्य तथा परांबा के अजेय तेजस् को यही संघर्ष परिच्छिन्न करता है, विभक्त करके सुबोध बनाता है।

जीवन को ऊर्जस्वल करने का और सांसारिक प्रताड़नाओं से अकुण्ठ रहने का सरल-सुगम उपाय है इन दो ग्रंथों का पठन। गीता तद्दर्शन कराती है और सप्तशती तत्त्वदर्शन। तद्दर्शन व्यष्टि में समष्टि को प्रतिबिम्बित करता है और सप्तशती समग्र में ऐक्य को सिद्ध करती है। विकृति प्रधान दानव जब प्राकृत देवता को कुण्ठित

करने लगता है तो प्रकृति आत्मनिष्ठ तेजस् को संघनित करती है, तत्त्व के रूप में प्रकीर्ण शक्ति शाकल्य को सकल रूप में स्थापित करती है—यही तत्त्व दर्शन है अर्थात् शक्ति के प्रतीकों को धारण कर रहा देवत्व जब कार्पण्य दोष से पराभूत हो जाता है तो उनका अनेकत्व देवी के एकत्व में प्रकट होता है। स्वाभाविक है विपद की प्रखरता प्रकृति के अन्तः सत्त्व को उद्वेलित करती है और वह अपने अमित तेज से प्रकट होता है।

परांबा की रूपत्रयी में कालिका की रूप भंगी ऐसे ही तत्त्व दर्शन की उपलब्धि है। मलाच्छन्न सत्त्व जब आत्मसृष्ट विकृति से ढँक जाता है तो उसमें क्रान्ति होती है। यही क्रान्ति जब अपने सम्पूर्ण बल से प्रवर्तित होती है तो कालिका की उत्क्रान्ति बन जाती है। इसमें सारे स्थूल और सूक्ष्म मल भस्म होने लगते हैं। कृष्ण के अतिभीषण स्वरूप की रमणीयता को मलागार मन अनुभव नहीं कर पाता, वह उससे लुकता-छिपता आत्म कार्पण्य के खोल में दुबका रहता है।

यह सारा जंजाल व्यक्ति के सामर्थ्य को व्याहृत किये रहता है। सामर्थ्य प्राप्त होने पर व्यक्ति आत्मनि ब्रह्म दर्शन कर लेता है, स्वयं ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्म प्राप्ति अथवा शक्ति के अविकृत रूप को प्राप्त करने में बाधक मन तक का स्तर रहता है और मलों का प्रसार यहीं तक रहता है। ये मल ही विस्मृति, विमोहन और ख्याति कहलाते हैं। ये ही बुद्धि के निर्मल तेजस् को कुहरवत् कुण्ठित करते हैं। भगवान् पतंजलि इसके लिये कहते हैं—“प्रत्ययानुपश्यः” प्रत्यय अर्थात् बुद्धि तत्त्व। निर्मलता बुद्धि का विग्रह है, लक्षण है, उसके राज्य में वितर्क नहीं है, कुण्ठा नहीं है, कार्पण्य नहीं है। जो कुछ है शाश्वत है, अविकारी है, शब्द है इसलिये शक्ति का यथार्थ दर्शन करने की क्षमता केवल बुद्धि में है। यही भूमा है, यही ऋत है, यही अनुपश्या है। मन का हिरण्मयपात्र हटने पर ही सत् का उज्ज्वल स्वरूप दृश्य होगा। इस संघर्ष का अन्त इससे पहले हो नहीं सकता और इस संघर्ष के लिये संसार के कोलाहल से खिन्न होना शर्त है। यह खेद ही गीता और सप्तशती की अवतरणभूमि है और इनका पाठ विषादविमुक्त आनन्द की साधना।



श्रद्धा

साधना में श्रद्धा एक अनिवार्य तत्त्व है। विश्वास का क्षेत्र यद्यपि व्यापक है फिर भी प्रत्येक विश्वासस्थल श्रद्धा का आस्पद नहीं बनता। विश्वास की सघन उच्चता ही श्रद्धा की प्रतीति है। माना, श्रद्धा विश्वास के बिना नहीं रहती पर प्रत्येक विश्वासनीय के लिये श्रद्धा, व्यवहार में संभव नहीं होती। ये दोनों नितान्त भावात्मक स्थितियाँ हैं जो केवल मन का विषय है, तर्क को इसमें अवकाश नहीं रहता। विश्वास के बिना श्रद्धा और श्रद्धा के बिना विश्वास का अस्तित्व निरापद नहीं रहता। यह भी कहा जा सकता है कि महत्तर के प्रति स्थापित विश्वास ही श्रद्धा का रूप ग्रहण कर लेता है।

साधना के लिये श्रद्धा अनिवार्य रहती है। यह एक ऐसी पात्रता है जिसमें सुकुमार-से-सुकुमार अनुभूति भी अविकृत रह सकती है। एक बार श्रद्धा का उदय होने पर अवगुण भी गुण हो जाता है, श्रद्धा के संसार में अशिव, अरूप, अप्रिय जैसी स्थितियाँ होती ही नहीं। व्यवहार में हम जितनी जल्दी श्रद्धा शब्द का प्रयोग कर जाते हैं, उतना ही उसके वास्तविक रूप से अपरिचित बने रहते हैं। वास्तविकता यह है कि एक बार किसी को श्रद्धा करके उसके मर्म, विस्तार और प्रभाव को देख सकें तो हमें इस शब्द का परिप्रेक्ष्य और चरम समझ में आ सकेगा।

हमारे शास्त्रकारों ने श्रद्धा शब्द का प्रयोग आवश्यकता पर ही किया है। श्रद्धालु को ही दिया जाए कहकर हमारी प्राचीन परम्परा ने ज्ञान का आधारपात्र श्रद्धा को ही माना है। शास्त्र ने अनेक साधनाओं के लिये समयबंध करते हुए कहा है—“श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्” इस शर्त के पीछे उनका विशद अनुभव रहा है, वे अच्छी तरह जानते रहे हैं कि श्रद्धा के अभाव में ज्ञान की भास्वरता अक्षुण्ण नहीं रह सकती।

विषमता यह है कि हम सिद्धियों के लिये लालायित रह सकते हैं, पर श्रद्धा को तिलांजलि दे देते हैं। यह सब युग-धर्म है। स्वार्थ और अहंकार की वैशाखी पर चल रहा आज का आदमी श्रद्धा के बलातिरेक से परिचित नहीं है इसीलिए उसके पास केवल कबंध है, विवेक का मूर्धा और श्रद्धा के चरण नहीं है। कल्पना करने पर कितना विचित्र लगता है—एक शीर्षहीन कबंध वैशाखियों पर चलता हुआ—पर श्रद्धा की दृष्टि से देखने पर यही दिखलाई देगा।

मेरे ऐसा कहने के पीछे कोई दुर्भाव या अन्यथावृत्ति नहीं है, न ही ऐसा कह कर मैं अपने आपको स्थापित करना चाहता हूँ प्रत्युत उस कष्टकर अनुभव को कहने का साहस कर रहा हूँ जो श्रद्धाप्रवणता से जुड़ने वाला सम्बन्ध और उस चेतना के प्रति उसकी संवेदनशीलता एवं संग्राहकता आदि सभी आधार/सभी आयाम आते हैं।

मानव, भगवत्ता को प्राप्त कर सकता है या नहीं—इस प्रश्न के उत्तर में प्रथमतः यही कहा जाता है कि नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि मनुष्य के देह और प्रकृति के अनुसार उसके द्वारा निष्पाद्य जो विषय हैं वे भिन्न हैं और भगवत्ता की जो वृत्ति एवं विषय हैं वे भिन्न, यदि दोनों एक होते तो भगवान् को देह धारणा की क्या आवश्यकता थी, उस अनाम अरूप को रूपाकार के आयामों से बंधना अनिवार्य तो नहीं था? हमारी अवतारवादी परम्परा यह स्थापित करती है कि इन दोनों अवस्थाओं के कार्य क्षेत्र भिन्न होने पर भी दोनों में कहीं सघन और अनिवार्य सम्बन्ध है। आशय यह है कि विश्वचेतना को व्यक्ति चेतना और व्यक्ति को विश्वरूप बनने में कोई तात्त्विक अन्तर अथवा अवरोध नहीं है। इसलिये व्यक्ति को भगवान् बनने में कोई असंभाव्यता नहीं है फिर भी इस सीमा को सीमातीत होने में दुर्धर्ष और निरन्तर प्रयत्न करना पड़ता ही है।

विश्व चेतना वा भगवत्ता वा आनन्दमयी सत्ता क्या वास्तव में संभव है ? यह जटिल प्रश्न है। यों, इसके लिये कहा जा सकता है कि जब शब्द है तो उसका गम्य रूप भी है किन्तु शब्द को शब्दमय होकर प्राप्त करना साधनालभ्य है। हम उसके लिये प्रतीक उपस्थापित करते हैं अथवा युक्ति, उक्ति और अनुमान, उपमान जैसे मानक प्रस्तुत कर सकते हैं। किसी वस्तु किंवा स्थिति को सत्यापित करने के लिये से प्रकार पर्याप्त हैं किन्तु चरम समाधान नहीं है, चरम है व्यक्ति का शब्द मय हो जाना, व्यक्ति चेतना का विश्व चेतना बन जाना।

इस दुर्बोध रहस्य को हम हमारे जीवन में घटित होते हुए देख सकते हैं और इन घटनाओं का विश्लेषण हमें आभासिक प्रतीति करा सकता है। हम हमारे वातावरण को देखें/गंभीरता से परखें तो हमारे इतस्ततः बिखरी वस्तुएँ, स्थितियाँ और व्यक्ति तीन प्रकार के दिखेंगे, एक वे जो हमें प्रभावित नहीं करते, दूसरे वे हैं जो हमें प्रतिकूलता अर्थात् विकर्षण से प्रभावित करते हैं और तीसरे हमें प्रियता अथवा अनुकूलता के कारण आकर्षित करते हैं। ये तीन स्थितियाँ भिन्न होकर भी अभिन्न है क्योंकि एक ही मूल से ये तीन बनी है।

मूलतः आज मूल्यहीनता की स्थिति सामने है। निषेध और निराकरणवादी दर्शन हमें रुचता है पर बिडंबना यह है कि निषेध कोई स्थिति नहीं होती। रिक्तता या अभाव एक अन्तराल है वह अपने स्वतंत्र अस्तित्व के अभाव में परापेक्षी किंवा परजीवी दर्शन

है। इस निषेधवाद से हम इस सीमा तक ग्रस्त हो गये हैं कि विकृति को ही प्रकृति मान बैठे हैं। हमारा प्राकृत दर्शन शिवात्मा रहा है, प्रकृति उस शिव को संकल्पनात्मक करके वितान विस्तार के लिये प्रेरित करती है, वही प्रकृति जब अपने मूल केन्द्रक और प्रेरक से अधिक दूर चली जाती है तो विकृति बन जाती है और प्रत्येक विकृति अपने मूल रूप की ओर लौटने के लिये बाध्य है जैसे अन्तरिक्ष में घूम रहे ग्रह जब सूर्य से दूर होने लगते हैं तो सूर्य उनको बलपूर्वक अपनी तरफ खींचता है परिणाम स्वरूप वे उल्टे चलने लगते हैं जिसे ज्योतिष में वक्रा-गति कहा जाता है।

बहुत-बहुत आश्चर्य होता है शिक्षा के विकास को देख कर, कितने नये विद्यालय खुल रहे हैं। महानगर में प्रातःकाल किसी सड़क पर खड़े होने पर बालकों को भीड़ बगल में बस्ता दबाये दौड़ती हुई दिखाई देगी। इतने सारे शिक्षित होने वाले लोग जिस देश में है उस देश में दरिद्रता कैसे रहेगी? वह देश पिछड़ा, भूखा और विपन्न कैसे कहलायेगा? पर दोनों स्थितियाँ साथ-साथ चल रही है। शिक्षा का प्रसार और दरिद्रता का विस्तार परस्पर स्पर्धा के भाव से पनप रहे हैं। कारण क्या है? कारण भी उसी चौराहे पर मिल जाएगा। कभी हड़ताल कर रहे छात्रों का जुलूस, सिनेमा हाउस से मैटिनी शो की खिड़की पर परिचय पत्र दिखाकर कम मूल्य में टिकट लेने वाले छात्रों का दल अथवा अपने अध्यापक का अपमान करके अपनी महत्ता स्थापित करने को उत्सुक छात्र, उपस्थितियों की अनिवार्यता समाप्त कराने के लिये आन्दोलन कर रहा छात्रसंघ इस पहली को सुलझा देता है। जिस पीढ़ी में श्रद्धा नहीं है वह ज्ञान को सहेजेगी किसमें?

यथार्थ दृष्टि से देखा जाए तो आज विद्यार्थी को विद्या फलीभूत नहीं हो रही। पढ़-लिख कर जो किसी पद पर पहुँचे हैं उनकी विद्या को भाग्य ने बल दिया है, अन्यथा अनास्थावादी, श्रद्धाहीन वर्ग ज्ञान का पात्र हो ही नहीं सकता। जो लोग विज्ञान के क्षेत्र में इतिहास के प्रवर्तक रहे हैं, जिनका लेखन युग को दिशादृष्टि देता है, वे लोग विद्या के पात्र होते हैं और वे निश्चय से श्रद्धावान् रहते हैं। और धर्म क्या है? कर्म, ज्ञान और भक्ति (श्रद्धा) तीनों का सामंजस्य ही तो है। कर्म के बिना धर्म पङ्गु है, ज्ञान के बिना अन्धा और श्रद्धा के अभाव में वह हृदयहीन या निर्जीव हैं। सत्त्वगुण अब रज और तमोगुण के प्रभाव से पूर्णतः असंपृक्त होता है तब चित्र की वृत्ति जिस भाव में परिणत होती है, वही श्रद्धा है। इसलिए श्रद्धा के क्षण में उत्पन्न होने वाले ज्ञान और कर्मकलाप विवेकपूर्ण होते हैं। ज्ञान और कर्म को हित की ओर मोड़ने वाली चित्तवृत्ति श्रद्धा ही है। जीव को श्रद्धामय कहा गया है। श्रद्धा ही जीव को अपने स्वरूप—चैतन्य—में परिणति का अवसर देती है। मोह, अज्ञान, अहंकार, राग-द्वेष और अभिनिवेश के मल जब तक चित्त पर छाये हुए हैं, तब तक जीव अपने आपको नहीं पहचानता। श्रद्धा से वह दूसरों के महत्त्वको समझने

तथा उसकी प्रशंसा करने की योग्यता प्राप्त करता है, उसे श्रद्धेय की संगति करने तथा उनके वचनों के अनुसार चलने की इच्छा होती है। वह अपनी कमी को श्रद्धेय की पूर्णता के समक्ष प्रस्तुत कर देता है। श्रद्धेय वा उपास्य श्रद्धा के उद्रेक से निर्मल उसमें प्रतिफलित हो जाता है। इसी को गीता में कहा गया है—“श्रद्धामयोऽयं पुरुषोऽयं यच्छ्रद्धः स एव सः” इस तरह श्रद्धा ही उपासक को उपास्य का तादात्म्य दिखा सकती है।

उपासना के क्षेत्र में उपास्य निर्गुण नहीं रह पाता। अभाव की उपासना नहीं हो सकती। यदि उपास्य अपने को अल्पज्ञ और ससीम तथा उपास्य देव को सर्वज्ञ असीम मानता है तो उसका उपास्य सगुण हो ही जाता है। कोई भी ऐसा मन्त्र नहीं जिसमें निर्गुण का आख्यान हो। जप मन्त्रार्थ की भावना से सफल होता है और मन्त्रार्थ सगुण परक ही होता है। मन्त्रार्थ की भावना के क्षणों उपास्य मन्त्राधिष्ठातृ देवता के दिव्यगुणों का ध्यान और उसकी महिमा के प्रति आदर की उत्पत्ति एक स्वाभाविक वृत्ति है। इसे ही श्रद्धा कहते हैं। इसके बिना कोई अनुष्ठान सफल नहीं होता। मन्त्रार्थ या मन्त्र के देव के प्रति आस्था के अभाव में मन या आत्मा को वह निर्मलता प्राप्त नहीं होती। जिसमें प्रतिफलित होकर मन्त्रार्थ या देव साकार हो सकें। ज्ञान की उपलब्धि में भी श्रद्धा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

“श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् तत्परः संयतेन्द्रियः

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।”

गीता के इस श्लोक की व्याख्या में शङ्कराचार्य जी ने लिखा है—

“श्रद्धावान्—श्रद्धालुर्लभते ज्ञानम्। श्रद्धालुत्वेऽपि भवति कश्चिन्मन्द—प्रस्थानोऽत आह ‘तत्परः’ गुरुपासनादावभियुक्तः लब्धयुपाये श्रद्धावान्। तत्परोऽपि अजितेन्द्रियः स्यादित्यत आह संयतेन्द्रियः, संयतानि विषयेभ्यो निवर्तितानि येस्येन्द्रियाणि संसंयतेन्द्रियः। य एवं भूतः श्रद्धावान् तत्परः संयतेन्द्रियश्च सोऽवश्यं ज्ञानं लभते। प्रणिपातादिस्तु बाह्योऽनैकान्तिकोऽपि भवति मायावित्त्वादिसंभवात् न तु तच्छ्रद्धावत्त्वादौ इति एकान्तो ज्ञानलब्धयुगायः।”

तात्पर्य यह है कि जो शुद्ध श्रद्धा सात्विकी होती है, वही ज्ञान की उपलब्धि का कारण है। सात्विकी श्रद्धा जितेन्द्रियत्व का लक्षण है, वह निश्चल और निष्काम होती है। श्रद्धेय के प्रति श्रद्धा इसलिए नहीं की जाती है कि उनसे हमें कुछ लाभ होगा वह तो महत्त्व के प्रति अपने आप उत्पन्न होती है। इसके विपरीत अश्रद्धा विनाश का कारण मानी गयी है, क्योंकि वह उपासना या ज्ञान के क्षणों में मन को संदिग्ध बनाती है। संशयात्मा के लिए जैसे न कोई लौकिक क्रिया फलवती होती वैसे ही उपासना भी। गीता कहती है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत्प्रेत्य नो इह॥

अश्रद्धा से किया गया हवन, दान, तप, तथा कोई भी कर्म 'असत्' कहलाता है, वह न परलोक का साधक होता है और इस लोक का।

'श्रद्धा' शब्द की व्युत्पत्ति श्रत् पूर्वक धा धातु से अङ् प्रत्यय लगाकर की गयी है। 'श्रत्' शब्द अव्यय माना गया है। इसकी सिद्धि 'डति' प्रत्यय लगने से होती है। श्रिञ् सेवायाम् तथा श्रीञ् पाके दोनों धातुओं से डति लगाकर 'श्रत्' बनाया गया है धा धातु का अर्थ धारण तथा पोषण है। इस तरह सेवनीय का धारण तथा पोषण और फलपरिपाक का धारण और पोषण करने वाला मनस्तत्त्व श्रद्धा है। 'श्रीः' कामबीज है यह शब्द लक्ष्मी और सरस्वती का वाचक है सौख्य और शोभा आदि जितने श्रेष्ठ गुण हैं उनसे सम्पन्न लक्ष्मी तथा श्रेयस् प्रेयस् के मूल स्फोट्यात्मक परावाक् और सारी कलाओं-गीति, चित्र, वाद्यकलाओं-की अधिष्ठात्री वाग्देवी की महिमा और गरिमा को बताने वाले उन्हें धारण तथा पोषण करने वाले एवं फल में परिणत करने वाले भाव को अपने आप में समाहित करनेवाला, श्रद्धा शब्द सभी प्रकार की उपासनाओं का आलम्बन सिद्ध होता है। यह जिस साधक को प्राप्त हो जाती है उसकी सारी क्रियाएँ सिद्ध हों यह स्वाभाविक है।

यह भक्ति का स्थायीभाव है। इसकी सर्वतोमुखी पुष्टि ही भक्ति है। सत्त्वगुण का उद्रेक जैसे श्रद्धेय के वर्णन के द्वारा प्राप्त मधुमती भूमिका में पहुँचे हुए चित्त में होना सम्भव है, वैसा अन्यत्र नहीं। सत्त्वगुण के उद्रेक की उत्कृष्ट स्थिति श्रद्धा है। इसलिए इसमें सत्त्वगुण की दोनों योग्यताएँ—लघुत्व और प्रकाशकत्व का समाहार देखने में आता है। सांख्यकारिका में कहा गया है—सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्। इसकी व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—कार्योद्धमने हेतुर्धर्मो लाघवम्, यतोऽग्नेरुर्ध्वज्वलनं भवति—कार्य के शीघ्र होने में लाघव मुख्य कारण है आग की ज्वाला ऊपर को इसलिए जाती है कि प्रकाश अत्यन्त लघु पदार्थ है। लघुत्व और प्रकाशकत्व दोनों सत्त्व के धर्मों को अपने आप में समाहित करने वाली श्रद्धा उपास्य को शीघ्र प्रकाशित करती है।

कबीर ने इसी लघुत्व को—सत्त्वगुण के प्रकाशनात्मक धर्म से अनुप्राणित कौशल को प्रभु से मिलाने वाला बताया है। उन्होंने कहा है—

लघुता तैं प्रभुता मिलै प्रभुता तैं प्रभु दूरि।

चींटी शक्कर लै चली हाथी के सिर धूरि॥

श्रद्धालु अपने आप में लघुत्व की ओर उपास्थ में महत्त्व को श्रद्धा का आलोक पाकर ही देख पाता है। इसीलिए वह अपने लघुत्व को महत्त्व के मिलाने के लिए

लालायित हो जाता है। इस लघुत्व की अनुभूति में और लघिमा को महिमा से मिलाने के निरन्तर प्रयास में जो अलौकिक आनन्द भक्त को प्राप्त होता है, वह गूँगे के गूड की अवर्णनीय होता है, और श्रद्धा उसका मुख्य आधार होती है।

विदेह और प्रकृतिलय इन दोनों योगियों के अतिरिक्त साधकों के लिए समाधि सिद्धि के उपायों में श्रद्धा का सर्वप्रथम स्थान है। इसका उल्लेख पातञ्जल योग में किया गया है—“श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्” इसकी व्याख्या करते हुए भोजराज ने लिखा है—तत्र श्रद्धा योगविषये चेतसः प्रसादः। वीर्यमुत्साहः। स्मृतिरनुभूतासम्प्रमोषः समाधिकेराग्रता। प्रज्ञा प्रज्ञातप्यविवेकः। ते च श्रद्धादयः क्रमादुपायोपेयभावेन प्रवर्तमानाः सम्प्रज्ञातसमाधेरुपायतां प्रतिपद्यन्ते। तत्र श्रद्धावतो वीर्यं जायते, योगविषय उत्साहवान् भवति। सोत्साहस्य पाश्चात्यासु भूमिषु स्मृतिरुत्पद्यते। तत्स्मरणाच्च चेतः समाधीयते। समाहितश्च भाव्यं सम्यक् विवेकन जानाति। त एते सम्प्रज्ञातस्य समाधेरूपायाः, तस्याभ्यासात् पराच्च वैराग्यात् भवत्यसंप्रज्ञातः।

योग में अविचल रहकर योगी को चित्त की जो निर्मलता प्राप्त होती है, वही श्रद्धा है। श्रद्धावान् का मन ही वीर्य प्राप्त कर सकता है। श्रद्धालु और बलिष्ठ मनवाला योगी ही अनुभूत और प्राप्त अपनी पूर्व भूमिका का यथावत् स्मरण करके उसके योगक्षेम में समर्थ होता है। श्रद्धा वीर्य और स्मृति से ही चित्त समाहित रहता है। समाहित चित्तवाला योगी ही अपने ध्येय को विवेक के द्वारा जानता है, उसका दर्शन कर सकता है। यद्यपि वे सभी श्रद्धावीर्य आदि संप्रज्ञात समाधि के और ऋतम्भरा प्रज्ञा की उपलब्धि के उपाय हैं। परन्तु इन में एक दूसरे की जड़ है। इस तरह योग सूत्र में श्रद्धा को संप्रज्ञात समाधि या सबीज समाधि का मूल कारण यौ बीज बतलाया गया है। ईश्वरप्रणिधानाद्वा जिस ईश्वर प्रणिधान को असंप्रज्ञाति समाधि का अमोघ उपाय बताया गया है उसमें भी प्राणिधान का अर्थ विशिष्ट भक्ति/शरणागति/समर्पणबुद्धि/प्रपत्ति ही है। वह विशिष्ट भक्ति सात्विकी श्रद्धा ही है।

राजमार्तण्ड में भोजदेव ने लिखा है—“इति ईश्वरो वक्ष्यमाणलक्षणः क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः इति तत्र प्रणिधानं भक्तिविशेषः विशिष्टमुपासनम्, सर्वक्रियाणां तत्रार्पणम् विषयसुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन् परमगुरावर्पयति एतादृशं प्रणिधानं समाधेस्तत्फललाभस्य च प्रकृष्ट उपाय इति।”

फलेच्छा के बिना समस्त क्रियाओं का परम गुरु में अर्पण तभी संभव है जब परमगुरु का अस्तित्व सिद्ध हो, उसका अस्तित्व श्रद्धा से ही सिद्ध होता है। यद्यपि योग सूत्र की व्याख्या में ईश्वरसिद्धि अनुमान के द्वारा की गयी है वहाँ कहा गया है—जैसे

अणुत्व की चरमावधि परमाणु की और महत्त्व की परमावधि आकाश की साधिका होती है उसी तरह ज्ञान की चरमावधि से ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है। जैसे एक से दूसरा अणु है, उससे भी अणुतर कोई पदार्थ है, इस तरह अणुत्व की अन्तिम सीमा की कल्पना ने परमाणु को सिद्ध किया है। एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा महान है। इस तरह महत्ता की चरम अवधि आकाश में समाप्त होती है वैसे ही एक से दूसरा दूसरे से तीसरा ज्ञानी है। इस तरह ज्ञान की चरम अवधि भी कोई न कोई होगा। वह जीव तो हो नहीं सकता, क्योंकि कोई जीव सर्वज्ञ होने का दम्भ नहीं कर सकता। इस तरह ज्ञान की चरमावधि ईश्वर की साधिका है। परन्तु अनुमान से सिद्ध ईश्वर भावना अनुभव या प्रणिधान का विषय तब तक नहीं बन सकता जब तक कि वह श्रद्धामय नहीं बन जाय।

अनुमेय परोक्षज्ञानगम्य है वह प्रत्यक्षज्ञान की तरह विश्वसनीय नहीं होता और न वह अनुभवनीय ही होता है। घूम से जिस अग्नि का अनुमान किया गया है, वह वहाँ है ही यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता, उस अनुमित अग्नि का लाभ—शीत निवारण—भी अनुमाता को नहीं मिलता। अनुमान सामान्य का साधक है, विशेष का नहीं।

इसलिए पहले वेद आगम और आत्मवाक्यों के मनन से प्राप्त गुणों का ज्ञान करके श्रद्धापूर्वक उन करुणादि गुणों की मन में स्थापना करके उन गुणों से विलक्षण पुरुष विशेष रूप ईश्वर में प्रणिधान संभव हो सकता है यही कारण है कि श्रद्धा को ऋतभरा प्रज्ञा की प्राप्ति का अमोघ साधन माना गया है। यही श्रद्धा जब परम पुष्ट हो जाती है तो ईश्वर और उसमें कोई भेद नहीं रह जाता है। अतः जैसे सत्य ही ईश्वर कहा जाता है उसी तरह श्रद्धा ही ईश्वर बन जाती है। सात्विकी श्रद्धा में देन-लेन ईर्ष्या-द्वेष का भाव नहीं रहता है, यही पूर्ण चैतन्य बन जाती है। वस्तुतः श्रद्धा ही पुरुष को कैवल्य दिलाती है। ईश्वर या ब्रह्म का साक्षात्कार कराती है।



हवन

संसार पंच तत्त्वों का विस्तार है, और इसमें षट् कर्मों का चक्र चलता रहता है। हमारे जीवन में ये षट्कर्म नैसर्गिक रूप में होते रहते हैं तो अनेक बार इन कर्मों के लिये हमें अत्यन्त उत्सुकता-अनिवार्यता के रूप में—उत्पन्न हो जाती है। इन कर्मों के लिये किये गये मंत्र प्रयोगों में हवन आवश्यक होता है। साधारण रूप में हवन, किये गये मंत्र-जप की संख्या का, 'दसवाँ भाग' किया जाता है। यह जानी मानी बात है कि हवन के माध्यम से हम उस पदार्थ को रासायनिक परिवर्तन करके अतिसूक्ष्म कण प्राप्त करते हैं जो धुआँ के रूप में हमारे श्वसन संस्थान में प्रवेश करते हैं। विशेषता यह कि श्वसन संस्थान प्राण वायु का क्षेत्र है और भोजन के माध्यम से दिये गये पदार्थ की अपेक्षा प्राणवायु को दिया गया पदार्थ अधिक सुगमता से और प्रभावपूर्ण तरीके से काम करता है। इसी पदार्थ के साथ बोले जाने वाले मंत्र 'स्वाहा' शब्द से इसकी शक्ति प्रस्फुटित होती है। शब्द से किन पदार्थों पर क्या प्रभाव पड़ता है—यह अलग से विचारणीय है, क्योंकि संसार में प्राप्त पदार्थ तत्त्वों के समन्वित रूप हैं, तथा इनमें विद्यमान तत्त्व बाहरी तत्त्वों से प्रभावित होते हैं जैसे कुछ लकड़ियाँ जल से शीघ्र प्रभावित होती हैं, कुछ देर से और कम होती हैं, कुछ पदार्थ ज्वलनशील होते हैं, कुछ को अग्नि प्रभावित नहीं कर पाती। इसी तरह से शब्द का जो जड़-चेतन पर प्रभाव पड़ता है उसका वर्गीकृत विवेचन सुलभ न होने से हम यह नहीं बतला सकते कि किन शब्दों का किन स्थावर पदार्थों पर कितना और कैसे प्रभाव पड़ता है। फिर भी अनेक प्रयोगों के विधान में यह वर्णित है कि अमुक औषधि को अमुक मंत्र से अभिमंत्रित करके देने पर वह अपना प्रभाव दिखाती ही है। औषधि को सामने रखकर मंत्र जाप का यही सूक्ष्म प्रभाव है कि वे ध्वनियाँ उस औषधि के वीर्य को बढ़ाती हैं। अस्तु यहाँ कतिपय प्रयोगों में उनकी शक्ति बढ़ाने व कार्य की सम्पूर्णता के निमित्त किये जाने वाले हवन में उपयोगी पदार्थों की सूची दी जा रही है।

वशीकरण के लिये केला, नारियल, लाल फूल, बंधूव, बकरे का अथवा गीदड़ का मांस, ब्रह्म वृक्ष के पत्ते और फूल, घी मिले चावल की, राज वशीकरण के लिये आक, खैर, गूलर की लकड़ी के, वैश्व वशीकरण के लिये प्लक्ष की, शूद्र वशीकरण में बड़ की लकड़ी को समिधा के रूप में काम में लेते हैं। पूये का हवन भी राज वशीकरण के निमित्त किया जाता है। पुष्पों में ब्राह्मण के वशीकरण के लिये अपराजिता का, क्षत्रिय वशीकरण

के लिये कल्हार का (कमल का भेद), वैश्य वशीकरणा में कोरंट का और शूद्र वशीकरण में गुलाब के फूलों का हवन किया जाता है। वशीकरण के लिये फूलों के हवन-क्रम में अनार और मातुलिंग का राजवशीकरण में, नारंगी का वैश्य वशीकरण में, कुम्हडा का शूद्र वशीकरण में प्रयोग किया जाता है।

सम्मोहन के निमित्त कनेर, जूही का, वाक्सिद्धि के लिये पलाश, मालती का, बुद्धि विकास के लिये कपूर, अगर, मल्लिका, मालती का, आकर्षण-सम्मोहन के लिये लालचंदन, कचूर, जटामांसी, गौरोचन, अगर, कपूर, कुकुंम, नारीरज नमक का, उच्चाटन के लिये नीम का लकड़ी का शत्रुनाश के लिये कोयल के पंख, बकरे का मांस, नमक, राई, सरसों, नीम के तेल में भीगे नमक का, लक्ष्मी प्राप्ति के निमित्त खीर, गन्ना, शहद, घी, लालकमल, नागरबेल, चावल, कुन्द, पाटल, चम्पक के फूल, बिल्वफल, नारियल, बड़ की लकड़ी का, हवन किया जाता है। ऋद्धि (बढ़ोतरी) के लिये दही और पके भात का, रोग नाश के लिये गुडूची, शहद-दही, दही-युक्त लाजा, अमृताखंड का तथा अपमृत्यु निवारण के लिये दूर्वा, गुडूची और बकुल का हवन किया जाता है।

सौभाग्य प्राप्ति के लिये शहद में डुबोकर बंधूक के फूल का, पुत्रप्राप्ति के लिये घी में डुबोकर बिल्वपत्र का, उपद्रवनाश के लिये लाजा, शहद, तिल, चावल का, सुख प्राप्ति के लिये गन्ने के टुकड़े, चम्पक का, काम भोग प्राप्ति के लिये मल्लिका, कपूर, केशर, कस्तूरी का, आरोग्य के लिये दही का, लोकवशीकरण के लिये पके आम का, दुःखनाश के लिए गूगल का, ईष्ट सिद्धि के लिये घी का, ज्वरनाश के लिये अपामार्ग और तैयार किये अन्न का, पापनाश के लिए तिल का, मनोरथ सिद्धि के लिये दाख का, कर्णिकार का, राज्य प्राप्ति के लिए बिल्व वृक्ष के फूलों का, निरोग रहने के लिए सफेद कनेर के फूलों का, प्रेत पिशाच वशीकरण के लिए करंज का, सर्वार्थ सिद्धि के लिए दूध और मिश्री का गर्भपात के लिए उल्लू के पंखों का, स्तंभन के निमित्त भैंस के मांस का, तथा हल्दी के चूर्ण में नमक मिला कर, तथा विवाह के लिए लाजा का हवन किया जाता है।

सामान्यतया: हवन में तिल, शक्कर और घी का प्रयोग किया जाता है जिसमें घी और शक्कर के लिए कहा गया है कि ये यथेच्छा भरपूर हों।

इन पदार्थों में देखा होगा कि अनेक पदार्थ कई-कई कामों के लिए होम जाते हैं। यह उन वस्तुओं की विशेषता है। जिस प्रयोजन के लिए अनेक पदार्थों का उल्लेख किया गया है उनमें से किसी भी पदार्थ का हवन किया जा सकता है पर तिल, घी और शक्कर को आधार बना लिया जाए तो उत्तम रहेगा, क्योंकि तिल से पापनाश तथा घी और शक्कर से विघ्ननाश और सिद्धि प्राप्त होती है।

गुरुतत्व

इसमें कोई ऊहा वा वितर्क नहीं हो सकता कि संसार की यह अनेकता अन्ततः एक में समाहित होती है क्योंकि यह सारा वितान एक ही का है और स्थूल में विहित एकत्व का अन्वेषण करते-करते हम शक्ति तक पहुँच जाते हैं। शक्ति स्वयं में समर्थ होकर भी जड़ ही है, उसे अनुप्राणित करने के लिए चेतन की सत्ता अपरिहार्य रूप से रहती है और उसे हम मानते हैं। यही माया और ब्रह्म, शिव और शक्ति जैसे नामों से हमारे ध्यान का विषय बनती है।

विस्तार के इस इतिवृत्त में शक्ति एक मूल एवं ऊर्जस्वल आधार भी है और माध्यम भी है, इसलिए मूलरूप में हम उसी शक्ति की क्रियाशील देखते हैं, किन्तु उसके विवर्तों की स्थानिक आग्रहों के कारण भिन्न-भिन्न नाम दे देते हैं। जैसे हमारे देह में अनेक अंग हैं, उनका रूप और रचना स्वतंत्र है इसलिये उनके नाम और कार्य भी भिन्न हैं, पर इन सब को संयोजित रखने वाली शक्ति एक है और वही आवश्यकता के अनुसार इनमें विभिन्न क्रिया के रूप में प्रकट होती है। तात्त्विक दृष्टि से हस्त, पाद, मूर्धा या कबंध जैसे अभिधेय क्रिया की विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति के ही नाम हैं किन्तु यह रहस्य तत्त्व दर्शन जैसा साधना प्राप्य विषय है, सामान्य अवस्था में यह रहस्य उद्घाटित नहीं होता।

हमारे यहाँ वर्णित चौबीस अवतारों का उपाख्यान मूलतः प्रकृति के विकासोन्मुख पदक्षेपों का प्रामाणिक अभिलेख है। इस तथ्य को ऐसे समझा जा सकता है कि जैसे हम एक पूर्ण स्वचालित रेलगाड़ी में बैठे हैं। वह वातानुकूल व्यवस्था से युक्त भी है। वह अपने मार्ग पर चलती हुई किन-किन अवस्थाओं का ग्रहण और त्याग करती रहेगी, उसमें वातावरण एवं परिस्थिति के अनुसार कितनी तरह के परिवर्तन होंगे, उसमें कार्यरत एक ही शक्ति कितने प्रकार के यंत्रों को किस तरह, कितने स्थानों पर सक्रिय करेगी, इस तथ्य की कल्पना हम सहज रूप से कर सकते हैं। यदि ऐसा सरल नहीं है तो हम अपने देह को ही देख लें कि थोड़ा-सा अन्न देने पर इसमें कितनी प्रकार की क्रियायें सम्पन्न होती हैं।

विभिन्न देवताओं के प्रतीक गढ़ने में मूल में कोई भी कारण रहा हो पर यह आवश्यक रूप से रहा है कि प्रकृति के कार्य सम्पादन की विशिष्ट शैलियाँ और घटक ही मंत्र रूप में आख्यात हुए हैं। इसीलिये देवताओं को मंत्र का स्वरूप कहा जाता है और मंत्र का अर्थ है मनन तथा मनन की अन्तिम सार्थकता है। प्रकृति के क्रिया-वैचित्र्य को

सम्यक् समझ लेना। यह समझ वैसी नहीं है जैसे धुँए को देखकर आग की प्रतीति हो जाना, प्रत्युत किसी मर्मज्ञ भिषक् की निदान-चातुरी एवं सिद्ध चिकित्सा जैसी पूर्ण भिज्ञता एवं नियंत्रण क्षमता है।

प्रकृति के इसी क्रिया वैचित्र्य का एक रूप है 'गुरु'। गुरु को परिभाषित करने के लिये शास्त्रों में अनेक मानवी उत्कर्षों और नैतिकता के उच्च मानकों का निर्देश किया है किन्तु वे सारे गुण व्यक्ति को देखकर निर्धारित नहीं किये गये हैं प्रत्युत उन गुणों का अवतार एक व्यक्ति विशेष में हो रहने का संकेत किया गया है। कारण कि व्यक्ति बाद में होता है गुण पहले रहते हैं, उन गुणों की अभिव्यक्ति ही व्यक्ति के वैशिष्ट्य को निरूपित करती है।

पंच गुरुओं को परम्परा गुरु तत्त्व की शाश्वत परिभाषा का भाष्य है इसलिये वे सभी जन जो गुरु की गरिमा को अवतरित कर लेते हैं, वे उसे धारण करके गुरु हो जाते हैं। वस्तुतः गुरु की शालीन सुकोमल फिर भी वैभवपूर्ण उदारता, ज्ञान को प्रकट करने की प्रत्यक्ष क्षमता और विषय की मर्मज्ञता ही उसे शिरसा धारणीय एवं मनसा वन्दनीय बनाती है।

आशय यह है कि वह शक्ति, जो संसार के प्रत्येक अणु-परमाणु को दोलित/परिष्कृत करती है वही, जब हमें संरक्षा और सुनिश्चित दिशा निर्देश करती है तो गुरु कहलाती है। जब गुरु सामान्य आग्रहों से मुक्त हो जाता है तो प्रकृष्ट स्तरों को पार करता हुआ परात्पर कहा जाता है। ज्ञान और विद्या का रहस्य प्राप्त करने के लिए शक्ति के जिस स्वरूप की स्थापना की जाती है वही गुरु-पद वाच्य है इसीलिए तंत्र शास्त्र ने जिन नैसर्गिक गुरुओं की परिगणना की है वे गुरु के कर्तव्य निर्वाह में क्षम भी होते हैं और गुरुवत् हमारे जीवन को ज्ञान समन्वित करते भी हैं।

शास्त्रों ने गुरु की तरह ही शिष्य की मर्यादाएँ भी स्थिर की हैं शिष्य के आचरण और व्यवहार का निदर्शन करते हुए उन्होंने शिष्य का ऐसा चित्र उपस्थित किया है जिसका अपना कोई स्वातंत्र्य है ही नहीं। वास्तव में देखा जाए तो प्रकृति इधर दातुमुत्सुक है वही परपक्ष में ग्रहण करने को आतुर है। शक्ति के इस द्विधा भाव को प्रकट हुए बिना गुरुत्व और शिष्यत्व में एक अन्तराल बना रहता है। गीता में कृष्ण की उक्ति—“वही होता, हविष्य और भोक्ता है”—ऐसे सभी सम्बन्धों पर चरितार्थ होती है। जिस क्षण व्यक्ति में शिष्य का ग्रहीता भाव निष्कलुष भाव से उद्दीप्त रूप से प्रकट हो जाएगा उसी क्षण औढरदानी की अहैतुकी कृपा गुरु का रूप धारण करके प्रकट हो जाएगी। शिष्य की घनीभूत श्रद्धा ही गुरु की आधारस्थली है, आधार के बिना आधेय की अवस्थिति कैसे संभव हो सकती है ?

अनेक बार व्यक्ति अपनी योग्यता के कारण ही किसी प्रिय व्यक्ति को गुरु रूप में प्रकट कर लेता है—जैसे कोई अज्ञातयौवना युवती अपने देह के आकर्षण को नहीं पहचानती पर कोई रसिक उसके माध्यम से अपने में आनन्द निर्झरिणी का प्रवाह करने लगता है, वैसे ही अपवाद रूप में प्रकृष्ट शिष्य अपने अभीष्ट जन में गुरुत्व का आरोप करके उसे गरिमा मंडित कर लेता है। यह सब व्यक्ति के अपने विश्वास बल और श्रद्धा की अमोघ शक्ति का ही फल है।

गुरु पक्ष की तरफ से भी ऐसा हुआ करता है। किसी व्यक्ति में गुप्त एवं सुप्त गुणावली पर मुग्ध हुआ गुरु उसके समस्त संस्कारों और संभावनाओं को जागृत करके उसे इष्ट मार्ग पर ढकेल देता है। गुरु एक सामान्य से गुण पर प्रसन्न होकर उसे इस तरह अपने प्रबल आकर्षण में बांधे रखता है कि व्यक्ति अपनी ज्ञानशून्य अवस्था को भूल कर पराहत—सा उसके इतस्ततः घूमता रहता है। गुरु के गुरुत्वाकर्षण को तोड़कर जाने की न उसे इच्छा होती है, न साहस ही रहता है।

ऐसी कोई भी स्थिति और कारण हो, इतना अवश्य है कि दोनों का मिलन एक प्राकृतिक आवश्यकता है, सुनियोजित क्रम है और दोनों का अभेदभाव एक गुरुतर कार्य करता है। यह दूसरी बात है कि इस गुरुतर का स्तर दोनों की प्राणशक्ति पर निर्भर करता है।

गुरु की महत्ता सार्वदिक और सार्वदेशिक हैं। निगुरे की कोई प्रतिष्ठा नहीं। सहज गुरुओं के अतिरिक्त अन्य गुरु और होते हैं, जिनमें शिक्षा गुरु और दीक्षा गुरु प्रमुख माने जाते हैं। दीक्षा गुरु ऐसा उपक्रम रचना है जिसमें कुछ ऐसा दिया जाता है जो साधक की प्रगति में संभावित अवरोधों को दूर करता है, ये अवरोध व्यक्ति के पूर्व अथवा वर्तमान जन्म के पाप-शाप रहते हैं। इस प्रक्रिया को ही दीक्षा कहा जाता है। युग की विड़म्बना ही समझी जाए कि शिष्य लोभ-पीड़ित है और गुरु लाभहत। साधना के माध्यम से प्राप्त करने योग्य सिद्धियों की एक लम्बी सूची बना कर शिष्य गुरु के पास जाता है और गुरु उससे दक्षिणा वसूलने का हिसाब लगाता है। इस प्रकार के सम्बन्ध मृदु और संवेदनशील न होकर क्रूर स्वार्थ की क्षुरधार वाले हो जाते हैं। परिणामतः प्रथम सम्मिलन से ही दोनों में एक अलगाव प्रारम्भ हो जाता है फिर प्रारम्भ होती है आक्षेपों की परम्परा। एक सज्जन कहने लगे—अमुक व्यक्ति के पास वह विद्या है पर देते नहीं। मैंने कहा—लेने के लिये उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करिये। इस पर वे बोले—मैंने उनसे कह दिया कि यदि आप पैर दबाने से प्रसन्न हों तो मैं पैर दबा दूँ, आपका जूता उठा कर सिर पर रखने से प्रसन्न हों तो वैसा कर लूँ।

इस वक्तव्य पर आश्चर्य चकित हुए बिना नहीं रहा जा सकता; क्योंकि उनके अहंकार ग्रस्त स्वभाव के लिए पैर दबाना बहुत बड़ी पराजय है, उनके क्रूर लोभ को चाहे

जैसा रूप धारणा करना सद्य है पर उसकी पूर्ति होनी चाहिए। इस वक्तव्य के मूल में निःस्वार्थ निःसमय समर्पण नहीं है। उन्हें विद्या चाहिए, गुरु तो उसमें अनपेक्षित माध्यम है ऐसी वृत्ति में गुरु का अवतार कैसे संभव है ? सेवा और समर्पण ही प्रसाद के रूप में परावर्तित होते हैं। इस निगमागम को शिष्य और गुरु का नाम दिया जा सकता है।

विडम्बना यह है कि अधिकांश जन भ्रम में जीया करते हैं। यथार्थ तो यह है कि भ्रम, भय और मोह ही इस संसार की गति-मति के परिचालक हैं। इनका वाहक है अज्ञान। यदि यह अज्ञान नहीं होता तो ये भ्रम निर्जीव बने रहते, मोह के मायाजाल को लोक दूर से पहचान लेता। परिणाम यह होता कि आत्मकामी समाज में यह भाग-दौड़, यह अहमहमिका नहीं होती, सभी लोग शान्त-असंपृक्त भाव से आत्मसाधना करते रहते, तब यह धरती धरती न रहकर दिव्य लोक हो जाती। किन्तु प्रकृति ने अपने लीला व्यापार को प्रसृत करने के लिए इस द्वैत भाव को मानवी रूप देकर ही मृत्युलोक की रचना की है, गर्भ और मरण की यंत्रणा देने के लिये ही इतने सारे देहों का विचित्रतापूर्ण सम्मर्द जुटाया है। इसमें यह वैचित्र्य न होता तो सृष्टि का बहुरंगी रूप नहीं बन पाता। दुःखद स्थिति यह है कि इस सबको समझने के लिए हमारे पास मनीषा नहीं है, पर इस तथ्य से परिचित कराने वाले ऋषियों की एक परम्परा इस देश में रही है, वे हमें स्वभाव सिद्ध अयाचित गुरु के रूप में जन्म सिद्ध अधिकार की तरह प्राप्त है। यह दुर्भाग्य की ही बात है कि इस प्रकार की चिन्तन धारा से अपरिचित बने हम निगुरे की भाँति लक्ष्यहीन जी रहे हैं। यह जीवन, यह भीड़, उदरभरि और एतन्निमित्त यंत्रवत् घूम रहे जीवन की नीरसता हमें कचोटती तक नहीं। यह कचोटने लगे तो हमारे जीवन में एक परिवर्तन आये, किन्तु अन्धानुसरण का भीड़दर्शन हमें अपने चतुर्दिक् बंधन से मुक्त होने की प्रेरणा दे तब न! अधिक से अधिक व्यक्ति अपने मोह को परिष्कृत करके अपने को भीड़ से भिन्न अथवा जन सामान्य से ऊँचा सिद्ध करने के लिये उद्विग्न हैं और स्वेच्छाचारी बनते जा रहे हैं।

हम भारतीयों की गुरुहीन होने की स्थिति तो बनती ही नहीं। व्यास, पराशर, यास्क, पतंजलि, गोरखनाथ जैसे तपस्वी हमारे देश में शब्द-शरीर से तो उपलब्ध है ही, उनके आवाहन-अवतरण करने से हमें कौन वारित करता है ? कितने सम्मान, सन्तोष और गौरव की बात होती यदि हम उनकी श्रेयस्कामिता से परिचित होने का हार्दिक प्रयत्न कर पाते! उन ऋषियों से परिचित होना ही हमारे लिये सम्मानजनक रहता, हमारी बातों और हमारे जीवन में उनके अनुभव-सिद्ध वाक्य उतरते रहते तो हम पवित्र-प्रामाणिक बन सकते थे। उनसे परिचय प्राप्त करना और उनके वचनों का यथार्थ समझना आत्म साधना है, क्योंकि उन वाक्यों के वाचन और अभिधागत अर्थ तक सीमित रहना यथार्थ साधना

नहीं है। अपने आग्रहों और अहंकार से, स्वार्थ और मोह से मुक्त हो कर शिशु की-सी जिज्ञासा और आस्थावान् की अचल श्रद्धा से पूरित हुए बिना ऋषि का तेजस् और तप की दीप्ति प्रकट नहीं हो सकती। देश के गुरु का गौरव धारण करने वाले ऋषियों के ग्रन्थों का अनुशीलन अपने आप में ज्ञानयोग है। वह व्यक्ति को सहज रूप से कल्मषहीन करता है। हमारे लिये यह बड़ी बात नहीं है कि नित्यनाथ, गोरखनाथ अथवा अन्य कृतार्थनामा गुरु हमें जानते हैं प्रत्युत यथार्थ गौरव-गर्व की बात यह है कि हम उनको जानते हैं। शिव अथवा शक्ति अथवा गणपति के उपासक इसीलिये महनीय होते हैं कि वे उनके प्रति समर्पित एवं तन्निष्ठ हैं, वहाँ यह प्रश्न नहीं उठता कि ये देवता उस साधक को जानते हैं।

किसी के विराट् व्यक्तित्व से आतंकित होकर उसे दूर से नमस्कार कर लेना एक बात है, और उसे आत्मनिविष्ट कर लेना दूसरी। हमारे ऋषियों का सत् इतना निश्छल-सरल है कि वह आतंकित नहीं करता। प्रायः सभी गुरुओं की यह साधारणता व्यक्ति के लिये आत्मीय निमंत्रण है। प्रत्येक गुरु का द्वार खुला है किन्तु उसकी कृपा प्राप्त करने के लिये छल-छद्म, स्वार्थ-अहंकार आदि का आवरण उतारकर अकवच जाने की आवश्यकता है। हमारे ऋषि आश्रमों में जाने के लिये यह शर्त थी कि राजा भी अपने छत्र-चमर, अस्त्र-शस्त्र को आश्रम की सीमा से बाहर रख कर ही जाता था। यह परम्परा ऋषि के ब्रह्मण्य तेजस् की गरिमा थी, छत्र-चमरादि के अहंकार का परित्याग किये बिना आर्षशालीनता का दर्शन कैसे हो सकता था ? और अस्त्र आत्मरक्षा के निमित्त भी रखना अमर्यादित था क्योंकि आश्रम में ऋषि समर्थगोप्ता होता था—वह “मा भैः” का अभयदान देता था, उसके प्रभाव क्षेत्र में भय कैसे रह सकता है और भय नहीं तो अस्त्र क्यों ?

ब्राह्मबल से बड़ा बल कोई नहीं होता। क्षत्रिय विश्वामित्र जब वशिष्ठ के आश्रम में गये, वशिष्ठ ने उनकी पूरी वाहिनी का यथेच्छ सत्कार किया। विश्वामित्र ने आरण्यक अतएव साधनहीन वशिष्ठ की इस अभ्यर्थना का रहस्य संधान किया तो पता लगा कि ऋषि के पास एक विशिष्ट शक्ति है, जिसे कामदुधा कहा जाता है। भोले विश्वामित्र ने अपने स्थूल क्षात्र-बल से उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया और पराजित होकर कहना पड़ा धिक् बलं क्षत्रियं-बलं। कोई आश्चर्य नहीं, आज का विज्ञान भी इस बाह्य अतएव भौतिक बल की पराजय पर ऐसा ही कुछ कह बैठे।

वशिष्ठ की शर्म भावना अनावृत द्वार है, पर उसकी कृपामयी भागीरथी यों बल या छल से प्रकट नहीं होगी, उसके लिए ‘स्व’ को समर्पित करना ही पड़ेगा। इस समर्पण के लिए कोई निश्चित मार्ग नहीं है, हम चाहे तो हनुमान् की तरह सेव्य-सेवक की विधि

अपना सकते हैं और चाहे तो अर्जुन का-सा सख्य स्थापित कर सकते हैं, किन्तु इस प्रस्थापना में हमारी एकान्तिक निष्ठा ही हमारी पात्रता बनती है। ऋषि की कृपा का प्रसाद बँट रहा है, कोई भी अपने नाम, कुल, गोत्र का विचार किये बिना ले सकता है। किन्तु उनके सौम्य तेजस् को अथवा उनके रम्य वचनों के गोपित रहस्य को प्राप्त करने के लिए तो अपने आपको स्वच्छ-निर्मल करना पड़ेगा ही। मूर्खता को निःशेष करने वाली—जाड़यापहा—वाग्देवता का आवाहन करने के लिए जड़ता को झाड़-बुहार कर फेंक देना आवश्यक है। जहाँ हमने जड़ता को निकालना शुरू किया वहीं वाग्देवी का अवतार होने लगा। उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि षोडशोपचार जुटेंगे तभी प्रकट होगी। हमारी विवशता ही यह है कि हम अपने चौखट में गुरु को रखना चाहते हैं और उस असंगत आग्रहपूर्ण चौखट में गुरु का विशाल व्यक्तित्व समाये ही—यह संभव नहीं है। गुरु के हिमाचल जैसे शुभ्र-समुन्नत व्यक्तित्व को वस्त्र विक्रेता के नपने से नापना हमारी जड़ता है और इस जड़ता की सीढ़ियाँ स्वर्ग की दिव्यता तक नहीं पहुँच सकती।

हमारा इतिहास गुरु और शिष्य के उपाख्यानो से भरा पड़ा है। कई बार हम उन कथाओं को पढ़ कर सोचने लगते हैं कि गुरु कितना क्रूर होता है, वह एकलव्य का अंगूठा मांगने में संकोच नहीं करता तो उपमन्यु को निराहार रखकर मरने की स्थिति उत्पन्न कर देता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गुरु ने शिष्य को विषमतर स्थितियों में डाला है किन्तु इससे पहले हम समुद्र की क्रूरता पर विचार नहीं करते। समुद्र पर यह आक्षेप नहीं लगाते कि जब उसके पास अमृत था तो उसने पहले हलाहल क्यों दिया? उसे हम प्राकृतक्रम मानकर आगे चल पड़ते हैं। वास्तविकता यह है कि विष और अमृत जब स्थान और काल के प्रभाव से प्रभावित होते हैं, तो उनका मूल स्वरूप प्रकट नहीं होता जैसे स्नान से शरीर हल्का होता है किन्तु ज्वर ग्रस्त के लिये स्नान करना कुपथ्य है—ऐसी सन्दर्भपरक विवशता से मुक्त होने के लिये परिच्छेद आवश्यक है। सत्ता को शुद्ध रूप देने के लिये उसमें अन्तःस्यूत द्वित्व को विच्छिन्न किये बिना शुद्ध अमृत और शुद्ध विष नहीं मिल सकता और इसी शुद्धता के लिये मंथन करना पड़ता है। मंथन में दोनों ही स्थितियाँ आ सकती हैं, दूध जैसे शुद्ध-सात्विक पदार्थ को मथने पर नवनीत मिलता है और सागर जैसे मिश्रित आकार को मथने से पहले कालकूट मिलता है। गुरु की यह क्रूरता भी उस गरल को मथ निकालने को एक कष्टकर विधि है किन्तु इससे तभी साक्षात् होता है जब हम उसकी सम्पूर्ण कृपा को प्राप्त करना चाहते हैं। फिर यह भी आवश्यक नहीं कि प्रत्येक शिष्य की पात्रता को ऐसे परीक्षणों में से गुजरना ही पड़े।

वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो गुरु के रूप में भगवान् की अनुग्रहकारिणी शक्ति ही प्रकट होती है क्योंकि उनकी मूल शक्ति के व्यापार—सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह के रूप में—फलते हैं। विरले जन ही ऐसे होते हैं जिनको किसी भौतिक

देहधर गुरु की आवश्यकता नहीं होती। प्राक् जन्मकृत पुण्यकर्मों के उदय और व्यक्ति की स्वकृत साधना के परिपाक से वह व्यक्ति जन्मतः दीक्षित और गुरुकृपा प्राप्त अतएव पवित्र रहता है। साधना के निगूढ रहस्य और उपासना की गुप्त विधियाँ उसे अनायास प्राप्त होती चलती है। महाजनों के लक्षण उसमें सहज रूप से प्रकट रहते हैं।

इन शुद्ध-प्रबुद्ध जनों का संसर्ग ही हमें मिल सके—यही बहुत है। फिर भी हमें अपना मार्ग स्वयं को चलकर पार करना होता है और संसार के अकल्पित विस्तार में हम इतने विमुग्ध-असमर्थ हुए रहते हैं कि न हमें दिशा-बोध रहता है न गन्तव्य का अनुमान ही। हमारी स्थिति उस पोत की सी रहती है जो अनन्त विस्तृत जलधि में थपेड़े खाता हुआ, हवा की प्रेरणा पर घूमता रहता है। इस विकट परिस्थिति में भगवद् अनुग्रह ही हमें दिशा और लक्ष्याश्रित गति देता है, यही अनुग्रह गुरुपदवाच्य होता है और हमारी कृतार्थता यह कि हम इस विग्रह में भगवती की अतुल शक्ति और अमन्द ऐश्वर्य का दर्शन करें और सम्पूर्ण भाव से समर्पित हो जाए।

शास्त्रों ने गुरु की जो महिमा बताई है उसे समझने के लिए शिष्य की समुज्ज्वल दृष्टि और उदात्तपात्रता आवश्यक है। उन वाक्यों को अधिक स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण दिया जा सकता है कि जसविन्दर एक नारी का नाम है, उसके सम्पूर्ण को समझना और पाना तो अति दुष्कर है किन्तु उसमें निहित विविध स्वरूपों को पहचानना व्यक्ति की अपनी सामर्थ्य होती है। उसका प्रेमी उसके देह के सौन्दर्य को, उसके विभ्रम-विलास को और उसके विचारों में व्यवस्थित गौरा के अनवद्य सौन्दर्य को अनुभव करेगा तो वह उसे तन के माध्यम से, मन में भोगेगा। किन्तु उसी जसविन्दर का जो स्वरूप उसकी सन्तान देखेगी, उसके वात्सल्य स्रोत का आस्वाद करेगी, उसकी अंक में बैठ कर जिस अवाच्य संरक्षा-सुख को भोगेगी वह उस बालिका की स्वयं की दृष्टि है। यही स्थिति गुरु परिचय में होती है। यदि गुरु के बाह्य व्यक्तित्व और परिकर को गुरु का माप माना जाता है तो यह हमारी बाह्य दृष्टि को स्थूल दर्शन है जबकि गुरुत्व अन्तर्हित अवस्था है, उसके लिये दृष्टि का सूक्ष्म होना और संवेदना की सुकोमलता अति आवश्यक हैं। हम और कुछ न कर सकें और केवल इतना ही कर लें कि जिस किसी के प्रति पूर्ण आश्वस्त एवं प्रभावित होकर मन में यह धारणा दृढ़ कर पायें कि अमुक व्यक्ति गुरुपद योग्य है तो पर्याप्त होगा। यही ज्ञानांजन होगा, इसी से हमें गुरु की अगाध आत्मीयता और स्नेह संरक्षण प्राप्त हो जायेगा। उसी सामान्य देह से असामान्य संकेत-निर्देश मिलने लगेंगे।



मन्त्र

मन्त्र के सम्बन्ध में, प्रायः सभी पुस्तकों में, विस्तार से विवेचन किया है। इसके पीछे एकमेव दृष्टि रही कि लोग इस सम्बन्ध में सोचे/विश्वास करें और अपने भौतिक एवं व्यवहारिक जीवन में किसी अभौतिक आधार को प्राप्त करने की चेष्ट करें। मंत्र एक अभौतिक जगत् का साक्षात्कार है, अपने आपको पाने का माध्यम है। जितना सत्य व्यक्ति का अस्तित्व है उतना ही सत्य मंत्र है। हम अपने प्रति, अपने सिद्धान्तों के प्रति, अपनी निष्ठा के प्रति आश्वस्त है ? यह निर्मम विवेचना का विषय है और निश्चय से हम जब वस्तुनिष्ठ होकर आत्मनिरीक्षण करने लगेंगे, तो बड़े विषाद के साथ यह कहने लगेंगे—“हमारा जीवन पराजय, छल, स्खलन, दोष और व्रत-भंग के सिवा कुछ भी नहीं है।” इस प्रकार के सरल और प्रत्यक्ष गणित में भी जब अनेक प्रकार के दोष और विसंगतियाँ हो जाती हैं तो चेतना के नियामक स्तर को प्राप्त करने के लिये किये गये प्रयत्नों में—जो विविध रूपों और स्तरों में किये जाते हैं—कहीं न कहीं कोई न कोई खोट या कमी का रह जाना स्वाभाविक है और उसका परिणाम सफलता में रुकावट के रूप में मिलता है, जिसका दोष हम अपना आत्मनिरीक्षण करके, अपने को देने की अपेक्षा मंत्र को दिया करते हैं। अर्थात् दोष हमारा नहीं है, दोष मंत्र का है कि वह सिद्ध क्यों नहीं हुआ? सामान्य—सी शक्ति प्राप्त करने के लिये हमें कितना प्रयत्न करना पड़ता है ? भौतिक स्तर पर किसी वस्तु का निर्माण करने के लिये हमें कितनी साधना करनी होती है—यह सब देखकर जानकर भी हम मंत्र के सम्बन्ध में निर्दय हो जाते हैं और आक्षेप लगाते समय तो बिल्कुल एकांगी हो जाते हैं।

मात्र अपेक्षित संख्या में जप करने से हमारा दायित्व पूरा नहीं हो जाता। यह कार्य मनोजगत् का अतएव हमारी संवेदनशीलता का है। इसलिये जब तक हम अपेक्षित गुणात्मकता प्राप्त नहीं कर लेते, हमारी साधना की सावधानता और अव्यग्रता से युक्त नहीं कर लेते तब तक आन्तरिक शक्तियों का विकास नहीं हो सकता। बिजली के सामान्य—से प्रवाह के लिये कितनी सावधानीपूर्वक तैयारी करनी पड़ती है ! प्रबल प्रवाह को अपने प्रयोजन के अनुरूप ढालने के लिये कितने सूक्ष्म और संवेदनशील उपकरणों को निर्दोष रूप में क्रियाशील बनाये रखना होता है। किन्तु यह सब हमें अखरता नहीं,

क्योंकि इसके अनेक स्तर अनेक व्यक्तियों द्वारा सम्पादित किये जाते हैं, हमें बनी बनायी वस्तुयें मिल जाती हैं। इसके समानान्तर यदि हमें अकेले ही ये सारे काम करने पड़ें तो कितना प्रयत्न, कितनी सावधानी रखनी चाहिए, वह भी मानसिक स्तर पर—यह तथ्य हमारे लिये सहज अनुमान का विषय है। इसके साथ ही हमारा विगत भी उसी तरह महत्त्वपूर्ण रहा करता है जैसे प्रयोजन विशेष के लिए प्रयोग में लिए जाने वाले धातु का वर्तमान रूप। अनेक धातु इस प्रकार के होते हैं कि उनका किसी विशेष प्रयोजन में ही उपयोग हो सकता है, उन्हें अपेक्षित प्रयोजन के अनुरूप ढालने में संस्कार करने पड़ते हैं, अतिरिक्त संयोजन करने होते हैं। ऐसी ही स्थिति साधना करते समय हमारी हुआ करती है।

हममें से कितने ऐसे लोग हैं जो निष्पक्ष भाव से अपनी क्षमता एवं पात्रता को पहचानते हैं ? उसे पहचाने बिना किसी अनुष्ठान में सफलता प्राप्त करने का दावा कितना आधारहीन और दोषपूर्ण हो सकता है ? किसी प्रयोजन के लिये किये जाने वाले अनुष्ठान एवं मंत्र के साथ हमारे कैसे सम्बन्ध हैं, प्रयोग करने पर उत्पन्न होने वाली धारायें ऋणात्मक रहेगी या धनात्मक, जिस मंत्र को हम सिद्ध करना चाहते हैं, उसे उच्चारण करने के लिये हमारी जीभ और उच्चारण स्थान तथा उच्चारण के प्रयत्न कितने उपयुक्त है ऐसी अनेक दैहिक, वातावरण संबद्ध एवं मानसिक अवस्थाओं को परखे बिना हम कोई आशा क्यों रखने लगते हैं और निराश होने पर क्रूर क्यों बन जाते हैं। सारी व्यवस्था निर्दोष रहे, कर्त्ता के प्रयत्न प्राणवान् हों और मन में संकल्प का बल हो तो शक्ति का अवतार होता ही है।

माना रोटी कहने से पेट नहीं भरता पर पेट भरने के लिए भूख का जप नहीं किया जाता। रोटी कहने पर ही रोटी आती है और जिसे खाते हैं उसका नाम रोटी ही हुआ करता है। मंत्र के रूप में हम शक्ति को जो रूप देना चाहते हैं, देवता का उपयोगपरक ध्यान करते हैं, वह हमारे अभीष्ट साधन की आवश्यकता है। सच्चाई यह है कि हमारे आस-पास जितने कर्म हो रहे हैं वे सब उन मंत्रों के, मंत्र के स्वरूपभूत देवताओं के ही क्रियामय रूप है। हमारी अल्पज्ञानता है कि हम उन्हें पहचान नहीं सकते अन्यथा विभिन्न देवताओं के ध्यान के लिये जो काल्पनिक चित्र बनाया जाता है और उनके जो रूप एवं कार्य बताये जाते हैं वे सब वहाँ सम्पन्न होते रहते हैं। उदाहरण के लिये किसी महानगर के श्मशान का दृश्य माँ कालिका के रूप वर्णन से साम्य रखता है अथवा किसी सर्राफे या जौहरी बाजार में जाने पर जो चमत्कारी वातावरण दिखलाई पड़ता है वह माँ के लक्ष्मी रूप के ध्यान का प्रत्यक्ष स्वरूप है।

असंगति यह है कि हमारा मन, वचन और कर्म संगत नहीं रहते और असंगत रहने के कारण शक्तिहीन रहते हैं, अव्यवस्थित रहते हैं तथा इन सबका मूल हमारे अन्तःकरण

पर चढ़ा रहता है। फलस्वरूप हम जो सोचते हैं उसका व्यवहार से सम्बन्ध नहीं जुड़ता। यथार्थ में संसार के सारे पदार्थ एवं स्थितियाँ शब्द की सीमा में, शब्द के रूप में अर्थात् शब्द में अवस्थित है शब्द से भिन्न अर्थ की/पदार्थ की सत्ता जगत् में नहीं है। हम किसी भी भाव को शाब्दिक रूप देते हैं, इसका अर्थ यह हुआ कि वह पदार्थ या स्थिति शब्द के रूप में हमारे पास है। जैसे कोई व्यक्ति किसी स्त्री के साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाने की कल्पना करता है अथवा उन सम्बन्धों का शाब्दिक निरूपण करता है, इसका आशय यह हुआ कि उसने संभावित स्थिति का एकमूल रूप प्राप्त कर लिया है, उस अवस्था को ऐन्द्रिय स्तर पर उतारने पर वह अन्तिम होगी और जीर्ण हो जायेगी।

मूलतः शब्द और अर्थ दो भिन्न तत्त्व हैं, पर एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं, एक के अभाव में दूसरा अपूर्ण है। हमारी असिद्धता और अशुद्धता यह है कि हमारे लिये ये दोनों एकरूप होकर भी भिन्न रूप रहते हैं। इसीलिये हमारे जीवन में अपूर्ण कामनाएँ हैं, तज्जनित कुण्ठाएँ हैं, हमारी कल्पना भी निर्वीर्य एवं स्तरहीन है। यही द्वन्द्व हमें सांसारिक जीव, पाशबद्ध पशु सिद्ध करता है अन्यथा इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उदात्त भाव भूमि में शब्द और अर्थ, पद और पदार्थ अभिन्न रूप में अवस्थित रहते हैं, पर हमारे जैसी स्थिति में यह वास्तविकता भी काल्पनिक-सी लगती है।

मंत्र अथवा मंत्र की साधना शब्द और अर्थ में छाये अन्तर को पाटने की व्यावहारिक प्रक्रिया है। जप करते समय हमारे पास केवल शब्द होता है और उस शब्द का निरन्तर उच्चारण करने से शब्दार्थ को प्रमाणित/घटित होने की साधना की जाती है। संकल्प एक अमोघ शक्ति—फोर्स—के रूप में शब्दार्थ किंवा अभीष्ट पदार्थ को आकर्षित करता है, देवता के प्रति निष्ठा भी उसी शक्ति/संकल्प को प्राणवान् करती है। सिद्धि के और अपने प्रयत्नों के प्रति विश्वास भी हमारी शक्तिधारा को बलवान् बनाता है। इस प्रकार विश्वास और निष्ठा से अनुप्राणित शक्ति, संकल्प के रूप में, शब्द को साध्य से जोड़ने का काम करती है।

मंत्र जप के समय हमारा स्वर और मुद्रा भी उस आवृत्तिशीलता/प्रीक्वेन्सी को नियमित करने में प्रभावशाली योगदान करते हैं। भौतिक शास्त्र के ज्ञाता जानते हैं कि आवर्तनशीलता पर ही संसार के संचार साधन बिना टकराहट के चल रहे हैं। हम भी यदि आवृत्ति का स्तर प्राप्त कर लेते हैं तो हमारे अभीष्ट स्तर एवं कार्य दूर नहीं रह सकते।



जपात्सिद्धिः

आज का वैज्ञानिक ऋषि अपनी साधना को सर्व सुलभ करके एक प्रशंसनीय कार्य कर रहा है। उसने मनुष्य के ज्ञान को दिव्य स्तर दे दिया है। प्रकृति ने मनुष्य के चर्मचक्षु को कृत्रिम परिसीमा दे दी और इस सीमाबद्धता के ही कारण 'मनुष्य' कहलाता है, उसी परिसीमा को उसने देवत्व के स्तर तक विस्तारित कर दिया है। दूर-दर्शन, दूर-श्रवण जैसे उपकरण आज के व्यक्ति को देवत्व की सुविधा और क्षमता से पूर्ण किए हुए हैं। भारतीय दृष्टि से यदि टेलीफोन मंत्र की साधना ली जाए तो उसका आदि-अन्वेष्टा ऋषि होगा, ऐसा ही कोई छन्द होगा, विद्युत अथवा आकाश देवता होगा, ट्रांजिस्टर शक्ति होगी, डायल कीलक होगा, दूर-श्रवण, शक्ति-प्राप्ति विनियोग होगा।

इस सिद्धि को अस्वीकार करना हमारी कृतधनता होगी, किन्तु यह भारत भूमि पर पनप रहा है, इसलिये हमारे मूल चिन्तन और दर्शन धारा के चौखटे में रख कर परीक्षा करना हमारी मानसिकता है। जहाँ तक हमारे आग्रहों से प्रेरित होकर इस विकास का विश्लेषण करते हैं, वहाँ हमें कहना पड़ता है कि यह प्रगति अपर क्षेत्र में हो रही है। अपर अर्थात् स्थूल।

प्रकृति गतिधर्मिणी है, इसलिये जगत् के गतिशील रहने में उसके जितने स्वरूप हैं वे सब गत्यर्थक धातु से निष्पन्न होते हैं—काली, सरस्वती, लक्ष्मी आदि सारे अभिधान उसके मूल धर्म को अभिहित करते हैं। इन सारे क्रियाप्रकारों का मूर्त परिणाम जगत् कहलाता है। संसार के सारे व्यवहार बहिर्मुखी है। प्रकृति ब्रह्मार्पित होने के कारण विस्तारशील बनी हुई है। यह विस्तार कहाँ तक और कब तक है इसका सीधा-सा उत्तर है कि प्रलय पर्यन्त। प्रलय कोई अवास्तविक स्थिति नहीं है, क्योंकि यह गति का ही प्रत्यावर्तन है, प्रकृति का अपने मूल रूप में अवस्थान ही प्रलय कहलाता है।

गति कहने से इसकी विराटता का अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि जो 'अणोरणीयान्' और 'महतो महीयान्' तक व्याप्त है उसका दर्शन हमारी दृष्टि और ज्ञान पर छाये कल्मष को धोये बिना, संवेदना को सुकोमल किए बिना, संभव नहीं होगा। सामान्यतया हम यह मानने के लिए तैयार ही नहीं हैं कि हमारे ज्ञान में वह अपेक्षित उदात्तता नहीं है। कितने आश्चर्य की बात है कि सामान्य-सा प्रयत्न करके शास्त्रनिर्दिष्ट फल प्राप्त न होने पर हम समग्र विद्या को ही असत्य घोषित कर देते हैं। कभी भगवती-कृपा हो और हम इस

अकल्पित विस्तार में घूमते-भागते अतिविशाल पिण्डों की प्रचण्ड गति का दर्शन कर सकें अथवा परमाणु में नर्तन करते समय अन्य सहचारी कणों की यतिबद्ध गति को देख सकें तो विभोर हुए बिना नहीं रह सकते। यह आधुनिक वैज्ञानिक तपस्वी पर भगवान् का अनुग्रह ही है कि उसने परमाणु में विद्यमान सतत गति का दर्शन करने की क्षमता प्रदान कर दी और इस रहस्य भेदन से वह अपने आश्चर्यजनक कार्य कर सका। यह दूसरी बात है कि उसके लक्ष्य बहिर्मुखी थे, इसलिए इस सिद्धि का उसने अन्यथा उपयोग किया।

हम ऐसी किसी योजना को विचारणीय नहीं बनाते जो सामाजिक जीवन में अपनी सत्ता के कारण किसी प्रकार के भय अथवा विसंगति की प्रेरक बने। भस्मासुर को कड़ार देने में कोई आपत्ति नहीं थी क्योंकि वह उसकी कठोर तपस्या का अर्जित फल था किन्तु उसे जनविरोधी विधि से प्रयोग करने से वारित करना भी अनिवार्य था। इस विज्ञान पर ऐसा नियामक कोई अंकुश नहीं है, अतः यह फैलता जा रहा है और मनुष्य की दृष्टि एवं ज्ञान स्थूल अतएव कुण्ठित होते जा रहे हैं।

गति का रहस्य जानने की उत्सुकता और एकनिष्ठ साधना के बल पर हमने गति का विस्तारपरक और संवरणमूलक प्रकार जान लिया था। इसलिये हम भी वास्तविक देवत्व के स्तर को प्राप्त कर चुके थे। वे सूत्र आज भी प्रचलित हैं, लक्ष्य हैं, उनको व्यावहारिक रूप देने में किसी प्रकार का अवरोध नहीं है। किन्तु इसके लिए अभीष्ट योग्यता प्राप्त करनी ही होगी।

दृष्टि संकोच किंवा बुद्धि की मन्दता के कारण हम परिणाम या अनुभव के प्रत्यक्ष उपकरणों पर ही केन्द्रित हो गये हैं। सूक्ष्म में जो कुछ घट रहा है, हमारे सीमित ज्ञान से परे प्रकृति में जो अतितीव्र गति से हो रहा है उसे जानने के दो ही प्रकार हैं—विश्वास अथवा दृष्टि की शुद्धि। दृष्टि की शुद्धि निरन्तर प्रयास से संभव है। जैसे कोई व्यक्ति अंधकार में देखना चाहे तो उसे निरन्तर अंधकार में रहने और देखने का अभ्यास करना पड़ेगा किन्तु इस अभ्यास की भी एक ऊर्ध्व सीमा है, उसका अतिक्रम नहीं हो पायेगा। इस सीमा का विस्तार करना ही देवत्व प्राप्ति है और देवत्व प्राप्ति का सुगम मार्ग है स्वयं को देखना समझना। यह समझ यदि क्रियाहीन रहेगी तो अधर में टंगा बोध हमारे चिन्तन और यथार्थ में अव्यवस्था उत्पन्न कर देगा। इसलिये इस ज्ञान को क्रिया से संगत करना होगा और वह क्रिया बाह्य कम आभ्यन्तर अधिक होनी चाहिए। प्रच्छन्न क्रिया जप में अधिक मुखर होती है, इसीलिए जप की परिभाषा में कहा गया है—
“तज्जपस्तदर्थभावनम्” जप का वास्तविक स्वरूप उसके अर्थ की भावना करना है। राम के रूप में हम जिस द्वयक्षरी मंत्र का जप करते हैं वह शब्द कलेवर है जैसे किसी व्यक्ति का सावयत मांसल देह किन्तु राम के समग्र चरित्र और चरित्र के

उदात्त वैभव को हृदयंगम करना ही यथार्थ जप है। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए तो समूची राम कथा ही राम का यथार्थ/अर्थ है। निश्चित है ऐसे तत्व की अवतारणा के लिये धारक को तद्रूपता की साधना करनी पड़ती है। स्वकीय चरित्र में रावण की सी भयावहता को समेट रहा व्यक्ति राम नाम का जप करके या तो कुछ पा नहीं सकेगा और पायेगा तो उसमें रावण का-सा तामस नहीं रहेगा।

जप बहुत-सूक्ष्म, संवेदनशील, समर्थ क्रिया है।

जपात्सिद्धि जपात्सिद्धि, जपात् सिद्धिर्न संशयः।

ऋषियों की यह उक्ति अक्षरशः सही है। मेरे या उसके वचन पर श्रद्धा करके इसे मानने की आवश्यकता नहीं, करके देख लेने की बात है।

पहले के आश्रमवासी ऋषिगण 'अग्निमिले पुरोहित' वाली ऋचा को पढ़ कर आग जला लिया करते थे यह बात आज असंभव लगती है क्योंकि ऋचा का माध्यम और समिधा का उपकरण तो वैसे ही है परन्तु वक्ता में वह ऋषि की पवित्र संवेदना नहीं है, इसलिये शुष्क काष्ठ का निगूढ़ तेजस प्रकट नहीं होता। इस ऋचा के उच्चारण से लकड़ी के परमाणुओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हमारे दूषित उच्चारण में वह क्षमता नहीं रही कि वह लकड़ी के अन्तःस्थ परमाणुओं की क्रिया को उत्तेजित करे, उन पर आघात करे। हमारा स्वर-तंत्र इतना शुद्ध और मन आग्रह मुक्त हो जाए और उसको अभ्यास बल से युक्त कर दिया जाय तो आज भी उस तथ्य को प्रकट किया जा सकता है।

प्रत्येक कार्य की अपनी विधि होती हैं और होते हैं कुछ आग्रह एवं समय उन-सब का पालन किये बिना उसमें सिद्धि लाभ नहीं हो सकता। जिन भावों एवं आचरणों को हम गौण मान लेते हैं उनका हमारी सूक्ष्म साधना में बहुत प्रभाव पड़ता है। मंत्र की शक्ति को प्रकट करना सुनने अथवा दिखने में साधारण कार्य दिखता है किन्तु उसके लिये विहित आचार संहिता एवं विधान का पूर्ण निष्ठा से पालन करना कठिन होता है। शब्द की शक्ति का प्रकटीकरण हमारे अन्तःकरण में होगा और उसे इस आवेश के उपयुक्त बनाने में किया गया किंचित् भी प्रमाद या तो उसे आवेशित ही नहीं होने देगा या उसे विक्षिप्त कर देगा। हमें सूक्ष्म शब्द सुनना है तो इतर शब्दों के कोलाहल को शान्त करना होगा। इसीलिये रात्रि की निःस्तब्धता में दूरकृत शब्द भी स्पष्ट सुन पड़ता है अथवा रात्रि को नीरवता शब्द का बल प्रकट होने की एक नैसर्गिक अनुकूल स्थिति है। ऐसे ही किसी मन्दसी गंध को सूंघने के लिये किंवा उसे अपने यथार्थ बल से प्रसृत होने के लिये वातावरण गंध सम्मर्द से शून्य रहना चाहिए। स्वच्छ-निष्कल्मष निर्गन्ध वातावरण में गंध का तेजस् प्रकट होगा। यही सिद्धान्त साधना में भी लागू होता है।

किसी प्रतीक के माध्यम से कुछ करना अथवा सनातन प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित किसी अंश को प्रकट करना एक अति सुकुमार व्यापार है। जिस प्रकार किसी साहसी को विशेष अभियान पर जाने की सूचना मात्र से हर्ष-जनित रोमांच हो उठता है और वह उस अभियान के प्रत्येक क्षण को पूर्ण रूप से एकाकार होकर भोगना चाहता है ऐसी ही उत्कट उत्कंठा और एकाग्र निष्ठा होने पर ये मानसिक साधनायें फलवती होती हैं। इन्हें सिद्ध करने का सर्वगम्य और सुलभ साधन है “जप”। जप के लिये सामान्य परिभाषा दी गई है—‘जपः स्यादक्षरावृत्ति’ अर्थात् किसी शब्द विशेष का बारम्बार उच्चारण जप कहलाता है। यह स्वतंत्र रूप से विवेचनीय विषय है कि इस आवृत्ति का शुद्ध रूप और उत्कृष्ट स्तर क्या है और इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

जप एक क्रिया है जिसमें मन, वाक् और प्राण प्रत्यक्ष सम्पादक बनते हैं। इनकी सन्तुलित और सामंजस्यपूर्ण अवस्था ही जप को सामर्थ्य प्रदान करती है। शास्त्र ने इनको जप का निर्वाहक माना है। अक्षर अथवा मंत्र के रूप में हम जिसका आवाहन करते हैं उसे वहन करने की क्षमता इन तीनों में ही है और तीनों की समवायी स्थिति ही उसे सम्पूर्ण रूप से प्रकट होने के लिये उपयुक्त वातावरण बनाती है।

जप के माध्यम से शक्ति को प्रकट करने की विधि दुहरे रंग से व्यावहारिक है— एक तो वह निरन्तर आवृत्ति से हमारे अन्तःकरण को उस स्फोट से प्रकट होने वाली ऊर्जा को सहन करने के लिये उपयुक्त बनाती है, दूसरे एक ही शब्द की बारम्बार आवृत्ति करके उसे एक नियत दिशा में निर्गत होने के लिये यतिबद्ध सरणी प्रदान करती है।

विज्ञानवेत्ता जानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ के नाभिक में शक्ति पुंजीभूत रहती है और उसी के व्यूह में उसके संवाहक क्रियाशील रहते हैं। नाभिक के अन्य अवयव उस शक्ति को सन्तुलित एवं संवाहकों को नियंत्रित रखते हैं। मंत्र के द्वारा हम उस नाभिकीय ऊर्जा को प्रस्फुटित करना चाहते हैं। इसे दुहराने की आवश्यकता नहीं कि शक्ति का मूल स्वरूप नाभिक में गुप्त/सुरक्षित रहा करता है। शक्ति का यह नाभिकीय सिद्धान्त कहीं भी व्याहत नहीं होता। सूक्ष्मतम परमाणु की नाभि में अवस्थित शक्ति संधात जिस प्रकार उसके अन्य अवयवों को परिचालित करता है वैसे ही इस दृश्य संसार का भी कोई नाभि स्थल है। तो अनेक ब्रह्माण्डों का भी कोई नाभिक अवश्य होना चाहिए। यही सिद्धान्त भारतीय शाक्तवाद का मूल प्रेरक है और इसी के आधार पर “हमारा एक में अनेक और अनेक में एक” का विश्वदर्शन प्रसार पाता है। इस नाभिकीय शक्ति को प्रकट करने के लिये हम बीज मंत्रों को साधना का विषय बनाते हैं क्योंकि कोई भी नाम अथवा मंत्र जितना विस्तृत होता जायेगा उतना ही स्थूल होता जायेगा और स्थूल पदार्थ बहिर्बल को

ही प्रकट कर पाता है मूल बल को नहीं। मूल और स्थूल में, आन्तर और बाह्य में, यही अन्तर होता है कि मूल जितना प्राकृत एवं शुद्ध होता है स्थूल उतना ही संकर एवं अशुद्ध हो जाता है। संकर में संकीर्णता और शुद्ध में विराटता रहना एक निसर्ग है।

साधारण अवस्था में हम और यह संसार ऋणात्मक अथवा मिश्र धाराओं में आवेशित रहा करते हैं। आसुरी वृत्ति और असंगतियों का विस्तार ही इस संसार को हेय बनाता है। मूल ध्वनि का जप इन धाराओं का परिष्कार करता है, शक्ति के मूल को अविकृत रूप में प्रकट होने का अवसर प्रदान करता है। मारण मोहनादि षट्कर्म उस जप की निम्नस्तरीय उपलब्धियाँ हैं। शक्ति अपने आप में निरपेक्ष है। वह स्वयं के छन्दस् में क्रियारत है, यह हमारी वृत्ति है कि उसे किस रूप में प्रकट करती है।

जप से हमारे आभ्यन्तर में एक धनात्मक क्रिया होती है। ऋणात्मक उन बीज मंत्रों के जप से अधिक प्रकट होती है जो सांसारिक प्रयोजनों अथवा स्थूल जगत् में अपना प्रभाव प्रकट करने के लिए विहित है। धनात्मक के लिये कामना कालुष्य का प्रक्षालन करने वाले मंत्र साधना का विषय बनते हैं। बहिर्मुखी धारा ऋणात्मक होती है और अन्नमय कोश की अशुद्धवृत्ति इसके सहज प्रवाह को परिष्कृत नहीं होने देती। परिणामतः अन्नमय के कारण प्राणमय और मनोमय कोश भी आविल/अपवित्र/गन्दले बने रहते हैं। स्थूल में अन्नप्रसविनी भूमि और स्वः का संधिस्थल भुवर्लोक इसी ऋणात्मक अथवा संशयग्रस्त संकरता के उदाहरण हैं, जिनमें सन्ताप और संत्रास, आलस्य और विनाश जैसी स्थितियाँ ही प्रमुख व्यापार करती रहती है।

ज्ञानमय और आनन्दमय कोश धनात्मक होने के कारण सौम्य, शालीन और विकारशून्य है। इसलिए जप के माध्यम से हम इन धाराओं को समानान्तर करके ऊर्ध्वगति करने का प्रयास करते हैं। जागतिक मोहों के लिये स्वामी प्रत्यागात्मानन्द जी महाशय ने दुर्गा सप्तशती को उद्धृत करते हुए कहा है—“दोनों कृष्ण और शुक्ल, अथवा ऋण और धन धाराओं की संकर अवस्था में पतित जीव अपने स्वरूप स्वातंत्र्य से विस्मृत होकर संसार की जटिल-कुटिल धूम्रधारा में परतंत्रवत् चक्कर खाता रहता है। वह यह जान कर भी इस संसार के जितने रूपाकार हैं वे सब ऐसे हैं जैसे किसी अधुनातन शैली के नाट्यगृह में सभी लोग अपने-अपने चेहरों पर नकली चेहरा लगा कर नाच रहे हैं।” संसार के प्रत्येक पदार्थ की यही अवस्था है कि उसमें विद्यमान एक सनातन सत् विविध प्रकार के कृत्रिम आवरण लपेट कर विश्वमंच पर विलास कर रहा है। उसके लीला विलास में धूम्र जैसी सिंथीसिस गति की प्रमुखता यह सिद्ध करती है कि कोई मनुष्य अपने सभ्य ज्ञानसम्पन्न समाज एवं वातावरण को छोड़ कर किन्हीं वन्य जीवों की गोष्ठी में रहने लगा है। अतः हमें आया था कि किसी तार्किक ने शास्त्र वर्णित प्रयोगों को उद्धृत करने वाले

किसी लेखक को न्यायालय में बुलवा लिया और आक्षेप लगाया कि इन प्रयोगों को सिद्ध करके बताओ अन्यथा हमारे समय, श्रम और व्यय की क्षतिपूर्ति करो। परिणाम कुछ भी रहा हो, समझ में नहीं आया कि विश्वास को भी तर्क के काष्ठगृह/कटघरे में जकड़ दिया गया। आप्त वचनों को भी प्रदर्शन की शर्त में बांधने का षडयंत्र किया गया। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि साधना क्षेत्र में हमारे देश में इतना विशद अनुसंधान किया जा चुका है कि इस विषय का प्रस्तोता उसको संकलित-सम्पादित ही करता है, उसमें अपनी तरफ से न्यूनाधिक नहीं करता, करता है तो उस आर्ष निर्देश का उल्लंघन करता है। यदि प्रयत्न करने पर उसे कुछ प्राप्त नहीं होता तो इसका दायित्व उस प्रस्तोता पर नहीं होता। इसके अलावा वे लोग भी हैं जो इस क्षेत्र में प्रवृत्त होते हैं और उन्नति करते हैं। उनको जो कुछ मिलता है विश्वास के बल पर ही मिलता है। यह दूसरी बात है कि उनकी सिद्धि सार्वजनिक रूप से प्रदर्शनीय होती है अथवा नहीं।

मेरा अपना विचार है कि विश्वास का एक स्वतंत्र राज्य है जिसमें तर्क और प्रमाण जैसे आधार कोई महत्त्व नहीं रखते। इसीलिये शास्त्र जप को माध्यम बनाने वाले साधक से कहता है—“भविष्यतीति विश्वासः” अर्थात् तू जो प्रयोग करने जा रहा है वह होगा ही, ऐसा विश्वास तेरे में है या नहीं? यह विश्वास ही साधना की पहली पात्रता है। प्रायोगिक क्षेत्र की तकनीकी भाषा में इसे संकल्प कहते हैं और प्रत्येक मंत्र की साधना के पहले संकल्प करना पड़ता है। यद्यपि संकल्प एक बार ही बोला जाता है और विश्वास स्थायी रूप से किया जाता है फिर भी उस विश्वास को दृढ़ करने के लिये संकल्प की रीति शास्त्र प्रचलित है।

इस किंचितक्षेपक के पश्चात् हम फिर प्रसंग की ओर उन्मुख होते हैं। जप करने से हमारा अन्नमय कोश अपने सूक्ष्मांश को ऊर्ध्वमुखी विवृत्ति होने देता है। जो अन्न का सत्त्व शिश्नार्पण होकर हमारे कामबीज को पल्लवित करता था वही संयम के सौन्दर्य से भूषित होकर वृन्दावन का नीप कदम्ब बनने लगता है। प्रथम भूमिका को शुद्ध करने के लिये ही शास्त्रों ने संयम और हविष्यान भोजन करने का विधान रचा है। अन्न की यह शुद्धि प्राण की वृत्ति को अन्तःस्थ करती है। अन्तःस्थ से आशय है सांसारिक धूम्र और कृष्ण/एण्टीथीसिस और सिन्थीसिस धाराओं से जुड़ा हुआ प्राण अपने दैर्ध्य-विस्तार के कारण बाह्य से अधिक संपृक्त रहता है। वहीं अब मन्द-दीर्घ होकर अपने अन्तः संचार से शक्ति का आवाहन करता है। प्राचीन शास्त्रों ने इस प्रक्रिया को अधिक सबल बनाने के लिए प्राणायाम पर बल दिया है।

इन दोनों कोशों की शान्त-शुद्ध अवस्था मनोमय कोश को आवेशों और अस्थिरता से मुक्त करती है। श्रद्धा तत्त्व मन के पशुभाव को नियमित करने का मृदु किन्तु सुदृढ़

आधार है। पशुभाव को अधिक स्पष्ट करने के लिये कह सकते हैं कि पशु, प्रकृति के सीधे नियंत्रण में रहता है, उसके आवेश को वह अविकल वहन करता है किन्तु वे आवेश उसी धूम्र या कृष्ण धारा के होते हैं। दूसरा कारण यह भी है कि पशु के उज्ज्वल-ऊर्ध्वस्तर सुप्त रहते हैं और उसकी कुण्ठित बुद्धि मन की कल्पनाओं पर नियंत्रण रखने की क्षमता खो देती है इसलिये देह ग्रन्थियों के सामान्यपाश उसे असामान्यरूप से बांधे ही नहीं रखते, राजस और तामस व्यवहारों में ही लिप्त किये रहते हैं। आधारभूत इन दो कोशों की स्वच्छता के कारण मन सहज रूप से स्थिर-शान्त होने लगता है।

इस त्रयी के तारतम्य पर ही वाणी का बल और शक्ति का स्तर निर्भर करता है। ऐसी अवस्था में जो जप क्रिया सम्पन्न की जाती है वह मनोभूमि पर होती है और मनोमयकोश में प्राण का पवित्र ऋषि जप यज्ञ द्वारा एक अलौकिक वैभव का वातावरण बनाता है। मन अनुभविता होने के कारण शब्द को प्रतीति एवं प्रत्यय की आधारभूति पर अर्थ के रूप में प्रकट करता है। ये तीनों कोश ऊर्ध्वमुख होकर एकतान स्थिति में जो कुछ करते हैं वह शक्ति के प्रकट होने की शाक्त साधना कहलाती है। तदनन्तर ज्ञानमय और आनन्दमय कोश भी विकसित होते हैं और व्यक्ति आत्मतृप्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है, उसके निजत्व को बाधित करने की अथवा उसके स्वानन्द को क्षुण्ण करने की सामर्थ्य किसी स्थिति अथवा पदार्थ में नहीं रह पाती।

जप को यज्ञ कहते हैं। देववाणी के वाग्देह के अनुसार संसार के मूलभूत पचास तत्व माने जाते हैं, जिनमें षोडश मातृकायें स्वर स्वरूप और चौतीस व्यंजन माने जाते हैं। इनके ही संयोजन/सम्मिश्रण से यह संसार निर्मित होता है। जिस प्रकार जड़ विज्ञान ने एक सौ और कई तत्व निर्धारित कर दिये हैं और संसार के समस्त पदार्थ उन्हीं तत्वों का निर्माण हैं उसी प्रकार भारतीय सिद्धान्त के अनुसार संसार के पदार्थ भाषा के इन पचास घटकों की सीमा से बाहर नहीं जा सकते। यह निश्चित है कि पदार्थ है तो पद है अर्थात् नामी है तो नाम है और पद है तो पदार्थ भी है और इन दोनों को जोड़ने वाला अथवा साधक प्रत्यय भी है। इस विधि से संसार में ऐसे किसी पदार्थ की सत्ता नहीं जिसका नाम न हो। पदार्थ शब्द का अर्थ ही यह है कि वस्तु किसी पद का अर्थ है।

प्रत्येक मंत्र एक सूत्र होता है। जितना बड़ा मंत्र होगा वह उतना ही अर्थ विस्तार करेगा, इस विस्तार के दोनों ही पक्ष हैं-शक्ति की सघनता भी और विरलता भी। तत्त्वतः मंत्र के बार-बार जपने से हम उस मूल बिन्दु तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं जहाँ शक्ति शुद्ध एवं पुंजीभूत रूप से अवस्थित रहती है। यह वैसी ही स्थिति है जैसी किसी चक्र के नेमि अथवा नाभि की होती है। विज्ञान भी इतर विस्तार को

थाहता-नापता नाभिक पर पहुँचता है और वही से शक्ति को प्रचण्ड रूप में प्रकट करता है।

भौतिक वातावरण में जिस प्रकार वायु, काष्ठ आदि पदार्थ विद्युत् शक्ति के बाधक है उसी प्रकार मंत्र—जो शक्ति अथवा शक्तिमान् का शाब्दिक विग्रह है—के अवरोधक भी है जिनको काम, क्रोध अहंकार आदि कहा जाता है। ये साधना के अमन्द आनन्द और मंत्र की अकुण्ठ सामर्थ्य का निरोध करने वाले मानसिक किंवा सूक्ष्म आयाम है। नीलकण्ठ शिव के सर्वांग में लिपटे विषधर शाक्त मंत्रों के सामान्य प्रतीक/संकेतक हैं। “कामादि विषों से अप्रभावित और भोगी (सर्प) समावृत रहकर भी निरवलेप-निःसंग भाव से साधनासमर्पित रहता है उसी में मंत्र की शक्ति प्रकट-समाविष्ट रह सकती है।” साधक की दैनिक आचार संहिता और साधना काल में व्यवहरणीय मानसिकता की मर्यादा का उपदेश करने वाले ऋषि यह अच्छी तरह समझते थे कि शक्ति के रोधक ये आकार जब तक नियंत्रित नहीं हो जाते, साधक जब तक इनसे निरासक्त नहीं हो जाता तब तक मंत्र की मूल शक्ति न प्रकट हो पाती है, न उसे सहेजा जा सकता है। सावर मंत्रों से जो काम किये जाते हैं, उनसे शक्ति का वास्तविक प्रकटीकरण नहीं होता, वह ऐसी ही प्रक्रिया है जैसे किसी के नाम के लिफाफे का पता पढ़ कर सम्बन्धित व्यक्ति तक वह पत्र पहुँचा दिया जाए।

हमें यह जान लेना चाहिए कि मंत्र आत्यन्तिक रूप से मनोमय कोश की घटना है। श्रव्य स्वर से उच्चार्य स्रोतों अथवा पाठों की प्रारम्भ भूमि अन्नमय कोश है जो वैखरी वृत्ति से सम्बद्ध है। उसमें शब्द प्रधान है, अर्थबोध मनोयोग होने पर ही होता है। यथार्थ में जप के कारण अथवा जप करते समय मनोमय कोश क्रियाशील रहता है तो अर्थ प्रमुख हो जाता है। शब्द एक सहवर्ती वाद्य की तरह गत देता रहता है और शब्द व अर्थ का युगल अपनी युगपत् सत्ता से शक्ति का उन्मेष करता है। हमें भूल कर भी यह नहीं सोचना चाहिए कि मंत्र के जप से क्या होता है। मंत्र शब्द है, और शब्द डार्शनिक भी है और क्रीएटिव् भी। जिनमें मंत्र जागृत होने लगता है वे तो शब्द के स्वप्रामाण्य से परिचित हो जाते हैं। किन्तु जिनको सफलता के लक्षण गोचर नहीं होते वे अपनी विफलता/निराशा से कुण्ठित होकर मंत्र को असत्य कहने लगते हैं। वस्तुतः हमारी विवशता यह है कि हमारे पास ऐसा कोई यंत्र नहीं है जो मंत्र-जप से हुई अथवा होने वाली परिवर्तन शृंखला को दिखा सके। मेरा जड़ प्रत्ययी विज्ञान से यह प्रश्न है कि जब संसार में प्रत्येक क्रिया परिणामधर्मिणी है, तो हमने मानसिक स्तर पर जप के रूप में जो क्रिया की थी उसका क्या परिणाम हुआ ? माना मरुस्थल में पानी अथवा तेल प्राप्त करने के लिये हमने कुँआ खान/खोदा था, उसमें पानी निकला यह दूसरी बात है, पर प्रकट रूप से धरती में एक

बिल बनाने की जो क्रिया की थी उसका परिणाम तो सामने आया ही है। हमारी क्रिया का प्रथम लक्ष्य था कूप का गर्त और वह गर्त खुद गया। अपर लक्ष्य के रूप में जल प्राप्त करना था वह पूरा नहीं हो पाया तो क्या हम कुँआ खोदने की क्रिया को निष्फल कह देंगे ?

किसी कामना को लेकर किये गये अनुष्ठान में कामना पूर्ति से ही हम मंत्र की समग्र सार्थकता आँकते हैं जबकि वह उस क्रिया की सम्पूर्ण और रीतिसिद्ध परिणति है। अन्यथा यह तात्त्विक और व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव ही नहीं है कि किसी मंत्र के जप करने में हमने जो समय और श्रम किया था वह बिना किसी परिणाम के रह गया हो, क्योंकि व्यर्थ जैसी कोई स्थिति होती नहीं, हम जिसे व्यर्थ कहते हैं वह एक सापेक्ष स्थिति है। इससे क्रिया और फल का नित्यसंग व्याहृत नहीं होता। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि किसी कामना विशेष को लक्ष्य करके हमने जो मंत्र जप किया था वह निर्धारित मात्रा में करने पर भी यदि अपेक्षित परिणाम प्रकट नहीं कर सका तो वह मंत्र का दोष नहीं, कर्ता की कमी है।

मूलतः मंत्र जब मानसिक स्तर पर सम्पन्न होता है तो उसका विस्तार और प्रभाव भी उसी स्तर पर होगा और उसे हम अनुभूति के माध्यम से ही नाप सकते हैं, उसका कोई भौतिक परिदर्शक या मापक नहीं हो सकता। जिस स्तर पर क्रिया हुई है उसी स्तर पर उसके प्रभाव प्राथमिक रूप में प्रकट होंगे। इसलिये जप हमारे अन्तःस्तर में प्रकीर्ण अवरोधों, अशुद्ध और अशुभ को घुनता है। अनावश्यक और अपवित्र/असंस्कृत को छाँटे बिना मंत्र की स्वरूप शक्ति प्रकट नहीं हो सकती। जिस प्रकार भौतिक पदार्थों के शुद्धीकरण की भिन्न-भिन्न प्रक्रिया और स्तर होते हैं वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति की पात्रता को शुद्ध-निर्मल करने की विधियाँ हैं। रुई को जितनी सरलता से साफ किया जा सकता है, लोहे को नहीं। ऐसी ही बात प्रत्येक व्यक्ति की अपनी मानसिकता, वंश परम्परा, संस्कार एवं देह संरचना के लिये लागू होती है। कुछ लोग सामान्य से प्रयास से मंत्र का वीर्य धारण करने में समर्थ हो जाते हैं और कुछ को बहुत श्रम करना पड़ता है। विवशता यह कि सभी प्रकार के कल्मषों को धोने के लिए केवल शब्द का आघात ही, मंत्र-जप ही माध्यम बनता है।

मंत्र के रूप में स्वीकृत शब्द-संघ किसलिए इतना समर्थ है कि उसे शक्ति मत् और सर्जक कहा गया है ? दर्शन शास्त्र के अध्येता जानते हैं कि पहले तन्मात्रायें हुई फिर तत्त्व हुए। ऐसे भी कह सकते हैं कि पहले उनका सूक्ष्म फिर स्थूल रूप हुआ। निस्सन्देह यह फिर व्यावहारिक भी है कि सूक्ष्म अणुओं का संघात ही नाना वस्तुओं का आकार धारण करता है। तत्त्वों और तन्मात्रा में 'तत्' से जिस अपरिभाष्य/अनाख्येय सत्ता की

प्रतीति होती है वह कारण भूत है। कारणातीत, अशरीरी, निष्कल अतएव अवाङ् मनसगोचर 'परम' जब 'स्व' का विस्तार करने लगता है तो कारणभूत कहा जाता है क्योंकि उसके बिना विस्तार नहीं हो सकता। किसी निःशब्द तालाब में जम्बूफल के गिरने से जो शब्द होता है, उसमें जामुन का गिरना एक कारण है। माना, वह जामुन शब्द नहीं है पर उसका बलपूर्वक संयोग जो जल पर आघात करता है उसी से शब्द उत्पन्न होता है। ऐसे ही पारमार्थिक रूप में जो स्थूल अथवा दिव्य कर्ण से भी गम्य नहीं है वही सत् अथवा कारणभूत कहा जाता है।

दूसरे स्तर में मात्र आता है। 'मात्र' शब्द की वह अवस्था है जिसे कुहर से नहीं सुना जा सकता है किन्तु संवेदनशील यंत्र अथवा दिव्यस्तर प्राप्त अवस्था में सुना जा सकता है। जब कभी किसी वस्तु में गति की चंचलता होती है, शब्द उत्पन्न होता ही है। हमने किसी तालाब में उठती लहरों को देखा, एक पर एक बहुत उतावली-सी वे चली जा रही है पर उनमें कोई शब्द नहीं। किन्तु क्या वास्तव में उन तरंगों के परिचलन में स्पन्दन नहीं है ? और क्या वह स्पन्दन शब्द शून्य है ? नहीं, शब्द हो रहा है पर इतना सुकुमार है कि हमारी कर्णेन्द्रिय की पकड़ में नहीं आ रहा। वही जब समुद्र के विस्तार में जाता है तो सान्द्र-मन्द्र गर्जन के रूप में सुनाई देने लगता है। इस सूक्ष्म स्तर को सुनने में दिव्य या कोई यांत्रिक कर्ण हो क्षम हो पाता है। यही मात्र है। हम मंत्र में जिस मानसिक जप की बात करते हैं वह मात्र ही है जिसे वैज्ञानिक भाषा में अल्ट्रासॉनिक कहा जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अल्ट्रासॉनिक साउण्ड के शक्ति वैभव से हमारा भौतिक विज्ञान अब परिचित होगा। हमारे विचारों को पढ़ लेने वाला सिद्ध पुरुष वस्तुतः दिव्यकर्ण की सिद्धि प्राप्त कर लेता है जिसमें वह हमारे मन में रणित हो रहे विचारों के शब्द को सुन लेता है। कर्ण पिशाचिनी भी शक्ति की एक ऐसी ही उत्कट अवस्था है।

आगे स्थूल किंवा विकसित स्तर आता है जिसमें शब्द का तरंगदैर्घ्य विस्तृत और दोलन सीमा संकीर्ण हो जाती है। परिणामस्वरूप वह श्रव्य से कर्कश और भैरव अतएव श्रुतिशक्तिनाशक रूप को प्राप्त कर लेता है। इन अवस्थाओं को गम्य गोचर करना अभ्यास और श्रम से ही संभव है, इसी अभ्यास को साधना कहते हैं जिसमें जप सरल विधि है सरल का अर्थ यह नहीं है कि लड्डू को मुख में रखकर स्वाद ग्रहण पूर्वक खा लेना। तदपि योग साधना जितनी दुष्करता इसमें नहीं है।

बहिर्मुखी शब्द के मूल उद्गम का अन्वेषण करके उसे अधिगत करना एक साहसिक कर्म है और उसकी रीति-नीति एवं विधि-संगति भी है। शब्द का अनुसंधान करते-करते हम नाद और बिन्दु तक पहुँचते हैं। नाद उस अव्यक्त के अभिव्यक्त होने की स्वयंभूत क्रिया है और बिन्दु उसकी केन्द्राधिष्ठित शक्ति है। शब्द का मूल उद्गम

आकाश में होता है और उसे विशिष्ट रूप देती है धरित्री। रूप वैशिष्ट्य को धारण करने के कारण धरती धरित्री कहलाती है। आकाश भी धारक है किन्तु उसके धारक स्वरूप में सबका धारण और समापन अवस्था का संकोचमय धारण भी है जिसे एक शब्द में हम लोक अथवा विश्व का आधार कह सकते हैं। अर्थात् समष्टि का आधार आकाश है और व्यक्ति का आधार धरित्री है।

“जप पारमार्थिक रूप में नादानुसंधान है।” विज्ञान भी इस तथ्य से परिचित हो चुका है कि शक्ति की उत्कट अवस्था सूक्ष्म में है। स्थूल रूप में शक्ति विकीर्ण हो जाती है। सूक्ष्म परमाणु के अंग जिस त्वरा से गति करते हैं स्थूल पिण्ड नहीं कर पाते। गति की अन्तिम काष्ठा अथवा मध्यमान/स्टैण्डर्ड के लिये भी हम प्रकाश कणों की गति को ही लेते हैं। यह विचारणीय है कि प्रकाश के रूप में तेज स्तत्त्व का जो अंश विकीर्ण होता है उसमें फोटोन के पैकट्स रहते हैं अथवा भारहीन कोई अन्य पदार्थ अकल्पित वेग से भागता है। कारण है कि प्रकाश कोई शून्य नहीं है, उसमें भी किसी पदार्थ की सत्ता है। इसलिये वह सरूप है, रूपहीन नहीं है। शक्ति के विराट् स्वरूप अथवा अभिव्यक्ति में भी ये सूक्ष्मांश ही क्रिया करते हैं। वस्तुतः प्रचण्ड शक्ति की व्यापकता और प्रभाव क्षेत्र में वृद्धि का कारण यह परमाणु समूह ही बनता है। पदार्थ की मात्रा और शक्ति के वर्धिष्णु रूप में इन मूल परमाणुओं की मात्रा ही आधार रहती है। हाँ, इनके पुंजीभूत रहने के बल की दुहरी अभिव्यक्ति होती है—एक अन्तराणु बल और दूसरा अण्वन्तर बल। अधिकतया, बृहदंश में परमाणुओं का संघातबल ही कार्य करता है। हमारी भाषा में भी बीज मंत्र का बल सुप्त रहता है तथा औघबल ही मुख्य रूप से काम करता है। जप कर्म से हम शक्ति के सूक्ष्म अतएव मूलरूप को क्रियादीप्त करना चाहते हैं। अन्तः शरीर में अवस्थित शक्ति सर्जक केन्द्रों—जैनेरेंटिंग स्टेशन्स—को स्पंदित करके हम शक्ति को प्रकट करना चाहते हैं। इस आघात से दुहरी क्रिया होती है—एक, हमारा अन्तस् उस शक्ति को प्रकट करने की क्रिया करता है। दूसरी हम, उस शक्ति के आवेश को सहन करने की क्षमता अर्जित करते हैं। यह आविष्कृत शक्ति मन को मिलती है और मन उसका नियत अर्थ में विनियोग करता है। इसलिये मन को जप का संवाहक कहा गया है।

यह नहीं भूलना चाहिए कि जप एक मानसिक क्रिया है इसलिये उसका प्रभाव भी मानसिक तल पर ही प्रकट होगा, उसके भौतिक परिणाम कालक्रम से स्थूल जगत् में भी लक्षित होते ही हैं। अधिक क्या—हमारे जीवन में जो भी कुछ रचनात्मक होता है वह पहले मानस जगत् में घटता है, स्थूल जगत् में तत्पश्चात्। यथार्थ में मंत्र जप के कारण घनीभूत शक्ति का विसर्जन और विनियोग मन के ही विषय हैं जिस प्रकार विश्व की व्यवस्था में शक्ति के भगवती रूप का विनियोग विस्तार करने वाला संस्थान इन्द्र

कहलाता है। शेष दिक्पालों को अपने विषय में प्रवृत्त रखने वाला वही होता है। ऐसे ही व्यष्टि स्तर पर भगवत्ता की शक्ति का नियोजन मन का विषय रहता है।

साधना एक प्रकार की जिज्ञासा है अथवा परिष्कार की इच्छुक बुद्धि का उन्मेष है। यही मान लिया जाए कि अनेकत्व में विद्यमान एक साधारण धर्म को तदनन्तर धर्मी को पाने की क्रिया ही साधना है। प्रकृति ने अपनी ओर से सभी को देह दिया है अथवा वह अव्यय-अक्षर तत् तत्त्वों के आवरण में निद्रालस सोया हुआ है। उसे जाग्रत् करने के लिये यह देह प्राकृत साधन है और मानवीय देह सर्वाधिक परिष्कृत होने के कारण उत्तम साधन है। इसी विजिज्ञासा से प्रेरित कर उस परम की प्राप्ति के लिये नियोजित करना प्रकृति का सहज अभीष्ट है— इसी को साधना कहते हैं।

जो लोग साधना मार्ग में प्रवृत्त होना चाहते हैं उनके लिये श्रद्धा, युक्ति, विद्या, आप्त और प्रत्यय—यह पंचांग होना चाहिए। इनका पारिभाषिक विश्लेषण ऐसे होगा—श्रद्धा का अर्थ होता है, वर्किंग बिलीफ, अर्थात् हम जो करना चाहते हैं उसके प्रति हमारा वस्तुनिष्ठ विश्वास होना आवश्यक है। युक्ति का अर्थ है सिद्धान्त—जो साधना हम करना चाहते हैं उससे सम्बन्धित पदक्षेपों और विधि-विधान को बुद्धिगत करना प्राथमिक आवश्यकताओं में से एक है। तीसरी है 'विद्या' जिसे तकनीक कहते हैं। विधि-विधान को एक तरह से तकनीक कहा जा सकता है किन्तु थ्योरी और तकनीकी में अन्तर तो है ही। माना हम गणपति की उपासना करना चाहते हैं तो गणपति क्या है, उसका रूप, ऐतिह्य, प्रकृति आदि क्या है, इस सम्बन्ध में जानना सिद्धान्त-ज्ञान है और उपासना में आसन, मुद्रा, ध्यान, पूजा आदि विधि तकनीक है। चौथा है आप्त अथवा विश्वसनीय। जिस उपासना को करना चाहते हैं उसकी तकनीक अथवा अन्य प्रश्नों का समाधान जिससे प्राप्त करेंगे वह आप्त है। यह आप्त किसी व्यक्ति में भी हो सकती है तो किसी ग्रन्थ में भी। किन्तु ग्रन्थ में आप्त होना तभी श्रेयस्कर रहता है जब हम उसके वाक्यों और वाक्यों में निहित अर्थ को समझ सकें, अन्यथा अनेक प्रकार के ऊहापोह और शंकायें उत्पन्न होती रहेंगी जो हमारी साधना को संशयग्रस्त कर देगी। पाँचवाँ है आत्म-प्रत्यय, जिसे सेल्फ-कान्फिडेन्स कहते हैं। श्रद्धा भी है, युक्ति भी है, विद्या भी है, आप्त भी है पर आत्मप्रत्यय नहीं है तो कुछ भी नहीं है। हम अपने मन में यह दृढ़ विश्वास रख सकें कि यह साधना हम कर ही लेंगे तभी साधना सर्वांग होती है।

यही पूर्व-पीठिका जब व्यवहार का विषय बनती है तो चार चीजें आवश्यक होती हैं—मंत्र, गुरु, दीक्षा और शिक्षा। मंत्र का अर्थ हम जानते हैं अर्थात् वह सूत्र, जिसे साधित करने पर उसमें निहित शक्ति पुंज अपने वैशिष्ट्य से प्रकट होगा। गुरु होता है उसका उपदेष्टा जो मंत्र और विद्या का मर्मज्ञ होता है। दीक्षा एक संस्कार है जो साधक को

विधिवत् अनुमति देने की पद्धति है। वास्तव में यह साधक के अन्तर्हित तेजस् को उद्दीप्त करने की एक पारम्परिक विधि है। शिक्षा का अर्थ होता है साधना काल के विधि निषेध अथवा एक प्रकार की संहिता जो साधक को साधना एवं जीवनचर्या के विषय में निर्देशित करती है।

गुरु से हमारा जो सम्बन्ध स्थापित होता है वह अनुबन्ध होता है किन्तु उस अनुबन्ध की कोई कालिक सीमा नहीं होती, अनेक जन्मों तक चलता रहता है। और जब तक शिष्य अथवा साधक निःश्रेयस के परम को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक गुरु कृतकार्य नहीं होता। भौतिक देह त्याग देने के बाद भी उसकी कृपाप्रवण दृष्टि उस पर लगी रहती है। गुरु और शिष्य के बीच स्थापित सम्बन्ध को अनुबन्ध इसलिये कहा गया है कि अनुबन्ध के चतुष्पद होते हैं—विषय, संबंध, अधिकार और प्रयोजन। जिस मंत्र, विद्या अथवा ज्ञान को हम प्राप्त करना चाहते हैं वह विषय है। गुरु के और हमारे बीच तारतम्य/सम्पर्क ही सम्बन्ध कहलाता है और जिस विषय को हम प्राप्त करना चाहते हैं उसके हम अधिकारी भी हैं या नहीं, इस विचार का औचित्य एवं संगतिपूर्ण समाधान हमारा अधिकार बनता है। अन्त में आता है प्रयोजन अर्थात् उस प्राप्य को हम किस निमित्त प्राप्त करना चाहते हैं? यह चतुष्पाद अनुबन्ध गुरु की अनुमति और हमारी सहमति प्राप्त कर संस्वीकृति बनता है।

व्यावहारिक दृष्टि से गुरु हम पर अहेतुकी कृपा करते हैं। गुरु और शिष्य के बीच गणित का समीकरण अथवा वणिक् का विनिमय नहीं चलता फिर भी शिष्य को निष्कृति के लिये कुछ करना ही चाहिए, ऐसा हमारे पूर्वजों का व्यवहार रहा है। प्राचीन आख्यानो में गुरु दक्षिणा के उदाहरण दिये गये हैं। सचाई यह है कि दक्षिणा दाक्षिण्य की पूर्व सूचिका है अन्यथा गुरु तो दाता और उपकर्ता रहता ही है। वह निरपेक्ष भाव से देता है पर भार शिष्य पर पड़ता है कि वह गुरु के ऋण से भौतिक रूप से अनृण हो जाए। एतदर्थ शिष्य गुरु की तुष्टि के लिये भौतिक प्रयोजन पूछा/ढूँढा करता था और उसी दक्षिणा को जुटाने के लिए दाक्षिण्य का प्रदर्शन किया करता था जिससे कि गुरु सन्तुष्ट हो जाए।

इस निष्क्रय के लिये नीति शास्त्र कहता है कि विद्या के आगम की निष्कृति शुश्रूषा, प्रभूत धन और विद्यान्तर के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। अर्थात् विद्या प्राप्ति के ऋण से मुक्त होने के लिये इनमें से कोई एक आधार रहना चाहिए। यह व्यक्ति/गुरु की प्रकृति, परिस्थिति और चरित्र पर निर्भर करता है कि वह इनमें से किस को पसन्द करता है। अन्यथा यह यथार्थ है कि इस तीनों में जो समर्थ है वह विद्या को प्राप्त करता ही है।

अस्तु, गुरु के सम्बन्ध में अधिक चर्चा नहीं करेंगे। जप करने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्रायः सभी शास्त्र एकमत है किन्तु जप्य मंत्र का रूप वैदिक और शाक्त

सम्प्रदाय के अनुसार बदल जाता है। वेद सस्वर पढ़ने का विषय है और इस प्रकार वह गीति है। ऋचाओं का छन्दोमय गान एक विशिष्ट स्वर लहरी की सृष्टि करता है। विशेषकर किसी वन प्रान्तर में अथवा उषःकाल के नीरव-से वातावरण में वेदपाठ का सौन्दर्य अधिक तेजस्वी रूप में उद्भूत होता है। वेद प्रणव के अतिरिक्त किसी बीज को उतना महत्त्व नहीं देता, न बीज मंत्रों की परम्परा का निर्देश ही करता है। ऋचाओं के द्रष्टा अतएव आविष्कर्ता ऋषि ने उनमें निहित अर्थ को संक्षिप्त करके सूत्र रचना की और सूत्रों का भी संक्षेपण करते हुए वे शक्ति के मूल बिन्दु पर जा पहुँचे, वहाँ से उन्होंने बीजों का उपदेश किया और बीजों की व्याख्या करते हुए उन्होंने मनोहर स्तुतियाँ रची, माला मंत्र रचे और व्यक्ति व समाज के भाव एवं क्रिया जगत में व्याप्त षट्चक्रब्यूह का विवेचन किया। इस षट्चक्र के षट्कर्म हमारे भौतिक और मनोमय देह में ही नहीं, समाज और वसति की व्यवस्था में भी प्रवृत्त दिखाई दिये तो उनके साधन/बाधन की विधियाँ भी उपदेशित की गई। बीज वस्तुतः नाद और बिन्दु की विकसित अवस्था है, इसलिये वेद का रणन नाद, उपनिषदों का ज्ञान ईश्वराभिमुख रहने के कारण बिन्दु और तंत्र की साधना बीज के रूप में होकर इस विकास की अन्तःस्थ विवृति का सांगस्वरूप हो गई।

जप के रूप में निर्धारित बीजों अथवा मंत्रों की निरन्तर आवृत्ति हमारे अन्तःकरण में विशिष्ट क्रिया करती है। जो उच्चारण हम ध्यानस्थ होकर सुनते हैं वह दो तरह से प्रभाव उत्पन्न करता है—एक तो वह बाह्य वातावरण में मुक्त भाव से विचरण कर रहे विद्युत् अणुओं को संघनित करता है, दूसरे हमारी शक्ति को संगृहीत करता है। मंत्र जप के कारण समग्र रूप से जिस छन्द का निर्वाह होता है उसमें शब्दों का रणन और झंकार (अर्थ की रिदमिक और ध्वनि की साइकलिक गति का समवेत रूप) होता है और जब वे एकतान हो जाते हैं तो एक रिजोनेंस या अनुरणन बनता है जो बाह्य जगत में भावात्मक किंवा स्थूल स्तर पर अपेक्षित परिवर्तन प्रभाव उत्पन्न करता है। जप के निमित्तभूत शब्द का स्पन्दन साइकलिक है और इस की विद्युत् की रिदमिक गति है।¹ आशय यह है कि हमारे ऋषियों ने प्रत्येक मंत्र का जो छन्द बताया है वह वैज्ञानिक भाषा का हारमोनिक है और उसमें शब्द का स्फोट एवं शब्द दोनों तरंगायित होने की विद्युत व शब्द की गति प्रकृति के ही आख्यान है।

प्राचीन ऋषियों ने कण और उर्मि का भेद दर्शाने वाला कोई सूत्र नहीं बताया। भेद इस तरह के कण में अथवा उर्मि में, शिव अथवा शिवा में, से किस का प्राधान्य है? यद्यपि यति, और वृत्त जो राग एवं छन्द; शास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं, वे कणात्मकता को और राग तरंगपूर्ण सातत्य को व्यक्त करते हैं फिर भी हम इस सारी प्रक्रिया को प्रकृतिप्रधान मान लेते हैं और पुरुष किंवा शिव तत्त्व को उसमें गूढ़ अतएव गौण।

यथार्थ और अन्तिम रूप से जप ही हमारी सिद्धि का आधार बनता है—इसमें शास्त्रों का विचार भेद नहीं है। जप एक मानसिक अध्यवसाय है और मंत्र चूँकि मन के स्तर पर घटनीय होने के कारण वह अभ्यास बल से मंत्र को जागृत करने का संगत माध्यम और आधार है किन्तु इसे स्वच्छ-संवेदनशील बनाये रखने के लिये संस्कारित और सद्वृत्त बनाये रखना अनिवार्य है। प्रकृति में प्रवहमान असद् विचार उसकी पवित्रता को नष्ट न कर दें—इसके लिये जागरूक रहना भी इसी की सामर्थ्य है अन्यथा इसके सतत और आकस्मिक शत्रु भी कम नहीं है और उनसे पराजित होना इसकी सहज दुर्बलता भी है।

अविश्वास इसका सहज एवं सतत् शत्रु है, विश्वासहीन होकर यह अपने को निराशा के गर्त में ढकेल देता है फिर भी उससे घृणा नहीं कर पाता। यह अविश्वास साधना क्षेत्र में प्रवेश करने पर और अधिक आक्रमण करता है, उसे पराभूत करने के लिये अनेकविध छल और बल, युक्ति और उपपत्ति का जाल रचता है। इसीलिये साधक अनेक बार विमुख-सा हो जाता है अथवा अपने जपों की संख्या के अनुपात में उसके फल को टटोलने लगता है। एक विश्वास के प्रबल रहने पर उसके अन्य सहचर स्वतः आ जाते हैं, तो अविश्वास के प्रवेश करने पर उसके अनेक मित्र अनाहूत आ धमकते हैं।

आकस्मिक शत्रुओं के लिये देहशास्त्र में एक उक्ति है—

“अशनाद् वसनाद् वाचो दर्शनात् स्पर्शनादपि

कालाद् देशात् कर्मतश्च दोषाः वैषम्यमाप्नुयुः।”

अर्थात्, भोजन, वस्त्र, वचन, देखना, छूना, समय, स्थान और कार्य के प्रभाव से हमारे देहस्थ दोष विषम अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि यह मीमांसा हमारे स्थूल देह की प्रकृति के वात, पित्त, कफ रूप दोषों के सम्बन्ध में की गई है किन्तु ये आयाम हमारे मनः शरीर को भी अप्राकृत कर सकते हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। जिस तरह स्वस्थ रहने के लिये रोगमुक्त रहना आवश्यक है उसी तरह सुखी रहने के लिए शत्रु रहित होना अनिवार्य है और सुखी का वास्तविक अर्थ है मानसिक स्वस्थता। जप को सिद्धि का आधार बनाने वाले व्यक्ति के लिये यह परमावश्यक है कि वह अपने भोजन, आच्छादन, वचन, दृश्य, स्पृश्य कर्म आदि विषयों के प्रति सावधान रहे अन्यथा भीतर से किसी विकार कारण के न रहने पर भी ये बाह्य अतएव आकस्मिक शत्रु उसे विचलित कर देंगे।

□□□

अन्तःकरण

शब्द को ब्रह्म कहा जाता है क्योंकि ब्रह्म का अर्थ है—'फैलाव' और यह फैलाव शब्द से होता है। शब्द में होता है। बृंहण का मूल स्थान आकाश है, आकाश अर्थात् अवकाश और अवकाश न हो तो बृंहण क्रिया होगी कहाँ? इसलिये फैलाव का मूल आधार आकाश है और आकाश का गुण शब्द है। समस्त विस्तार शब्दमूलक है और आकाश शब्द में प्रकट है। जो आकाश के नाम पर एक शून्य हमारे सर्वदिक् फैला हुआ है वह स्थूल आकाश है। प्रश्न किया जा सकता है कि आकाश जैसे शून्य में भी स्थूल और सूक्ष्म जैसे भेद संभव हो सकते हैं क्या ? उत्तर में यही कहा जा सकता है कि आकाश तो आकाश ही है पर जब यही अनुभविता अपने को उदात्त-उज्ज्वल कर लेता है तो इस आकाश की संकुलता क्षीण हो जाती है और यही आकाश अव्यय आनन्द से उद्भासित हो उठता है, इसी को चिदाकाश कहने लगते हैं। अन्यथा उसकी कोई भौगोलिक स्थिति अतएव दिक्काल जैसी व्याप्तियाँ नहीं हैं। इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिये हम आँख का उदाहरण लें। आँख के नाम पर तेजस्तत्त्व का प्रतीक चक्षु हमारे सबके पास है किन्तु इसके चर्ममय होने से इसकी गति बहुत सीमित हो गई है। दूरी के साथ-साथ यह पदार्थ के उतने ही अंश को देख पाता है जितना तेजस्तत्त्व की परिधि में आता है। इसलिये इसे स्थूल दर्शन कहा जाता है। आत्म-पवित्रता, तपस्या या योगबल से जब यह अधिक संवेदनशील होता है तो इसकी शक्ति बढ़ जाती है। समय के पार और अकल्पनीय दूरी का इसमें कोई अर्थ नहीं रहता। इसे दिव्यचक्षु कहते हैं। देवता अथवा राक्षसों के भौतिक देह नहीं होता, वे अयोनिज होते हैं। इसलिए उनकी आंखें संग्राहिका शक्ति में बहुत अधिक विकसित हुई रहती हैं। देवताओं की दृष्टि अपेक्षया अधिक तीव्र होती है क्योंकि उनमें तामस का अंश क्षीण हो जाता है और तमस् में आवरकता सहज भाव से रहती है। तपः पूत ऋषियों का भी यह दिव्यचक्षु उन्मीलित हो जाता है। इसलिये निकट और दूर, सम्प्रति और विगत का भेद वहाँ नहीं रहता है। यथार्थ में यह शक्ति की समुन्नत अवस्था मानसिक स्तर पर प्राप्त होती है। हम जानते हैं कि मन का कोई भौतिक आकार नहीं रहता। देवत्व और दिव्यत्व मन के प्रखर तेजस् का ही परिणाम है। वही स्थूल प्रपंच का दुर्धर्ष नायक है। सामान्य अवस्था में यह मन, जगत एवं आत्मारचित आग्रहों से इतना आक्रान्त रहता है कि इसकी स्वयं की शक्ति कुण्ठित रहती

है, यह चारों ओर से निगड़ित रहता है और इन्द्रियों की शक्ति पर ही निर्भर करता रहता है। तीसरा होता है ज्ञानचक्षु। ज्ञानचक्षु समय के अथवा नदी-पर्वतों के पार नहीं देखता। उसका सामर्थ्य बाह्य के रहस्य का भेदन करने में प्रकट होता है। संसार के विभिन्न रूप और आकार धारण किये हुए इन पदार्थों का मूल क्या है, ये किसके प्रति उत्तरदायी है, इनकी परिणति क्या होगी, इत्यादि निष्कर्ष ज्ञानचक्षु के ही विषय है। प्रथम दो चक्षु प्रवृत्तिपरक हैं इसलिये वे स्वभावतः अथवा पात्रानुसारी साधना करने पर प्राप्त हो जाते हैं किन्तु ज्ञानचक्षु दीर्घ साधना के परिणामस्वरूप ही खुलते हैं और वे व्यक्ति की सीमित कारा को असीम से संयोजित करने वाले सेतुबंध बनते हैं।

यही स्तर प्रकर्ष आकाश को भी स्थूलाकाश और चिदाकाश का रूप देता है। इसलिये चिदाकाश की सत्ता भी है और उसे प्राप्त करने की विधि एवं मार्ग भी है। जिस प्रकार हमारे स्थूल देह में दसों इन्द्रियों का समूह अवस्थित भी है और व्यवस्थित भी, वैसे ही ये दिव्य और ज्ञानमय स्तर हमारे अन्तःकरण में विद्यमान हैं। सामान्यतया हमारा अन्तःकरण मूढ या जड़भावनापन्न रहता है, उस पर तम की विषादमयता या रज की अप्रीतिकर प्रवृत्ति छाई रहती है परिणाम यह होता है कि हम अन्तःकरण की विभूति और सामर्थ्य से परिचित नहीं हो पाते। साधना के लिये प्रमुखतया अन्तःकरण ही माध्यम बनता है इसलिये इसे कारण कहा जाता है, अन्तः का अर्थ भीतर होता है और शक्ति का पुंजीभूत रूप या रहस्य अथवा नियंत्रण अन्तः से होता है अतः उसके रूप, प्रवृत्ति, पद्धति आदि को पूरी तरह से समझ लेना चाहिए। जिस तरह स्थूलदेह दोषाश्रयी है वैसे ही सूक्ष्मदेह अथवा अन्तःकरण गुणाश्रयी है। प्रथम दृष्टि में हम गुण को एक अच्छा माध्यम समझते हैं किन्तु इनको गुण कहने के पीछे मुख्य आधार इनकी रज्जुवत् बंधिका शक्ति है। रस्सी को भी गुण कहा गया है, मूल रूप में ये गुण आत्म के चेतन को परतन्त्रवत् बांधे रहते हैं। इसलिये इनको गुण कहा गया है। दूसरे, इनका प्रारम्भ सत्त्व से होता है और सत्त्व में प्रकर्षभाव है, इसलिये भी गुण शब्द से हम एक सुष्ठुभाव समझते हैं।

सांख्यमत से महत्, अहं और मन की त्रिपुटी के साथ इन्द्रियों वा पंचतत्त्वों का मूलस्वरूप तन्मात्रा जैसी वृत्तियाँ अन्तःकरण में मानी जाती हैं। मतान्तर से मन, बुद्धि और चेतना अन्तःकरण में परिगणित होती है। सांख्य शास्त्र का महत् यहाँ बुद्धि तत्त्व में अन्तर्हित हो जाता है। इस त्रिपुटी में शक्ति का स्तर उत्तरोत्तर मन्द होता जाता है। फिर भी तीनों एकत्र अवस्थित रहते हैं। चेतना अमन्द रूप में जागृत रहती है किन्तु वह परवर्ती स्थितियों पर नियंत्रण नहीं करती। जिस प्रकार के सघनतमिस्र उपादानों में होकर यह चेतना प्रसार पाती है वैसी ही बन जाती है, जैसे लोहे का एक पुर्जा चमकीला और दूसरा काला है किन्तु लोहा दोनों में होता है। ऐसी ही स्थिति चेतना की होती है। दूसरा तत्त्व

होता है बुद्धि। यद्यपि बुद्धि स्वयं में निर्णय है, व्यवसाय और अध्यवसाय उसकी सहज गति हैं, किन्तु वह हस्तक्षेप तब तक नहीं करती जब तक उसे आश्वस्त नहीं कर दिया जाता कि उसके निर्णय सम्मान सहित स्वीकार्य होंगे। इस अर्थ में वह अति अभिजात भी है और अपमान भीरु भी। किंचित् भी कषाय उसे नहीं रुचता। वह सत्त्वनिविष्ट है, रज और तम में दूर भागती है, राजस और तामस उत्कर्ष को वह आक्रोशजुष्ट होकर नहीं देखती प्रत्युत आत्मसंवृत हो जाती है। पशु समूह में जिस प्रकार एक मानव स्तब्ध/निष्क्रिय हो रहता है अथवा मूर्खों की सभा में जैसे विद्वज्जन एकान्त में वाक् सन्निरोध करके बैठे रहते हैं वैसी ही स्थिति बुद्धि की होती है। किसी स्थूल विश्वासी को जड़ कहने के पीछे भी यही कारण है कि उसकी बुद्धि ने दीर्घ मौन साथ रखा है।

भारतीय प्रातःकाल उठते ही अपने अन्तःस्थ नारायण से प्रार्थना करता है कि हे नारायण! जैसी आप प्रेरणा देंगे, बुद्धि के रूप में आप जिस प्रकार का व्यवसाय करने की प्रवृत्ति करेंगे मैं वैसा ही करूँगा। यह जागरण के साथ ही बनने वाले कर्म-वितान का प्रथम सूत्र है और इसका रहस्य है अहं को नियंत्रित करना, अपने आपको समर्पित करना और अन्तःस्थ सत् को असुप्तभाव से प्रेरक बने रहने को सविनय याचना करना। हम जिस तरह के जीवन को भोग रहे हैं, हमारा समष्टि मन जिस तरह की पद्धति अपना रहा है, उसका स्पष्ट फलित यह है कि उसकी सुकोमलता नष्ट होती जा रही है, भौंथरा होता जा रहा है, विकृति प्रवणता बढ़ती जा रही है।

पहले लिखा जा चुका है कि मन ही दिव्यत्व को प्राप्त वा अनुभव करने वाला आधार है और दानवत्व का संवाहक भी यही होता है। समष्टिमन की आज की अवस्था देखकर यह कहना अयुक्त नहीं लगता कि वह विकृतिरुचि हो गया है, आनन्द को और विषाद को शान्ति और उद्वेलन को, वह पहचान ही नहीं रहा क्योंकि उसकी कर्कशता के कारण बुद्धि की शारदीचन्द्रिका प्रसार ही नहीं पा रही। मन की संकुलता हमारे अन्तर्जगत् के वैभव को प्रकट नहीं होने दे रही। यह सारा प्रयत्न अन्तःकरण को जानने, उसकी महिमा को प्रकट करने का उपक्रम है।

जैसा हम जानते हैं कि मन गुणात्मक वृत्तियों का धारक है, गुणों के आवर्तविवर्त, ऊहापोह आदि की सघनता उसी में अवकाश प्राप्त करती है। फिर भी गुण मन के नियंत्रण में नहीं हैं, उनकी प्राकृत धारा कहीं और ऊँचे से, किसी अन्य गहराई के उद्गत होकर मनःसागर में आ गिरती है। स्थूल शरीर की इन्द्रियाँ मन के अधीन हैं और मन भी मतान्तर में इन्द्रिय ही माना जाता है। किन्तु गुण इन्द्रियातीत है और अतीत पर परवर्ती का अधिकार नहीं रहता इसलिये गुण मन के अधीन नहीं है। हाँ, बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होने पर गुणों की सहज धारा में परिवर्तन हो जाता है। यह समझ लिया जाए कि

जैसे किसी शहर में अशान्ति होने पर वहाँ के मुख्यमंत्री के निवेदन पर सेना या अन्यबल को भेज दिया जाता है। हमारा परिवेश, आचरण एवं नैसर्गिक प्रवृत्ति न्यूनाधिक रूप में इन गुणों की प्राकृत आवृत्ति के अधीन रहते हैं किन्तु हम चाहें तो इनमें परिवर्तन कर सकते हैं। यही हमारी इस काया की विशेषता है और यही हमारी अन्तःकरण का बल है, स्वः रूपावस्थान है। योगशास्त्र ने कहा है कि भागवती कृपा, पूर्व पुण्यों का उदय और सद्गुरु की कृपा से व्यक्ति निर्मल अन्तःकरण हो जाता है।

यथार्थ में भले ही ऐसा न कहा जा सके पर परिज्ञान के लिये हम मान सकते हैं कि इच्छा, ज्ञान और क्रिया में एक पूर्वापर भाव है। यद्यपि ये युगपत् व्यवहारी हैं और इनका साहचर्य अविच्छिन्न है फिर भी इनकी मूल इच्छा है और क्रिया में इस सबका समाहार हो जाता है। ज्ञान का बुद्धि से, इच्छा का चेतन से और क्रिया का मन से, एक अवाच्य-अव्यक्त सा तारतम्य बैठ जाता है। गुणात्मक संघनन को मन अविकल रूप से साथ लेता है इसलिये उसमें क्रिया अधिक मुखरता से प्रकट होती है। गुणों की साम्य प्रकृति है और वैषम्य विकृति। विकास के लिये विषमता आवश्यक है, गुणों की असन्तुलित अवस्था ही संसार कहलाती है।

गुणों में कुछ विशेषतायें ऐसी हैं जिनके कारण यह विषमता उत्पन्न होती है अन्यथा यह विकार संभव नहीं होता। ये विशेषतायें हैं—अन्योन्याभिभव अर्थात् इनमें मार्दव होता है। जब कभी कोई गुण प्रबल हो उठता है तो दूसरा उससे अभिभूत हो जाता है। दूसरा गुण है अन्योन्याश्रय अर्थात् ये संघीभूत ही रहते हैं। एक में दूसरे बीज अथवा वासनामय अवस्था में रहा करते हैं। यह दूसरी बात है कि गुणातीत अवस्था प्राप्त करने के प्रसंग में एक सत्त्व ही प्रकृष्ट होते-होते सत्त्व रूप रह जाता है, अन्यथा स्थिति में ये अन्योन्याश्रयी भाव से ही रहते हैं। तीसरा गुण है अन्योन्यजनन अर्थात् सत्त्व रज को, रज तम को, रज सत्त्व को, तम रज को प्रकट किंवा उत्पन्न करता है। यह अन्योन्यजननभाव सृष्टिक्रम में ही रहता है। मूल अवस्था में तो वे समभावापन्न रहते हैं। चौथा गुण है अन्योन्यमिथुन अर्थात् ये एक दूसरे से प्रकट रूप से नद्ध/बद्ध होकर भी रह सकते हैं। यह गुण नहीं होता तो सृष्टि के विकासक्रम में पंचक का सिद्धान्त नहीं चलता। पाँच तत्त्वों में आकाश, वायु और पृथ्वी सत्त्व, रज और तम बहुल है, किन्तु शेष तेज और जल मिश्र प्रकृति हैं, और यह मिश्रण इन गुणों के अन्योन्यमिथुनभाव के ही कारण संभव हो पाता है। पाँचवाँ गुण है अन्योन्यवृत्ति अर्थात् ये एक दूसरे को प्रवृत्त करने की योग्यता रखते हैं। तमस् के रूप में हम जिस तमोगुण का आवरक अतएव विषादमय कहते हैं वह वास्तव में नियामकता है। भगवान् शिव जब रुद्ररूप धारण करते हैं तो समग्र संसार का नियंत्रण उनके भूभंग में

सिमट आता है। ऐसे ही अन्य गुणों का वैशिष्ट्य भी इनके प्रवाह को दिशा और गति प्रदान करता है। हम जिस तृष्णा, आसक्ति, विषाद, विद्वेष आदि से पीड़ित/प्रताड़ित रहते हैं वह सब इन गुणों की विकारवती अवस्था है और विडम्बना यह है कि मन इसे वहन करने के लिये सहजरूप से प्रकृति निगड़ित है।

गुणों के वैषम्य में एक सम्मर्द उत्पन्न होता है और सम्मर्द में गति अधिक तीव्र हो जाती है। परिणाम यह होता है कि हम जिस सत्ता को प्रकट करना चाहते हैं, स्थिति उसके अनुकूल नहीं बन पाती, मन का चांचल्य इतर गुणों के सम्मर्द को तीव्रतर कर देता है। इसमें कोई संशय नहीं कि साधना में यह बहिःकरण अथवा स्थूल शरीर अर्थहीन होता है, वह एकान्तिक रूप से अन्तःकरण का विषय है, एतदर्थ अन्तःकरण का सक्षम-संवेदनशील होना अत्यन्त आवश्यक है।

ऐश्वर्य नाम से हम जिसे जानते हैं उसके दो स्तर हैं। पहला स्तर एक धनपति अथवा सत्ताधीश के पास होता है जिसका चमत्कार हम देखते हैं। किन्तु यह स्थूल है इसलिये विश्वसनीय भी नहीं है। हमारे देह—स्थूल देह—की तरह यह अनित्य है किन्तु इसी का उत्कृष्ट स्तर है योगैश्वर्य। यह ऐश्वर्य एक बार आयत्त होने पर न क्षीण होता है, न छिन्न होता है क्योंकि इसका आविर्भाव अन्तःकरण में होता है। इसी ऐश्वर्य के प्रकष्टतर स्तर को ईश्वरत्व कहा जाता है। स्मरणीय है कि संसार के बाह्य स्वरूप की आराधना करना निःसार है, इसके विस्तार को अपने अधिकार में करने की कामना मोह की विजय है और इस अवस्था में हम अपने स्वातंत्र्य को खोकर निरीह पशु की तरह मोहादि बंधनकारी वृत्तियों के अधीन हो जाते हैं, जबकि अन्तःकरण की शुचिता और शक्ति को प्राप्त करने पर हम वास्तविक अधिकार को प्राप्त करके स्वातंत्र्य का भोग करते हैं।

‘अहं’ मूलभाव है। महत् तत्त्व के पश्चात् अहं का उदय होता है। महत् को बुद्धिस्थानिक समझने की बात हम जान चुके हैं। अहं वह स्थल है जहाँ सत्त्वादि गुणत्रयों का विकास होना आरम्भ होता है। यह कहा जा सकता है कि बुद्धि तत्त्व में गुण समान अतएव प्राकृत अवस्था में रहते हैं, वहाँ ये बीजवत् बने रहते हैं, किन्तु अहं पर आते ही इनमें क्रिया उद्दीप्त होने लगती है। बहिर्मुखी होने पर यह अहं राग-द्वेष, मोह-काम आदि विकृतियों में व्याप्त होकर अहंकार बन जाता है। बुद्धि अथवा चेतना की ओर अभिमुख होकर यह ‘समस्त में व्यस्त’ किंवा ‘एक में समग्र’ का संधान करता है। तब इसे ‘साहं, शिवोहम’ जैसी आह्लादक स्थिति प्राप्त होती है। उर्ध्वमुखी होने पर जिस परमप्रसादमयी अवस्था को प्राप्त करता है, उतनी ही अवसादमयी अतएव संकटापन्न संतप्त अवस्था

बहिर्मुखी रहने पर प्राप्त करता है। आज के इस आपाधापी के युग में हम देख सकते हैं कि यही अहं बहिर्मुखी होकर विकार ग्रस्त हो गया है। इस एक के विकृत होने से सारा समाज विपद्ग्रस्त हो गया है। हम सोचते हैं व्यक्ति के सम्पन्न होने से समाज और फिर राष्ट्र सम्पन्न हो जाएगा, किन्तु ऐसा न हो रहा है, न होगा, क्योंकि बहिर्मुखी अहं न एक में अनेक को देख रहा है, न अनेक में एक को, अर्थात् व्यक्ति चेतना का विस्तार न होकर उसका संकोच होता जा रहा है। माना, अहं का यह विकल्प स्वरूप है फिर भी इस उदाहरण से हम यह समझ सकते हैं कि आज का व्यक्ति इतना आत्मरत हो रहा है, अपने आपको इतना प्रेम करता है, कि उसे आत्मेतर का न विश्वास है, न ज्ञान ही, अर्थात् इस चरम विकारमयी अवस्था में भी अहं आत्मभाव से विच्छिन्न नहीं हो पाता। इसका रहस्य यह है कि प्रकृति अपने मूलरूप में अवस्थित रहने के स्वभाव को न भूल सकती है न उससे आत्यन्तिक रूप से विमुख हो सकती है। प्रकृति अपना व्यापार करेगी ही, आवश्यकता है उसके दिशा-परिवर्तन की। गाड़ी को तो चलना ही है। अन्तर यही होता है जयपुर जा रही गाड़ी के इंजन का दिल्ली की तरफ मुँह कर देने की/फिर हम दिल्ली पहुँच जायेंगे। इंजन को गति करनी है, पटरियाँ इस छोर से उस छोर तक बिछी हुई हैं। अब यह हमारी असमर्थता है कि इंजन की महिमा मानते हैं और अवशभाव से जयपुर जानेवाली अवस्था में जुड़ जाते हैं।

साधना का आरम्भ अन्तःकरण से होता है और अन्तःकरण की त्रिपुटी में अहं का जो स्थान और सामर्थ्य है उसे हम जान चुके हैं। यद्यपि सीधे अहं पर अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा हमें नहीं करनी चाहिए क्योंकि न ऐसा सम्भव है, न ऐसा करना निरापद है, फिर भी गुणाश्रय अहं की प्राकृत अवस्था को सिद्ध करने का प्रयास कर सकें तो उससे बुद्धि का उन्मीलन होगा और उससे 'अहं' विराट् दर्शन का साधन बन जाएगा।

वेदान्त दर्शन अन्तःकरण को चित्पूरित करने के लिए निग्रह का उपदेश करता है। तंत्र का रुद्र अथवा कालिका स्वरूप भी निग्रह का विशेष रूप है। गीता कहती है—“अभ्यास और वैराग्य से मनोनिग्रह होता है।” भगवान् पतंजलि कहते हैं—“अभ्यास की पराकाष्ठा ही वैराग्य की भूमिका है। अभ्यास के लिये उनका सूत्र है—‘तत्रस्थितौ यतः अभ्यासः’, अर्थात् साधक प्रकृति और पुरुष के अथवा शिव और शिवा के द्वैत से ऊपर उठकर उनमें विहित एकत्व के दर्शन करने का बारम्बार प्रयत्न करता है, यही अभ्यास है।” तंत्र इस अभ्यास के मूल में जाता है और यह पाता है कि इस अभ्यास के लिये प्रवृत्त कौन करेगा। इसके समाधान में तंत्र का निर्णायक निर्देश है कि इच्छा ही अभ्यास को प्रेरित करेगी। जब पराँबा श्रद्धामय रूप में प्रकट होकर अनुग्राहिणी शक्ति का

विस्तार करती हैं तो उनके रूपैश्वर्य को देखने की आतुरता प्रकट होती है और यही विश्वास व संकल्प से दृढ़ होकर अभ्यास बनती है।

अष्टांग योग में ध्यान और मंत्र शास्त्र में जप के नाम से जिस विधि का उपदेश किया गया है वह यथार्थ में अभ्यास का ही अन्य रूप है। अभ्यास का परिणामी रूप वैराग्य है। वैराग्य दो प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार के वैराग्य को वशीकार वैराग्य कहते हैं। देवता के प्रसाद को बाँटने की जो परम्परा हमारे यहाँ प्रचलित है वह मूल रूप में वशीकार वैराग्य ही है। इसका अर्थ होता है कि विषयों के चरम स्वरूप को जानकर उनके प्रति अनासक्ति का भाव रखना। यदृच्छया वा अवलेपहीन रह कर उनमें विचरण करना ही वशीकार वैराग्य कहलाता है। विदेहराज जनक इसी वशीकार वैराग्य के प्रतीक रहे हैं। वस्तुतः यह स्थिति निग्रह का उपादान भूत है जिसमें सत्ता और अभाव दोनों स्थितियों में उसका परीक्षण हो जाता है। जागतिक विषयों के अभाव में निग्रह करना कोई विचित्र बात नहीं है क्योंकि वहाँ अज्ञान की मूढ़ता रहती है। किन्तु सुपरिचय के रहते हुए आसक्तिशून्यता प्राप्त करना एक वीरता है और यहीं पर आकर निग्रह सर्वांशतः प्रमाणित होता है। तंत्र, योग, कर्मयोग, वेदान्त की तत्रस्थिति यहाँ आकर एक रूप होती है और चरितार्थ होती है।

निग्रह की इस अवस्था में व्यक्ति आत्मैश्वर्य से पूर्ण हो जाता है। स्थूल जगत् के पदार्थ उसकी इच्छा का अनुसरण करने लगते हैं, भौतिक परिस्थितियाँ उसकी संकेत वाहिनी हो जाती है। वह अपने को आयत कर लेता है और विषयों पर उसका स्वामित्व हो जाता है किन्तु जिस अनुपात में यह निग्रह प्रबल होता जाता है उसी अनुपात में व्यक्ति इनसे विमुख होने लगता है। गीता के ज्ञान-योग का स्वच्छ रूप इसी अवस्था में व्यक्त होता है और इसी स्थिति में व्यक्ति के कर्म क्षारभूत हो जाते हैं। इसकी पराकाष्ठा परम वैराग्य कहलाती है। वहाँ व्यक्ति त्याग जैसी वृत्ति से भी मुक्त हो जाता है। विषयों का संसर्ग न उसे रुचता है, न विषयजाल उसको घेरते हैं। यह स्थिति परमहंस की होती है अथवा तंत्र का दिव्य भाव यही कहलाता है।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि हम चाहे भौतिक आकांक्षा रखते हैं अथवा आध्यात्मिक उन्नति की कामना, हम कोई काम्य अनुष्ठान करना चाहते हैं या निष्काम साधना, अन्ततः हमें अन्तःकरण पर ही निर्भर करना पड़ेगा। शारीरिक श्रम से साध्य कोई प्रयोजन हो तो वह स्थूल शरीर से ही सिद्ध होगा किन्तु तदितर कार्य अन्तःकरण की शुचिता एवं तेजस्विता से ही संभव हो पायेगा, भले ही वह कलासाधना है या किसी मशीन का डिजाइन या विद्या। अन्तःकरण के सत्त्वसम्पन्न होने पर ही हमारे ये लक्ष्य सिद्ध हो सकेंगे।

प्रत्येक साधक के परिज्ञान के लिये यहाँ अन्तःकरण की शुद्धता के क्रमिक सोपानों का विवरण दिया जा रहा है जिससे अपने वर्तमान स्तर को परख लें और भविष्यत् का रूपांकन कर लें। इसमें कोई संशय नहीं कि पूर्वजन्म के सुकृतों के परिणामस्वरूप ही व्यक्ति की आध्यात्मिक जगत् के प्रति अभिरुचि होती है और उनकी उग्रता के कारण ही व्यक्ति साधना के क्षेत्र में प्रवेश करता है। साधना कर रहा व्यक्ति अपनी इच्छा या स्तर के अनुरूप सफलता इस जीवन में प्राप्त करता है अथवा नहीं, यह दूसरी बात है, क्योंकि वास्तव में वह यह निर्णय नहीं कर सकता है कि वह जो कुछ भी कर रहा है, उसमें उत्तमता/स्तरीयता कितनी सम्पादित हो रही है। फिर भी यह ध्रुव है कि उसके द्वारा की जा रही साधना विफल नहीं जा रही/नहीं जा सकती। हाँ, साधना निर्दोष अवश्य होनी चाहिए। जैसे परीक्षा में बैठने वाला प्रत्येक परीक्षार्थी यह समझता है कि उसके उत्तर ठीक है और वह उत्तीर्ण हो जायेगा किन्तु इसका निर्णय परीक्षक करता है। यदि किसी ने सही पढ़ा है और सही उत्तर दिया है तो उसे अंक अवश्य मिलते हैं, भले ही कम मिलें, किन्तु अशुद्ध करने वाले को तो कोई भी अंक नहीं मिलता। सर्वप्रथम व्यक्ति में सद्विच्छा जागृत होती है। संसार के विषयों से सहज वितृष्णा उग्र रूप में चाहे न हो पर उसकी विमर्शकारिणी दृष्टि यह अवश्य समझने लगती है कि इतने बड़े व्यापार/विस्तार का कोई संचालक अवश्य है। उस परम के विषय में यह ज्ञानात्मक प्राप्ति करता है अर्थात् परमात्म की कल्पना में वह साभिरुचि होता है। फिर उसे प्राप्त करने की इच्छा उसमें प्रकट होती है। यही सद्विच्छा कहलाती है। सद्विच्छा के बाद परिच्छेदवृत्ति का उदय होता है अर्थात् इस संसार में द्रष्टा और दृश्य के रूप में विकीर्ण द्वत में वह ऐक्य को समझने लगता है। जैसे द्रष्टा आँख और दृश्य पदार्थ के मध्य द्विधाभाव के रूप में व्याप्त यह द्वित्व तेजस्तत्त्व एक ही है। यह स्थूल उदाहरण है। जैसे-जैसे परिच्छेदकता विकसित होती जाती है वैसे-वैसे भेदज्ञान संकीर्ण होता जाता है। यही पर सदगुरु से भेंट हो जाती है तनुचित्ता तीसरा सोपान है। पदार्थ के यथार्थ ज्ञान के कारण साधक को बहिर्मुखी विस्तार से विरुचि हो आती है। जगत्-चांचल्य से विक्षुब्ध होकर वह परम स्थिर शान्ति वा एकान्त को पाने के लिये सप्रयत्न होने लगता है। एक तरह से वेदान्त का अभ्यास यहीं से आरम्भ हो जाता है। चौथा सोपान होता है सत्तापत्ति। साधक को यह ज्ञान हो जाता है कि संसार की इस प्रचण्ड क्रियामयता में और विविधरूपता में एक स्थिरता वा एकता है। समस्त विश्व उसी में अवस्थित है। इस अखण्ड पूर्णज्ञान-मय सत्ता में अवस्थित रहने का उपक्रम करना तथा इस भाव को प्राप्त करना ही सत्तापत्ति कहलाती है। इस सोपान पर आते-आते अभ्यास प्रबल हो जाता है। साधित अभ्यास की पराकाष्ठा पदार्थविभाविनी है अर्थात् संसार में भगवती परांबा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इस प्रकार का प्रत्यय

साधक के मन में उदित हो आता है। इस अवस्था में वैराग्य स्वतः साधित हो जाता है, मन की चंचलता भी संयत हो जाती है और साध्य व साधक में एक अवाच्य तारतम्य बैठ जाता है जिसे पारिभाषिक शब्दावली में एकात्मकप्रत्यय कहते हैं। यह छठा सोपान है। यह मान लेना चाहिए कि यहाँ तक आते-आते साधक अति निर्मल हो जाता है और आत्म प्राप्ति के उसके प्रयत्न अपने चरम तक आ चुकते हैं। सातवाँ सोपान है तुर्यगा। वेदान्त जिसे निर्वाण कहता है, योग जिसे निर्विकल्प समाधि बतलाता है, तंत्र जिसे दिव्य भाव कहता है, वही यह तुर्यगा स्थिति है। श्रद्धा, संकल्प और अनवरत साधना से ही यह अवस्था सुलभ होती है। इसके विषय में शाब्दिक विवरण देना एक जड़ प्रत्यय होगा। यह तो वाङ्मनस से अगोचर है, एक तरह से परम वैराग्य है। सभी कुछ से विस्मृत होकर एक अखण्ड अव्यय शून्य से एकाकार हो जाना ही तुर्यगा वृत्ति है।

□ □ □

कर्म

कर्म क्रिया का परिणामी रूप है और क्रिया सतत् गतिशील तरंगिणी। इसीलिये हम कह देते हैं : यह क्या कर्म कर रहा है ? यह कर्म कैसे हुआ ? कर्म क्रिया का समवायी है, फिर भी वह फल नहीं जा सकता। यह तथ्य हमारे इस वाग्व्यवहार से प्रकट होता है : “कर्म का फल भोगना ही पड़ता है।” कर्म यदि स्वयं में फल होता तो ऐसा व्यवहार नहीं चलता। इस स्थिति तक क्रिया के ही अनेक आयाम उद्घाटित होते हैं : जैसे-‘क्रिया’, उसकी कुछ परिणति ‘कर्म’, क्रिया का आधार, कर्म का परिणाम, परिणाम का भोक्ता। संसार की शैली को हम ऐसे ही अनुच्छेदों में वर्गीकृत कर सकते हैं। कर्म के सम्बन्ध में तंत्र का दार्शनिक चिन्तन पश्चात्-पूर्व कर्म का वेदान्ती विश्लेषण। विश्वविश्रुत ‘कर्म दर्शन’ की मर्मविमर्शिणी गीता का सार-संक्षेप हम तर्क को निरुत्साहित किंवा निरुत्तर करते हुए यों कह सकते हैं कि गीता फलासक्ति से विच्छिन्न करके हमें केवल कर्म-प्रवण होने का आदेश देती हैं। सामान्य स्तर का व्यक्ति कर्म को फलाश्रित न मानकर फलाभिमुखी कर्म का गणित समझने की व्यावहारिकता एवं मोह से मुक्त नहीं हो पाता। यहीं से तर्क को अवकाश मिलता है, यही से विसंगतियों का जन्म होता है।

यदि हम समझ लें कि कर्म का प्रतिबिम्ब ही फल है तो कोई अयुक्ति नहीं क्योंकि कर्म की सम्पूर्णता फल कहलाती है। कुछ ऐसे स्तर भी आते हैं जब फलावाप्ति होने लगती है और क्रिया चालू रहती है। उस फल की समग्रता कर्म की सम्पूर्ति पर ही शक्य है जैसे किसी फल के उदय होने पर हम फल को देख अवश्य लेते हैं उस फल की सम्पूर्णता उसके चरम विकास पर ही मानी जाती है। ऐसा ही कर्म और फल के विषय में माना जाना चाहिए। अनेक बार हम ऐसे अनुभव कहते हैं जिनका परिणाम प्रकट नहीं होता। उस समय हमारा कथन होता है : “हमारा अमुक अनुष्ठान विफल रहा, हम सफल नहीं हुए”। यथार्थ में विफल तो कुछ होता ही नहीं क्योंकि क्रिया की परिणति कर्म और कर्म का विपाक फल। यह त्रिपुटी एक ही क्रिया के तीन अविच्छिन्न आयाम हैं। क्रिया फल रहित हो ही नहीं सकती। परीक्षा में जो लोग सफल नहीं होते क्या वे निष्फल होते हैं ? किसी को परीक्षा में निर्धारित स्तर के अंक न मिलने से वह विफल तो नहीं हुआ, क्योंकि उसे अंक तो मिले ही है। यह दूसरी बात है कि हमारे मानदण्ड के अनुसार

वह अंक नहीं ला सका। सामान्यतया जिनको शून्य मिला है वे अनुत्तीर्ण माने जायेंगे। पर हम जिस न्यूनतम की स्थापना करते हैं वह भी हमारे कार्य-सम्पादन की एक काल्पनिक व्यवस्था है जिसके बिना 'मानवकृत' का कार्य सम्पन्न नहीं होता। फल के प्रति आसक्ति एक विपदा है, मानसिक सन्ताप को निमंत्रण है। कर्म दर्शन के श्रोता और उपदेष्टा में यही अन्तर है कि अर्जुन फलाश्रित कर्म को पहचानता है और कृष्ण कर्म पर केन्द्रित हैं, वे समझते हैं कि क्रिया फल से पहले विरत ही नहीं होगी। हमारी विवशता दोहरी है। पहली यह कि हम फल का आकलन तो कर लेते हैं पर न अपनी पात्रता को समझ पाते हैं न अपने कर्म का स्तर ही जान पाते हैं। इस अज्ञान के कारण हम उत्सुक होते हैं, एक लोभ को पालते हैं और फल पर ही केन्द्रित हो जाते हैं। यही उसी अज्ञान का दूसरा सोपान है।

एक वृक्ष हमारे सामने है, जहाँ से वह हमें दृश्य होता है। वहीं से हम उसे वृक्ष के रूप में जानने/कहने लगते हैं। अदृश्य और भूमिस्थ भाग मूल होता है। मूल को हम वृक्ष नहीं कहते हैं किन्तु उस मूल के साथ वृक्ष का नाम आता ही है। मूल में वृक्ष का अभाव है पर वृक्ष के सम्दाब के बिना मूल की अवस्थिति शक्य नहीं। यही बात हमारे अपूर्ण फल के सम्बन्ध में कही जा सकती है जिसे हम विफल/निष्फल या असफल कहा करते हैं। ऊपर जिन तीन स्थितियों का उल्लेख हुआ है उनमें फल अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। यही हमारी क्रिया के प्रचण्ड तेजस् और त्रिपदीन समग्रता का सूचक है। विफल का अर्थ होता है जिसमें से फल निकल गया है। निष्फल का अर्थ भी यही होता है और असफल का अर्थ भी फलाभाव ही है। इन तीनों शब्दों में पहले फल को अर्थात् सत् को किंवा भाव को स्वीकार किया गया है। फिर उसकी असत्, अप्रकट, अपूर्ण, विरहित अवस्था को कहा गया है। आशय यह कि क्रिया यदि है तो वह फलरहित हो नहीं सकती। यदि हम कोई लक्ष्य निर्धारित कर लेते हैं और वे प्राप्त नहीं होते तो हम उक्त शब्द कह देते हैं।

यही आसक्ति का विषय है, यहीं हमारे अज्ञान की विजय है। इन शब्दों के व्यवहार में हमारा कार्पण्य प्रकट होता है, हमारा पराभूतभाव व्यक्त होता है शास्त्रों ने किन्हीं भी अनुष्ठानों, मंत्र-प्रयोगों वा स्त्रोतपाठों के अन्त में जो फलश्रुति कही है, वह यथार्थ है। विसंगति वहाँ हो जाती है जहाँ हम पात्रता प्राप्त किये बिना या उस अनुष्ठान के निर्धारित मापदण्ड का स्तर पाये बिना मात्र संख्या पर आधारित हो जाते हैं और उस फलश्रुति पर अधिक्षेप करने लगते हैं। मंत्र का जो झणत्कार है, प्रत्येक अक्षर का जो सहज छन्द है, कर्म का जो निष्कलुष स्वरूप है, उसे प्रकट व प्राप्त किये बिना केवल संख्या वा कर्म की मात्रा पर आश्रित हो जाते हैं वही कर्म का पौरव क्षीण हो जाता है। हम फल के प्रति अनासक्त न होकर मात्र फल के लिये समर्पित हो जाते हैं, इसलिये कर्म का शालीन वैभव प्रकट नहीं होता।

तब तक कर्ता और क्रिया का द्वैत लुप्त नहीं होता तब तक आसक्ति की अभेद्य दीवार/कुड्य टूटती नहीं और क्रिया फल का आहरण नहीं कर पाती। हम देखते हैं कि वह परम (शिव) क्रियामय हुए बिना अपने कर्तृत्व को प्रकट नहीं कर सकता और क्रिया कर्ता में समाहित हुए बिना अपने को अभिव्यक्त नहीं कर सकती। इस प्रत्यक्ष दर्शन को देखकर भी हम गीता के कर्मवाद को समझ नहीं पाते यही हमारा अज्ञान है। गीता अकर्म, विकर्म और कर्म की सम्यक् मीमांसा करती है और विश्वास के साथ, कहती है कि कर्म तो निसर्ग है। उससे रहित अथवा भिन्न की संभावना सर्गवलय में किंवा प्रकृतिचक्र में नहीं है। प्रकृति हमारे अनचाहे भी अपने को प्रवृत्त रखती है और हमारे से कार्य कराती रहती है। कर्मशील रहना जब हमारी बाध्यता ही है तो फिर हम उसे अवशभाव से क्यों सहे ? प्रकृति के ही उदात्त या प्रकृष्ट स्तर को क्यों न प्राप्त करें ? तदर्थ हमें पहले कर्म के स्वरूपों को पहचानना पड़ेगा। कौन-से कर्म किस परिणति पर पहुँचते हैं, यह जानने पर हम प्रकर्ष से परिचित हो जायेंगे। पहले के अध्याय में गुणों के विषय में विवेचन किया जा चुका है और हम जान गये हैं कि गुणत्रय में सत्त्व ही आदि है। कर्म के शुभ्र शिखर पर सत्त्व का ही विस्तार है। उसी की साधना करने पर प्रकृति उमा रूप में हमें दिखती है। उससे तादात्म्य स्थापित होने पर वह परम सत्त्वरूप शिव क्रिया का गुणमयी उमा को आत्मस्थ कर लेते हैं। यही कर्म की विकल्पात्मक मुक्ति है। इससे भी आगे चलने पर परम शिवांश की प्राप्ति होने पर निर्विकल्पनात्मक सत्ता आती है। ये सब क्रमिक अवस्थायें हैं। अनातुरभाव से, निरासक्त रूप से, किया गया कर्म स्वतः आत्म-प्रकर्ष को प्राप्त करता चलता है।

सुविधा के लिये हम गुणाधारित कर्म का फलप्रवर्तित भेदोपभेद जानने का उपक्रम करते हैं। कर्म के रूप में समस्त चराचर अन्तर्बाह्य रूप से कर्ममय है। फिर भी इस कर्म में अन्तर है, इसलिए इसे गुणों के आधार पर विभाजित किया गया है। जिन देह-स्तरों पर बुद्धि का उन्मेष नहीं हो पाता वे पशुभावापन्न, अतएव मूढ़ कहलाते हैं। यह आवश्यक नहीं कि इस मूढ़ता के लिए पाशव विग्रह हो ही, उत्कृष्ट स्तर में निम्न स्तर स्वतः अवस्थित रहता है। निम्न में उत्कृष्ट भी रहता है किन्तु वहाँ उत्कृष्ट को प्रकट करने के लिये साधना करनी पड़ती है, जबकि उत्कर्ष में अपकर्ष को केवल निमंत्रण वा संकेत मात्र करना होता है। अंग्रेजी की यह कहावत इसी आशय को ध्वनित करती है “थिक ऑफ द डैविल एण्ड डैविल इज् हीयर।” मानव-देह में प्रकर्ष प्राकृत स्तर है, इसमें अपकर्ष से सावचेत रहने पर ही साधना का सत्त्व समुज्ज्वल रूप प्राप्त कर पाता है।

मूलतः कर्म सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का होता है। ये प्रत्येक शुद्ध, मिश्र और गलित भेद से तीन-तीन प्रकार के और हो जाते हैं। इस प्रकार कर्मजात को नौ वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। ऐसे ही इनके फल होते हैं। इस विवेचन

को देखकर यह असंशय रूप में कहा जा सकता है : सत्त्वपरक शुद्ध कर्म ही उत्कृष्ट स्तर है।

शुद्ध सात्त्विक कर्म तब होता है जब व्यक्ति अपने आप पर यत्नित्व, नियंत्रण करके स्वस्थ-चित्त, समर्पित भाव से निरहंकार होकर, ज्ञान पूर्वक, मानसिक स्तर पर करता है। यद्यपि ये सारी स्थितियाँ एक साथ संभव नहीं हैं तदपि एक स्थिति को प्राप्त करने पर शेष स्वतः सिद्ध हो जाती है। ये क्रमिक अवस्थाएँ हैं और माँ की कृपादृष्टि वाञ्छाकल्पतरु है। उसके कृपालु होने पर ये सब युगपत् भी प्राप्त हो जाती है। ये सारी अवस्थाएँ ज्ञान मार्ग के आधार हैं और ज्ञान मार्गों को ये माध्यम के रूप में ग्राह्य या सुलभ होती हैं। वह इन्हें प्राप्त करने का प्रयास नहीं करता प्रत्युत यह कर्मस्तर उसमें सहजभाव से प्रकट होता है। इसका फल है 'मुक्ति' इस प्रकार के कर्म से व्यक्ति क्रमिक साधना के पथ में प्रवृत्त हो जाता है और कालक्रम से वह विकल्पहीन कैवल्य पद प्राप्त कर लेता है।

मिश्र सात्त्विक कर्म गृहस्थव्यक्ति करता है। इसमें भक्ति का सरस-एकान्तिक समर्पण प्रमुख रहता है। भक्ति का यह उद्वेक साधक की साधनहीनता, दरिद्रता वा कारागृहपतित अवस्था में भी व्याहत नहीं होता। इस प्रकार के निष्ठासम्पन्न साधक मार्ग में चलते हुए, बीमार रहते हुए भी अपने उपास्य के प्रति समर्पित रहते हैं, उससे अतिरिक्त उन्हें कुछ रुचता नहीं। चैतन्य, मीरा, तुलसी, सूर आदि इसी श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार के कर्म से भाव-समाधि लगने लगती है, देह-पात के अनन्तर वह देवलोक में स्थान पाता है और इस देवत्व से उसकी क्रम मुक्ति हो जाती है।

गलित सात्त्विक कर्म वे माने जाते हैं जब व्यक्ति परलोक भय वा लौकिक मोह वा लोभ से ग्रस्त होकर प्रदर्शन/पूजा करता है। देवता के प्रति सम्मान पूरा रखते हैं किन्तु साथ ही अपने शरीर का अत्यधिक ध्यान रखते हैं। पैसा अधिक खर्च न हो इसके लिये विविध प्रकार के विकल्प और उपायान्तर ढूँढ़ते रहते हैं। अन्य कार्यों में वा फल में उनका मन लगा रहता है अथवा स्त्री की प्रेरणा से वे कार्य में प्रवृत्त रहते हैं। वित्तकार्पण्य, जिसे वित्तशाठ्य भी कहा जाता है, और भाव कार्पण्य के कारण कर्म का उदात्त रूप प्रकट नहीं हो पाता। किन्तु देवा धारित होने के कारण कर्म तो सात्त्विक रहता ही है। मेरा अपना मन्तव्य है कि समर्पण में एक निष्ठता तब आयेगी तब व्यक्ति 'मम और मह्यम्'-मेरा और मेरे लिये-का मोह/लोभ छोड़ देगा। देवता कभी यह नहीं कहते कि उनका पूजन समारंभ पूर्वक किया जाय। अथवा उनका आवाहन किया ही जाए किन्तु जब उनसे सम्बन्ध जोड़ने की आतुरता बढ़ती है तो फिर तेरा मेरा का गणित वहाँ नहीं चलना चाहिए। ये सारी स्थितियाँ बाह्य वा स्थूल पर आधारित हैं इसलिये गलित सत्त्व

कहलाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति अपने आन्तरिक प्रयत्नों को भी उत्तम स्तर का न करे। इसके फल के लिये शास्त्रों का कथन है कि ऐसे कर्म से अभीष्ट लक्ष्य सिद्ध तो हो जाता है पर उसके आध्यात्मिक परिणाम कुछ नहीं निकलते।

शुद्ध राजस कर्म में बाह्य उपकरण रहते हैं किन्तु उनमें व्यक्ति की निष्ठा और समर्पण भावना प्रकट रहती है। ऐसा कर्म गृहस्थ व्यक्ति, मान सम्मान पूर्वक एकान्त में नियम पूर्वक भक्तिभाव से किया करता है। ऐसे कर्म से व्यक्ति को स्वर्ग सुख की प्राप्ति होती है। व्यास मुनि ने इष्ट आदि जो कर्म बताये हैं उनमें किसी सार्वजनिक प्रयोजन अथवा बहुजन हिताय जो कुछ भी दान पुण्यादि किये जाते हैं वे शुद्ध राजस श्रेणी के ही कर्म हैं। उनका फल स्वर्ग प्राप्ति होता है। मिश्रराजस कर्म वे होते हैं जो लोकाचार/परम्परा की मर्यादा के निर्वाह के लिये, अथवा देवताओं के अप्रसन्न हो जाने के भय से, या अपने जीवन में विहित पापों से डरकर, श्रद्धा/भक्ति सहित किये जाते हैं। गलित तत्त्व और मिश्र राजस में इतना सा अन्तर है कि इसमें व्यक्ति की अन्तः प्रेरणा के पीछे जागतिक आग्रह-लोभ, मोह, भय आदि रहते हैं और इन आकांक्षाओं से प्रेरित होकर भी वह अपने कर्म को श्रद्धाभिभूत बनाये रखता है जबकि गलित सत्त्व में ऐसा बाद में होता है। इसका फल-कामनापूर्ति, विविध आकांक्षाओं की संपूर्ति है। गलित राजस कर्म में देवता का दुरुपयोग किया जाता है। देवता का बहाना करके लोगों की श्रद्धा को उभारकर धन वा उपकरण अपने निमित्त जुटाये जाते हैं। यथार्थ में यह गलित किंवा निन्दित कर्म ही है जिसमें एक व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये विविध पाखण्ड रचकर लोगों को प्रवंचित करता है। इस प्रकार के कोई भी आयोजन हों, उनका एक ही फलित होता है—लोगों की सरलता और धर्मप्रियता का कुत्सित उपयोग किया जाए, केवल अपने संकीर्ण स्वार्थ की पूर्ति के लिए भगवान को साक्ष्य बना लिया जाय। ऐसे कर्म यद्यपि निन्दित हैं फिर भी इनमें भगवान् को साक्ष्य बनाया जाता है, जैसे कोई व्यक्ति किसी नाटक में राम वा कृष्ण का अभिनय केवल अपनी जीविका के लिये करता है। यह दूसरी बात है कि भगवान् के किसी विग्रह का अभिनय करने वाला दुराचार नहीं करता, किन्तु उस पवित्रता का वह भागी नहीं होता। ऐसे कर्मों के फलस्वरूप पक्षियों की योनि मिलती है। अर्थात् पक्षियोनिकों को आहार प्राप्ति के लिये प्रयास करने की जो सुविधा है, वह मिल जाए फिर भी वह पशु भावान्न बना रहे।

शुद्ध तामस कर्म में दूसरे धर्मों का विरोध किये बिना वामाचारी उपासना आती है। कौलाचार में विहित पात्रता को प्राप्त करके पाशव बंधनों से मुक्त होकर आत्म स्वातंत्र्य की साधना की जाती है। आधार के रूप में कालिका की अथवा अघोर की उपासना का यह शुद्ध रूप है। इसी में उत्कर्ष करते-करते व्यक्ति शुद्ध राजस का

वीरभाव और शुद्ध सत्त्व का दिव्यभाव साधित करता है। शुद्ध तामस में वीरभाव प्रस्फुटित अवश्य हो जाता है किन्तु उसका विकास शुद्ध राजस के स्तर पर ही होता है। शुद्ध तापस कर्म के परिणामस्वरूप देवयोनि प्राप्त होती है। यदि साधक इसी देह यात्रा में कर्म के प्रकर्ष को सिद्ध कर लेता है तो सायुज्य लाभ हो जाता है।

मिश्र तामस कर्म वह होता है जिसमें व्यक्ति जागतिक वासना की सिद्धि के लिये प्रयास करता है। वाममार्ग के पशुभाव से मुक्त हुए बिना केवल प्रयोजन सिद्धि के लिये घोर साधना करता है और वाममार्गी साधना विधि में प्रवृत्त होता है। फल के रूप में मिश्र तामस कर्म दुःख-परिणामी होता है। इसे समझने के लिये अज्ञान प्रेरित और माया-विमोहित इस संसार का व्यवहार है। ऐन्द्रिय आस्वाद के लिये किये गये भोग इसी श्रेणी में आते हैं। इसीलिये गीता उन संस्पर्शज भोगों को दुःखयोनि कहती है।

गलित तामस शब्द ही उन कर्मों की निकृष्टता को सूचित कर देता है। इनमें, इन्द्रियों के आग्रह से पीड़ित होकर धर्म का आवरण ओढ़ना होता है। मदिरापान, मांस-भक्षण और मैथुन को बिना इसका प्राकृत अर्थ समझे पशुवत् करना गलित तामस कर्म है। प्राणियों का पीड़न/हत्या वा ऐसे ही अभिचार/व्यभिचार कर्म माने जाते हैं। गीता के यज्ञ-दर्शन और शाक्तों के वीरभाव की पात्रता पाये बिना पंच मकार का प्रयोग इसी श्रेणी में आता है। दूसरा फल कहने की आवश्यकता नहीं ऐसे कर्म के फल भोग के लिये ही नरकवास मिलता है।

यह थी कर्म को उपलक्षण मानकर सत्त्वादि गुणों की तार-मन्द अवस्था। प्राकृत पद्धति के अनुसार व्यक्ति में गुणों का उत्कर्ष एक सहजावृत्ति से होता है, अर्थात् प्रत्येक जीव अपनी मुक्ति के लिए प्रतिबद्ध है किन्तु उसके लिये कितने भव उसे देखने पड़ते हैं यही उसकी जीवाश्रित क्षुद्रता है। गुरु, संस्कार अथवा उस पराम्बा की करुणा के संस्पर्श से यह मार्ग लघु हो जाता है, किन्तु इसका कोई नियत गणित नहीं होता। यही जीव के वीरत्व और पृथक् वैशिष्ट्य की पहचान होती है। संसार के प्रबल आकर्षणों का परित्याग करने का सूचक भगवा वस्त्र पहनने वाले सन्यासी, निर्गृहस्थ अवस्था में किसी मठ के अधीश्वर बने महन्तों का पिशाच श्रेणी का लोभ हम देखते रहते हैं। एक स्वाधीनता सेनानी मेरे निकट सम्पर्क में हैं, पुत्र-कलत्र विदा हो गये, नितान्त एकाकी हैं और अपना सब कुछ परामर्थ अर्पित करके एक आश्रम बनाये हैं। निःशुल्क औषधि वितरित करते हैं अपना ही नहीं, अपने प्रभाव से भी जो कुछ अर्जित करते हैं वह सब परमार्थ। उनकी साधुता में कोई संशय नहीं। पर यह परमार्थ और आश्रम उनको मोहबद्ध करता जा रहा है। मैंने कहा, दिया सलाई लगा दीजिए उस आश्रम को जितना हो गया, उतना ही बहुत है। भगवन्कृपा से परिवार में कोई भी नहीं बचा याने उनके ऋण व दायित्व से मुक्त हो

चुके, अब तो यथार्थ वैराग्य धारण कर लीजिए। पर नहीं हो पा रहा। आशय यह है कि अभी वे इष्टकर्म तक ही रहेंगे, उसके परिणामस्वरूप स्वर्गसुख फिर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। यह है प्राकृत कर्म। इसको कहते हैं प्रकृति का अपना क्रम। वह चाहे तो व्यक्ति के पुण्यों का उदय हो जाए, तो वह बड़े परिवार में रहकर भी पद्म पलाशवत् निर्लिप्त रह सकता है। कर्तव्य के रूप में सूत्रवत् जुड़ा परिकर मोह उनका ऋणानुबंध होता है और सहज कारुणिक होने के कारण परिजनों के दुःख से पीड़ित होना उनकी प्रकृति होती है। ऐसी पर दुःख कातरता तो उनके मन में सभी के लिये रहती है। वस्तुतः वे कर्म के रहस्य को समझने लगते हैं और उससे औपचारिक रूप में ही बंधे रहते हैं। यथार्थ में यह मीमांसा कर्म को देखकर उनके मूल में अवस्थित गुणों का परिचय है अन्यथा गुणों को जानने और उनके प्रवर्तन-चक्र को समझने वाला व्यक्ति तत्तद् गुणों की वर्तन सीमा को अधिक स्थायी बनाने का प्रयास करता है, जिसके परिणामस्वरूप ये उपरिलिखित कर्म उसके व्यवहार में स्वतः आने लगते हैं। देवता की उपासना, मंत्र का जप, सदाचार, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय, सत्पुरुषों की संगति, सद् विचार आदि का निर्माण करके अपने वातावरण को सात्त्विक और परम सात्त्विक बनाया जा सकता है।

इन्हीं कर्मों को अधिक सुगम बनाने के लिये शास्त्रान्तर में पाँच भेद किये गये हैं। बहिर्मुखी और अधोगामी कर्मों की बात यहाँ नहीं की जा रही, यहाँ केवल वही कर्म विचारणीय बना है जो आध्यात्मिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की सिद्धि के लिये किया जाता है सुविधा के लिये हम उन पांच प्रकार के कर्मों का नामकरण प्रसर्पण, इज्या, उपादान अध्याय और दचुति कर लेते हैं। अज्ञान से ज्ञान की ओर जाने के अथवा मुक्ति साधना के क्रमिक पदन्यास है।

प्रसर्पण में व्यक्ति में भक्ति भावना और भक्तार्जव का भाव उदित होता है। वह अपने उपास्य की नवधा भक्ति में प्रवृत्त होने के साथ-साथ उसके वातावरण के प्रति सम्मानपूर्ण ममत्व रखने लगता है। देवता के मन्दिर को झाड़-बुहारकर साफ रखना, उसे लीप/पोत कर स्वच्छ रखना, धूप आदि से सुवासित रखना, इसे प्रसर्पण में माना जाता है। इसके फल के रूप में साधक तन से भले ही यदा-कदा अस्वस्थ हो जाए, मन से सम्यक् स्वस्थ रहता है।

उपादान उन कर्मों को कहते हैं जब व्यक्ति देवता को प्रसन्न रखने के लिये विविध प्रकार की पूजा सामग्री जुटाता है, अपने आराध्य को शृंगार करता है, इष्ट देव की चर्चा से उसे रोमांच हो आता है और बार-बार उसी को सुनने के लिये आतुर रहता है। ईश्वर भक्तों के साथ स्वाभाविक आत्मीयता रखता है। ऐसा करने से व्यक्ति अपने इष्टदेव के परिकर में स्थान प्राप्त करता है और साधना करते-करते क्लृप्त धुल जाते हैं और वह देवता रूप हो जाता है।

इज्या का अर्थ यज्ञ होता है। साधक स्व की अतएव स्वार्थ को, भूल जाता है और अपने इष्ट के ही समर्पित हो जाता है। षोडशोपचार किंवा छत्तीस उपचारों से अपने आराध्य को रिझाने का प्रयास करता है। इष्टदेव के पीठ के प्रति उनके विग्रह जहाँ कहीं भी है उनके दर्शन/अर्जन करने की सहज लालसा से प्रेरित-प्रवृत्त रहता है। उसका कोई भौतिक आग्रह रहता नहीं और अभौतिक लक्ष्य उसके पूरे हो जाते हैं, यही इसका फल होता है।

अध्याय नाम से वे कर्म जाने जाते हैं जिनमें ज्ञान का उन्मेष होने लगता है इस स्तर पर आकर व्यक्ति शास्त्रों के तत्त्व को समझने लगता है, मंत्र के यथार्थ रूप को सुष्ठुभावेन हृदयंगम करता है, जप के उत्कृष्ट स्तर को प्राप्त कर लेता है। फल के रूप में वह देवता का सामुज्य लाभ करता है। दक्षुति, कर्म की प्रकृष्ट अवस्था है। इस स्तर तक आते आते व्यक्ति का ज्ञाननेत्र उन्मिषित हो जाता है। उसका कर्म परिणामी स्वरूप के जागतिक सामंजस्य से छिन्न होकर केवल आत्मगत चेतना को प्रकाशित करने का माध्यम मात्र रह जाता है। इस अवस्था में गुरु, देवता और आत्म का विभेद समाप्त होकर अव्याहत ऐक्य स्थापित हो जाता है, लिंगदेह से व्यक्ति लक्ष्य से एकरूप हो जाता है।

यह पंचसोपानी कर्म की अवस्था आस्थावान् व्यक्तियों के जीवन में अवतरित है। इसका विकृतरूप हमारे इतस्ततः हम देखते ही हैं।



विविध साधना विधियाँ और उनका लक्ष्य

संसार के दो गुण है—एक गति, दूसरा विस्तार। और ये दोनों ही साधना है अर्थात् साधन है। साधक है : प्रकृति और साध्य है : एकत्व। प्रकृति जिन विधियों से आत्म विस्तार करती हुई अन्ततः आत्मस्थ होती है, वही सिद्धि है। किन्तु इस साधना में और साधनों में जो विविध और विचित्र क्रिया-प्रतिक्रिया, मिश्रण-संयोग आदि हो रहे हैं वे ही इस विस्तार का रहस्य है और वे साधना के आधार हैं।

जिन लोगों ने इस प्रकृति को जिस दृष्टि से देखा, उनके लिये यह वैसी हो गई। फिर भी भारतीय कैलाश से इसे चतुर्दिक देखा गया और उसका निष्कर्ष सर्वाधिक संगत अतएव निर्दोष रहा। वेद इस दर्शन के मूल आधार है। यह असंशय भाव से कहा जा सकता है कि वेद ज्ञान का मूल स्वरूप है, अतएव आकर है। हिमाचल की सुरम्य उपत्यका में रह रहा मुनि आत्मचिन्तन और आत्मदर्शन के आयामों को दृढ़ता रहा था, उसने प्रातःकाल की सहज लालिमा को ज्ञानचक्षु से देखा था, इसलिये वह सम्मोहक दृश्य उसके मनस से उतरकर बुद्धि के अनाविल क्षेत्र का साक्ष्य बनकर ऋचाओं में गुंजरित हुआ था। अन्यथा इस दैनंदिन दृश्य में ऐसी क्या विशेषता थी जो उषःगान का आधार बनता? यह था उस आत्मचेता का विराट् में आत्मदर्शन जो सत्य का उद्घाटन करता हुआ नश्वर में शाश्वत को प्रकट कर रहा था।

वेद को क्रियान्वित करने के लिये वेदी आई। वेदी पर अग्नि और अग्नि में समिधा जुड़ गई। स्थूल दृष्टि से यह प्राचीन मानव की अनुसंधानप्रिय प्रकृति का रसायन-विज्ञान था। वेद का ज्ञान वेदी की क्रिया से समन्वित होकर विज्ञान का रूप ग्रहण करता जा रहा था। ऊपर आकाश में सहस्रांशु भास्कर और वेदी में अग्नि। अग्नि उनका साक्ष्य था, प्रमाण था और संसार के रहस्य की सम्यक् मीमांसा करने वाला दर्शन। इसी अग्नि के इतस्ततः विचार-विमर्श से परिपुष्ट उपनिषद् कहलाया। किन पदार्थों के हवन से क्या भौतिक फल मिलते हैं और किन परिणामों के लिये कौन से द्रव्यों का हवन किया जाए यह उन ऋषियों ने पुनः पुनः परीक्षण करके प्रतिपादित किया था। यह अग्नि पूजा और सूर्य का उपस्थान हमारी ही नहीं, प्राक्तन साधना पद्धतियों में भी अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकृत हुआ।

फारस देश ने हमारे अग्नि साक्ष्य को सहजभाव से स्वीकार लिया और वे अग्नि-पूजक बन गये। किन्तु उसी फारस के निकटवर्ती मरुस्थल में सोमपूजा का एक व्यावहारिक प्रवाद चला। परिणामतः अरब राष्ट्र चंद्र-पूजक बन गये, उनका पंचांग चन्द्र पर निर्भर करने लगा और अग्नि का प्रचण्ड तेजस् असह होने से यज्ञ उनसे छूट गया। उनकी उपासना धूप वा सुवास से सम्पन्न हो गई। वे केवल प्रार्थना पर केन्द्रित हो गये। भौगोलिक एवं स्थानिक परिस्थितियों से प्रभावित रहने के कारण उनके धार्मिक अनुष्ठान-कर्मकाण्ड की प्रचण्डता और उपकरणों के संभार से अपरिचित बने रहे।

अपने से अतिरिक्त और सर्वसमर्थ शक्ति वा शक्तिमान की कल्पना बुद्धि के उन्मेष का ही लक्षण है। जब व्यक्ति जड़ता के कठोर आवरण को भेदकर अनुसंधित्सु बनता है तो ऐसी आकांक्षा उदित होती है और उसका यही परिणाम निकलता है कि वह अपने से इतर को स्वीकारे, उसके विषय में अधिक सार्थक प्रतीति करें। इसके समानान्तर और इसके सर्वथा विपरीत एक वृत्ति और चलती रही जो इतर को नहीं स्व को ही सर्वस्व समझती थी। अर्थात् विश्वचेतना में विश्वास रखने वाली आस्था 'अहं' को प्रेरक तत्त्व किंवा इनी शियल फोर्स के रूप में मानने के कारण अन्तर्मुखी बनी रहती है। इसके विपरीत आत्मरति को बाह्य उपकरणों से प्रमाणित-पोषित करने वाली वृत्ति अहंकार तक विस्तीर्ण हो जाती है। एक ही तत्त्व की दो परस्पर विरोधी अभिव्यक्तियाँ, जैसे दिनमान में प्रकाशित दिन और तमसाच्छन्न रात्रि। यह वैषम्य ही संसार को परिभाषित करता है। इस अहंकारग्रस्त साधना विधि में स्व अत्यन्त उग्र रहता है इसलिये इसके लक्ष्य और सिद्धियाँ बहिर्मुखी रहती हैं। इन्हें हम आसुरी धारा के रूप में जानते हैं। पृथ्वी का मानदण्ड हिमाचल इस दृष्टि से भी एक सशक्त एवं प्राकृत नियामक है कि उसके दक्षिण में देवी सम्पत् और विमुक्ति का यज्ञ हुआ करता है तथा उसके उत्तर वा पश्चिम में आसुरी वृत्तियों का ऐन्द्रजालिक विकास होता रहता है। प्राचीनतम इतिहास के उपाख्यानों में हम देखें तो यह द्वैत स्पष्ट प्रकाशित दिखलाई देगा। रावण का पितामह पुलस्त्य आज के फिलिस्तीन में निवास करता था। यह दूसरी बात रही कि उसकी गवेषणा किसी प्रचण्ड लालसा से आक्रान्त नहीं हुई। किन्तु उसके अनुसंधानों का पूरा विवरण रावण को पैतृक सम्पदा के रूप में प्राप्त हुआ और उसने उनका पूरा लाभ उठाया। काबा का प्रसिद्ध मन्दिर, जो आज काबा की मस्जिद में परिवर्तित हो गया है, असुरों के गुरु शुक्राचार्य द्वारा स्थापित था। मय का दानवी वैभव आज मैक्सिको में दबा पड़ा है। रैड इण्डियन के नाम से जाने गये लोगों के पास बहुत ही ऐसी चमत्कारी विधियाँ हैं जो उसी आसुरी शैला की देन है। और तो और, वरमूडा के रहस्यपूर्ण त्रिभुज के सम्बन्ध में लोगों का कहना है कि वहाँ एक आसुरी सभ्यता समुद्रमग्न है। जब कभी वह

उभरती है तो अनेक प्रकार के मायावी चरित्र एवं घटनायें दृष्टिगत होती हैं। दजला और फरात की प्राचीन सभ्यता ऐसी ही विचार व विज्ञान-धारा की अनुवर्तक रही थी।

हिमयुग कहा जाए, लीलापुरुष का अवतार कहा जाए या कुछ और, है यह एक प्राकृतिक व्यवस्था कि वह किसी भी प्रभाव को अधिक समय तक टिकने नहीं देती। देवत्व के सुकुमार पाटल में क्रूर तीक्ष्ण कंटक अंकुरित करती रहती है, तो कालान्तर में उस समूचे पादप को भूमिस्थ कर देती है। इसीलिए हम उस प्रबल आयुरी सभ्यता के अवशेषों को उपाख्यानों में ढूँढ़ते हैं और अपनी-गति-मति के अनुसार उनका संयोजन करके आत्मतोष कर लेते हैं।

बात थी साधना पद्धति की। आसुरी विधि स्व के संकीर्ण से अतिरिक्त कुछ जानती नहीं, इसलिये वह प्रेयस् को तलाशती है। उसका वासना वितान जितना विस्तारित होता है उनका ही उसका अहंकार दुर्मुद होता चला जाता है। आत्मेतर को वह मानता नहीं, इसलिये कोई नियंत्रण वा मर्यादा उसे स्वीकार नहीं होती। परिणामतः यथेच्छ व निरंकुश उपभोग ही उसकी साधना विधि है। बृहस्पति (सुरगुरु नहीं) और चार्वाक जैसे देहवादी प्रेयार्थी थे, इसलिये उनकी अर्चा अनियंत्रित इन्द्रिय लोलुपता से अधिक नहीं रही।

बुद्धमत के अनुयायी भी देहात्मवादी होने के कारण संसार को दुःख का आगार मानते हैं तथा मानवेतर किसी सत्ता को नहीं मानते। उन पर वेदों का नहीं, तंत्रों का प्रभाव अधिक है। इसलिए उनकी धर्म संहिता में विचित्र प्रकार की व्यवस्थायें मिलती हैं। तथागत को 'तंत्र भवान्' मानकर जो जातक कथायें सुनाई जाती हैं, उनमें अहिंसा आदि अष्टांगयोग व यम नियमों पर जोर देने की बात रहती है। किन्तु हीनयान और वज्रयान की भिन्न साधना विधियाँ अब तंत्र के वामाचार की तरह अपने यथार्थ, अतएव उदात्त, स्तर से च्युत होकर लुप्त होती जा रही है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बौद्धमत की परम्परा में अनेक सिद्ध हुए हैं। आज भी हिमाचल की दक्षिणी एवं पूर्वी उपत्यका 'मणिपद्मे हुम्' से अनुनादित है। आज भी अनेक मठ किसी एकांत में या विजन वनप्रान्तर में मिल जायेंगे जहाँ कोई साधु अपने साधना चमत्कार को सुगोपित एवं संप्राण रखे हुए है। हमारे लिए यह साधना विधि अधिक अनुकूल नहीं पड़ती क्योंकि हमारी परम्परा परमात्मवादी है तथा इस विषय की प्रमाणिक सामग्री उस सम्प्रदाय के पास निक्षिप्त है।

जैनवाद भी हमारी इसी धरती का उत्पादन है। जैनियों के तीर्थंकर वैष्णवों के समाज में भी समाहृत है। उनकी तपस्या बहुत उत्कृष्ट है। मुनि, ऐलक, क्षुल्लक जैसे साधुओं की साधना भी अत्यन्त कष्टकर एवं कामनाओं पर विजय करने की बल साध्य

तपस्या रही है। उनकी साधना का लोकपक्ष भी रहा है। पद्मावती के यंत्र की उपासना से हमारे जागतिक कष्ट एवं अभाव दूर हो जाते हैं। ऐसी ही अनेक सामान्य साधनायें हैं। उनकी पूजा विधि एवं कर्मकाण्ड में कोई विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि जहाँ उस पूजा का लक्ष्य बहिर्मुखी होता है वहीं उसका कर्मकाण्ड भी वैसा ही हो जाता है। स्थूल लक्ष्यों के लिये बाह्य सामग्री आवश्यक रहती ही है, तदपि उसका उतना प्रचार नहीं है जितना वैदिक एवं तांत्रिक शैली में रहता है। मूलतः वे तपस्या पर बल देते हैं और उसके द्वार सबके लिये अनावृत हैं। इन्द्रियजय और तामसी भावों पर नियंत्रण उनकी साधना का चरम लक्ष्य होता है। इस दृष्टि से वे वैदिक अथवा शाक्त साधना से लक्ष्यगत साम्य रखते हैं। यह दूसरी बात है कि उनकी निर्वाणवस्था तंत्र के परम के समकक्ष नहीं है।

अरब से आया मुस्लिम धर्म भी संसार के प्रमुख धर्मों में से एक है। इसकी साधना में आचरण पर अधिक स्थान दिया जाता है। धर्मनिष्ठ मुसलमान अपने व्यवहार एवं आचरण में किंचित् भी प्रमाद वा स्खलन नहीं आने देता। व्रत और उपवास इनकी निष्ठा के प्रमाण माने जाते हैं। यद्यपि ये मुक्ति को नहीं मानते फिर भी इनके धार्मिक तत्त्व मनुष्य को नैतिक व ईमानदार बनने की प्रेरणा अवश्य देते हैं। निर्गुण ब्रह्म के उपासक होकर भी ये पैगम्बरों को पूजते हैं, किन्तु उन पैगम्बरों के चित्र अथवा प्रतिमा नहीं रखते। इसलिए इनकी साधना में इबादत ही प्रमुख होती है। सुगन्ध के लिये इत्र वा अगरबत्ती एवं फूल इनके उपचार रहते हैं। कई काम्य प्रयोगों के लोंग और इलायची जैसे पदार्थ भी प्रयोग में लाए जाते हैं। किन्तु इनकी साधना विधि बाह्य आडम्बर से मुक्त रहती है। खुदाबन्द से सीधे सपाट शब्दों में याचना करना इनकी सरलता का प्रमाण है। परी और जिज्ञात को ये मानते हैं इसलिए इन्हें सिद्ध करके आयत्त करने की विधि व विद्या भी बताते हैं। इनके सर्वमान्य धर्मग्रंथ 'कुरान' के अनुसार झाड़ू फूंक या गण्डे ताबीज करना निविद्ध है, तदपि पाँच बार नमाज पढ़ने वाला मौलाना कुरान की कोई आयत्त पढ़कर फूंक मार देगा तो सामान्य संक्रामक (ओपरी) व्याधि दूर हो जायेगी—ऐसा इन लोगों का विश्वास है। इस धर्म में अनेक सन्त वा सिद्ध हो चुके हैं जिनकी शाबरी शैली के मंत्रों में स्मरण किया जाता है। हमारे जीवन की अनेक कठिनाइयों में मुसलमानी मंत्रों का प्रयोग बहुत उपयोगी एवं प्रभावशाली सिद्ध हुआ है।

ईसाई मुसलमानों से भी अधिक स्पष्ट है। वे मुक्ति के लिये नहीं, सन्तुष्टि के लिये अधिक सोचते हैं। उनका प्रेमवाद सर्वब्रह्मवाद जैसा है। ईसाई के जीवन में कर्मकाण्ड उतना नहीं है पर मुसलमानों की तरह प्रार्थना उनके आचरण में अवश्य है। दिन में पाँच

बार प्रार्थना करने की परम्परा भी उनमें नहीं है। किन्तु दया और प्रेम के वे उपासक हैं और भगवद्विवासी तथा धर्मभीरुता उनके जीवन में रहती है। पूजागृहों में जाकर सामूहिक प्रार्थना करना उनका धार्मिक आचरण है और सच्चे ईसाई की पहचान। निराकारवादी रहने से उनके यहाँ किसी देवता का चित्र नहीं होता, न ही यज्ञ-यागादि होने से इस प्रकार का कोई संभ्रम उनके यहाँ दृष्टिगत होता है। काम्य प्रयोगों में वे कमाण्ड विधि का प्रयोग करते हैं। कमाण्ड का अर्थ होता है, व्यक्ति अपने आपको आदेश देता है अथवा वह अपनी इच्छाशक्ति को उदीप्त करके उसके माध्यम से कार्य सम्पादन करता है।

अफ्रीका जैसे देशों में इन्द्रजाल, अतएव आसुरी संस्कृति के प्रति अधिक लगाव होने के कारण वैसी ही उनकी विधियाँ हैं। सामान्य ओझागीरी एवं मारण-मोहन आदि कर्म वे शाबर अथवा ग्राम्य विधियों से सम्पन्न करते हैं। मुक्ति-जैसी अवस्था उनके चिन्तन में नहीं है पर सामान्यजन को पीड़ित करने की विद्या उनके पास है।

जैसा प्रारम्भ में लिखा जा चुका है, “भारत तपोभूमि है और तप है उदात्त कर्म, इसलिये यहाँ का चिन्तन उत्कृष्ट भी है और व्यापक भी।” सिख, कबीर जैसे सम्प्रदाय यहाँ है पर उनका प्रवर्तन व्यक्ति ने किया है, इसलिये वे कबीर का दर्शन अथवा सिखों की वाणी के रूप में ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके हैं। इन सन्तों के नाम पर प्रचलित पन्थ ईसाई या मुसलमान की तरह व्यक्ति को सदाचारी होने की प्रेरणा देते हैं। मुक्ति के लिये तो इनको भारत के सनातन चिन्तन और पारम्परिक साधना विधि को ही स्वीकार करना पड़ता है।

भारत का चिन्तन जितना तलस्पर्शी है, उतनी ही उसकी उपासना विधि भी व्यावहारिक एवं उपयोगी है। यहाँ की उपासना में साकार-निराकार जैसी स्थापनायें तो अवश्य हैं, और भक्तिमार्गी अपनी श्रद्धा किसी प्रतीक को समर्पित करके ही कृतार्थ होते हैं, किन्तु उनका आराध्य इतना समर्थ, व्यापक और वैश्विक है कि वह साकार होकर भी निराकार से कम नहीं लगता। चिन्तन को मूलतः और परिणामतः उसी शून्य में लीन होना है जो चिन्तन से अतीत है। तदपि यहाँ की उपासन को तदनुसार विधियों को—हम तीन धाराओं में विभाजित कर सकते हैं। एक ज्ञानमार्गी जिसमें योग और तंत्र दोनों ही आते हैं। द्वैत और अद्वैत जैसे चिन्तन भी परिणामीरूप में ज्ञानमार्गी ही है। आनन्दमार्ग के दो स्वरूप हो जाते हैं। एक शाक्त और दूसरा वैष्णव। वैष्णव धारा पुराणकाल से पल्लवित हुई और अवतारों के लोकोत्तर चरित्र में ईश्वरत्व के दर्शन करके श्रद्धास्पद बनाने में पुराणों की बहुत बड़ी भूमिका रही है। यथार्थ में व्यास भगवान् ने सत्य की बुद्धिग्राह्य बनाने के लिये

राम और कृष्ण को नायक के रूप में प्रस्तुत करके मनुष्य के तेजस् और कर्मगौरव की प्रतिष्ठा की है। वे प्रत्येक व्यक्ति को भगवान बनाने की बात नहीं करते किन्तु व्यक्ति के अभ्यन्तर में छिपे ईश्वर को प्रकट करने की प्रेरणा देने से नहीं चूके। इस अवतारवाद का मूल वेद में भले ही न रहा हो किन्तु इनके मन्दिर और मूर्तियाँ बनाकर उनकी प्रतिष्ठा करते समय वृहद् यज्ञों का आयोजन करने की परम्परा वैष्णवों के वेद और पुराण की गंगाजमुनी झलक देती है। यही एक कारण है कि वैष्णवी उपासना में कर्मकाण्ड प्रच्छन्न नहीं होता, वह अपने अनुष्ठान को असंदिग्ध-सम्पूर्ण बनाने के लिये विविध प्रतीकों का पूजन करता है। वह पूजन श्रद्धापूरित होने के कारण उपचारवती है। यह भिन्न बात है कि वैष्णवों की उपासना-विधि में अथवा उनके गार्हस्थ जीवन में आयोजित अनुष्ठानों में गणपति, षोडश-मातृका एवं नवग्रहादि के रूप में हम वर्णमालिका को ही प्रस्थापित करते हैं जो शाक्त दृष्टि का निर्णय है। दूसरी विधि है तंत्र की जिसे आगम कहा जाता है। तंत्र में शक्ति को आराध्य माना जाता है। शिव आगम के वक्ता है और वे ही इस समस्त चराचर में व्याप्त है। उनका संकल्प ही शक्तिस्वरूप होकर इस क्रियामय जगत् में विलास करता है और प्रलय-काल में वे ही अपने संकल्प को संवृत कर विनाश का उपक्रम रचते हैं। इस दृष्टि से शिव शाक्त सम्प्रदाय के परम आराध्य हैं। फिर भी वे शिवा को प्रकट विग्रह मानकर उसे पाने, आत्मस्थ करने की, साधना करते हैं। हम केवल वामाचार से ही परिचित हैं, जबकि तंत्र में पाँच आम्नाय प्रसिद्ध है। गणपति, शिव, दस महाविद्या तंत्र की साधना-विधि में परिगणित है। गणपति की उपासना की विविध-विधियों को देखकर हम चौंक सकते हैं, क्योंकि काम्य कर्म के लिये निष्ठा से उनकी प्रतिमा बनाकर अनुष्ठान किया जाता है। कई प्रयोगों में उनकी प्रतिमा को झूठे पानी (कुल्ले) से स्नान कराया जाता है। उच्छिष्ट गणपति का विश्रुत प्रयोग करने वाले तो आज भी अनेक मिल जायेंगे। भगयाग जैसे गुह्य-आयोजन आज यद्यपि सीमित होते जा रहे हैं, तो भी उनमें एक यथार्थ था और वह विधि-व्यवहार में रही थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। श्मशान की भयावह नीरवता में साधना कर रहे कापालिक को देखकर गीता का वाक्य स्मरण हो आता है “जब संसार सोता है तब मुनि जगता है।”

सामान्य जीवन की विभीषिकाओं अथवा जन-सामान्य की कामना व अभावों की पूर्ति के लिए तंत्र की पद्धति जटिल भले ही हो, सामर्थ्य में कम नहीं है। वैसे ऐसी विसंगतियों के लिये वैष्णवी धारा में भी उपचार बताये गये हैं। यही मंत्र जब अधिक सुबोध बनता है तो यंत्र की आकृति ग्रहण कर लेता है। यंत्र में हम उस शब्द के कम्पन

की मूल स्थिति एवं तज्जनित रेखावस्था को कल्पित करते हैं और उसके समग्र परिकर को जानते-पूजते हैं। पूजनीय और धारणीय, दो प्रकार के यंत्रों में शक्ति की मूल एवं विशिष्ट दिशा की ओर उन्मुख स्थिति को चित्रित करते हैं। तंत्र के नाम से प्रचलित पद्धति में यद्यपि मंत्र और यंत्र दोनों का समावेश है, फिर भी यह जीवन की साधारण विसंगतियों अथवा सम्मोहनादि षट्कर्मों के निमित्त रासायनिक विधि को प्रयोग में लेने की एक सरल विधि है जिसे टोटके के नाम से जाना जाता है। तंत्र का यह ऐन्द्रजालिक-टोटकेबाजी-का प्रकार जन-साधारण की आकांक्षापूर्ति का एक मार्ग है, अन्यथा तंत्र के नाम से प्रचलित अतिविशद साधना संसार के समस्त ज्ञात साधना-मार्गों से उत्कृष्ट है और उनकी विमुक्ति अति दिव्य अवस्था है। तंत्र की ही यह विशेषता है कि वह कोण नहीं दृष्टि बदलता है। वैष्णवों जैसा अशुद्ध अस्पृष्ट शाकाहार उसमें है तो कापालिकों का घृणा से घृणा करने का सर्वस्पृष्ट मांसाहार भी। मनुष्य की सहज आकांक्षा की उपेक्षा करके वह कुटुम्ब-कलह का अन्तःसंघर्ष नहीं करता प्रत्युत उसे परिष्कृत करने के लिये दृष्टि का उन्मेष करता है, उसे मर्मदर्शी और विस्तृत बनाता है। यही वैशिष्ट्य उसे मनुष्य की सामान्यता के निकट लाता है। किसी भी धर्माचरण की विविध शर्तें खड़ी करने से वह संकुचित ही रहता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के पक्षधर समाज में धर्म ऐच्छिक बन जाता है तथा ऐसे परिवेश में यदि धर्म वा उपासना को प्राचीन-संहिता से एवं मर्यादा से निगडित कर दिया जाता है तो लोग उससे या तो डरते हैं या उपेक्षा करते हैं। परिणामस्वरूप धर्म का प्राप्तव्य आत्म-स्वातंत्र्य अथवा मुक्ति लोगों की कल्पना से दूर चली जाती है। आध्यात्मिक जगत् में जिसे मुक्ति कहा जाता है उसका भौतिक रूप भी होता है। उसका फल भी व्यक्ति एवं समाज को मिलता है और वह फल होता है : नैतिकता, धर्मपरायणता एवं उत्कृष्ट मानवीय गुण। तंत्र ने अपनी साधना-विधि को इतना निषेध पूरित नहीं किया कि व्यक्ति उससे त्रस्त होकर उधर की बात सोचे ही नहीं। बल्कि उसने साधारणजन के जीवनक्रम में कोई अतिरिक्त व्यतिक्रम उपस्थित किये बिना दृष्टि-परिवर्तन की सुकर विधि बतलाई, जैसे किसी के पास साधन वा सुविधा न हो तो वह रेत पर ही चित्र बनाने की कोशिश करने लगे या मिट्टी से मूर्ति बना ले।

यह सारा विश्लेषण भारत का शिक्षितजन जानता है। अशिक्षित भी ऐसे चिन्तन की समग्रता से न सही एक पक्ष से परिचित तो है ही। फिर भी इस पर विहगदृष्टि डालने का एकमेव कारण यह रहा कि हम आस्तिक हैं इसलिये हमें इन विचारों एवं शैलियों का सामान्यज्ञान होना ही चाहिए। मैंने आस्तिक के साथ हम जोड़ा है। इसका

अर्थ यह है कि संसार में नास्तिक कोई होता ही नहीं। विशेषकर इस अर्थ में कि “भगवान् को न मानने वाला नास्तिक होता है।” कारण कि भगवान् कोई इतनी छोटी-सी सत्ता नहीं कि वह एक व्यक्ति के न मानने से मन्द या तिरोहित हो जाए। दूसरे, भगवान् को अस्वीकार करना एक पारिस्थितिक प्रभाव है। जैसे व्यक्ति पर भौगोलिक वा सामाजिक प्रभाव पड़ते हैं और वे उसको बाध्य कर देते हैं, वैसा ही यह प्रभाव है। अन्यथा उसे न मानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तविक अर्थ में नास्तिक वह होता है जो निषेध में जीता है। आधे-भरे घड़े को आधा खाली कहने वाला भी एक तरह से नास्तिक है। क्योंकि वह अस्ति को नहीं, नास्ति को देखता है। ऐसे ही असद् भाषण करने वाला भी नास्तिक कहा जाता है। जो नहीं है उस पर विश्वास करने वाला या निषेध पर चलने वाला नास्तिक कहा जाना चाहिए। नास्तिक के इस निषेध या असत् का मूल आधार भी सत् और अस्ति ही है, जैसे आधा खाली घड़ा खाली इसलिये है कि आधा भरा हुआ है।

इस सारे विवेचन को पढ़कर हमें यही निर्णय करना है कि जब हम नास्तिक हैं ही नहीं और हो भी नहीं सकते तो आस्तिकता का चरम लक्ष्य किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। उस तक पहुँचने का कौन-सा मार्ग हमारे अनुकूल है, यह निश्चित कर लिया जाए।

□ □ □

अशिव दृष्टि

“हम पिछड़े हुए हैं”—कितना अपमान जनक वाक्य है फिर भी हम हैं कि सुनते चले जा रहे हैं। ऐसा नारा कौन लगा रहा है ? एक दर्प, एक दंभ ऐसा मंत्र जाप कर रहा है। जिसने अपने शोषणजीवी अहंकार का पराभव आज तक स्वीकार नहीं किया वही आहत दर्प-सर्प कह रहा है—“तुम पिछड़े हुए हो”। इसमें कोई संशय नहीं कि हम पिछड़े हुए हैं, पर कैसे हैं—इसके आयाम उन्होंने निर्धारित किये हैं। हमारा पिछड़ापन किस क्षेत्र में है, यह तथ्य विवादास्पद है। अपनी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति से पीड़ित जातियाँ हमारे यहाँ आई, हमें दलित कर गई। उनके रणदुर्मद चरित्र को हमारा विकीर्ण और आत्मरत राजस्व चुनौती नहीं दे सका। यहाँ अपने पैर रखकर उनको जमाये रखने के लिये उन्होंने मनोवैज्ञानिक रीति अपनाई। युद्ध में पराजित को मन में विजित करने के लिए उन्होंने हमारे इतिहास को वर्तमान परिप्रेक्ष्य से तोला। एक अनावश्यक युक्ति की कील हमारे मुख में ठोक दी—“आज तुम क्या हो ? तुम्हारे राम पुष्पक में बैठकर आये थे, पर तुम एक चिड़िया बनाकर नहीं उड़ा सकते।” इसका हमारे पास कोई उत्तर नहीं था। यह सच है कि इतिहास से व्यक्ति जी नहीं सकता किन्तु इतिहास से कटकर तो वह अपनी पहचान भी खो देता है। यही हमारे साथ हुआ। एशिया और अफ्रीका के जो प्रदेश उपनिवेश थे, उन सबके साथ ऐसा ही हुआ। याने अपने व्यामोह के कारण जो देश पराजित हो गये थे, उन सबको हीनभाव से प्रताड़ित करने के लिये उन्हें अहर्निश यह समझाया गया कि वे पिछड़े हुए हैं। किन्तु क्यों हैं—यह सोचने का अवसर नहीं दिया गया। न वे क्षेत्र बताये गये, जिनमें वे पिछड़ रहे हैं। हम पिछड़े क्यों हैं—यह विश्लेषण हमारे जिम्मे हैं। पर वास्तव में हम पिछड़ रहे हैं या हमें पिछड़ा बने रखने के लिये एक सुनियोजित षडयंत्र रचा जा रहा है—वह एक गंभीर विवेचन का विषय है।

पिछड़ापन स्वतंत्र स्थिति नहीं है, सापेक्ष अवस्था है। यथार्थ में कोई भी व्यक्ति पिछड़ा होता ही नहीं। प्रकृति का स्वभाव विकास है, पिछड़ना नहीं है। फिर भी एक देश पिछड़ा हुआ हो, यह तो संभव ही नहीं। हम पर यह आरोप विशेषतया निरर्थक है, क्योंकि हम पिछड़े हुए होते तो हमारा दर्शन, हमारा धर्म, हमारा प्राक्तन-विज्ञान उन देशों

के राजमार्गों पर रथयात्रा नहीं करता। उस शीत प्रदेश के लोगों का मुण्डन नहीं करता। धर्म-दर्शन और प्राचीन विज्ञान की बात गले नहीं उतरती। कोई बात नहीं, हम उनके ही आयामों पर विचार करते हैं। उन तथाकथित विकसित देशों की उन्नति और ऐश्वर्य, सुविधा और संहारक शक्ति के मूल में क्या ये पिछड़े लोग नहीं थे या नहीं है ? विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में अति समुन्नत आविष्कारों का श्रेयांश, क्या इन पिछड़े लोगों को नहीं है ? उनकी कई सेवाओं के सुचारू रूप से चलते रहने के लिये क्या ये पिछड़े लोग समर्पित नहीं है ? वहाँ की वनाली को शस्यसम्पन्न करने में क्या कृष्ण पृथु (अफ्रीकी) का कर स्पर्श नहीं हुआ ? क्या उनके देश की धरित्री को रत्न प्रसू बनाने के लिये इस विवर्णवर्ग ने अपने रक्त से नहीं सींचा ? फिर भी ये देश पिछड़े हुए हैं ? इससे अधिक कृतधनता क्या होगी ? हमने परमोपयोगी कार्य कराने के प्रतिफल में शुद्र को महत्तर कहा। अपनी समाज चर्या में उसका अनिवार्य महत्त्व स्वीकार किया। वे इतना भी नहीं कर सके। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि रूस के पास पनडुब्बियां हैं, अमरीका के पास बेड़ा हैं। फिर भी वे एक दूसरे को पिछड़ा क्यों नहीं कहते ? क्योंकि दोनों के पास स्वाभिमान है, दोनों उसकी रक्षा करने के लिये जागृत है, प्रतिबद्ध है। पर हम पराजित हुए थे, पराधीन रहे थे, इसलिये हम झेंपते हैं और वे हमें चिढ़ा देते हैं। भौतिक साधनों और विरल जनसंख्या और भौगोलिक विकटता के कारण हम मशीनों के ढेर में दब नहीं सके, इसलिये हम पिछड़े हुए हैं। हमारे यहाँ राष्ट्रीय आय और उसका समुचित वितरण नहीं है, इसलिये हमारा जनजीवन दरिद्रता से ग्रस्त है। पर क्या हम सर्वतः पिछड़े हुए हैं ? जिस देश के पास जनबल है वह पिछड़ा हुआ कैसे हो सकता है ? जो संसार का विशालतम जनतंत्र है वह पिछड़ा हुआ कैसे कहा जा सकता है ? फिर भी “हम हैं” याने सोने में सुगन्ध नहीं है।

इसी का विश्लेषण करें। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारे यहाँ बहुत काम हुआ है। हमारे विकास का अनुमान क्या इससे नहीं लगाया जा सकता कि इतना ऋण और विदेशी मुद्रा कमाने पर भी हमें धन की कमी रहती है ? अर्थात् हमारे विकास की गति तीव्रतर है। यह दूसरी बात है कि जनसंख्या के अनर्गल प्रसार से हमारे विकास का राजमार्ग संकरा होता जा रहा है। कोई आश्चर्य नहीं कि कल विकसित राष्ट्र यह हो। अपने पिछड़ेपन से हम मना नहीं करते। जिन क्षेत्रों में अभी हमें बहुत कुछ करना है वे हमसे अपरिचित नहीं हैं। इसके लिये सर्वज्ञात तथ्य कि हमारे में नैतिकता का ह्रास हो रहा है, हमारे में राष्ट्रीयता नहीं है, हम अपना आकर्षण खो चुके, इससे हम उत्तेजित नहीं होते। ये मुहावरे हमारे होठों से कानों के बीच छितरा रहे हैं, चिन्तन से चरित्र तक नहीं फैल रहे।

यह दोष हममें निसर्गतः नहीं था, संसर्गजनित था। विदेशी शासक के लिए यह देश मातृभू नहीं था, वह इसका दोहन करने आया था। उसका स्व अर्थहीन नहीं हुआ था। वह अपने देशीय हित और जातीय गौरव के अतिरिक्त जो कुछ प्राप्त कर सकता था, करता रहा और इस तरह शासन का उपदेश धीरे-धीरे फिरंग बन गया। हाँ वैसी

ही कष्टकर और जुगुप्सित व्याधि और हम उसे वहन करने, संक्रमित करने, को विवश हो गये। दुखद बात तो यह है कि जिस शिक्षा पर हम विनियोग कर रहे हैं वही शिक्षा लक्ष्यहीन है। इसका सामंजस्य मानवीय और नैतिक मूल्यों से है ही नहीं, न इसका व्यवहारिक जीवन से कोई तारतम्य ही है। इस प्रकार की तिरस्कार केन्द्रित शिक्षा हमारी कुण्ठा को भीतर-ही-भीतर गहराती जा रही है और हम मनसा हारते जा रहे हैं। परिणाम यह सामने है कि हमारा सौन्दर्य बोध लुप्त होता जा रहा है। सौन्दर्य स्वामित्व है, असुन्दर दासता है, कदर्प है, आत्मपराजय है। सौन्दर्य का अर्थ बाह्य देह से नहीं, रुचि से है, संस्कार से है, शैली से है, जो हमारे आभ्यान्तर से बाहर निकलते हैं। हमारे आसपास को रुचिसम्पन्न बनाते हैं, चक्षु प्रसादन अतएव रम्य करते हैं। सौन्दर्य सत् के व्यवहरणीय बनने का चरम है। सत् ही शिव होगा और शिव ही सुन्दर होगा, जो सुन्दरता से प्रेम नहीं करता वह सत् भी नहीं हो सकता। सौन्दर्य एक ह्लादिनी शक्ति है। सौन्दर्य का विन्यास ही कला की विविधता है। कलाशून्य जीवन वस्तुतः पिछड़ा हुआ है और इस अर्थ में हम पिछड़े हुए हैं।

इसी तथ्य को विस्तार से समझने के लिये हम कहें या हमारे इतस्ततः देखें तो सब कुछ समझ में आ जायेगा। एक सामान्य शिकायत है कि हमारे यहाँ स्तर का ध्यान नहीं रखा जाता। हम सब इस बात से दुःखी हैं कि आज जो चीज नई आई है, वह धीरे-धीरे अपना स्तर खो देगी। जहाँ वह प्रिय हुई वहीं उसका स्टैंडर्ड और क्वालिटी गिर जाते हैं अनेकों देशी उत्पादनों की ऐसी कहानी है। अर्थात् हमारे आभ्यान्तर में बैठा पिशाच उस प्रियता से क्षुब्ध हो उठता है और जनरुचि को कुण्ठित कर देता है। हमारी विवशता है कि मोटर के दो-तीन माडल ही हम देखते रहे, अतिपरिचय की अवज्ञा और निरन्तर सम्पर्क की उत्तेजन शून्यता भोगते रहे। सौन्दर्य सत् होकर भी नित्य नया दिखता है। स्थिरता सत् का उत्कृष्ट रूप हो सकता है, पर गतिधर्मिणी प्रकृति तो परिवर्तनशील है, परिवर्तन ही उसका सौन्दर्य है। इससे अधिक त्रासदी क्या होगी कि इतने बड़े देश में एक अच्छा ब्लेड नहीं बनता ? कभी कोई बना भी था तो उसका अगला संस्करण जनरुचि के साथ अतिचार कर बैठा और हमारी विवशता भरा दैन्य यह कि उसी घटिया को व्यवहारते रहे। हम इस लोकाचार को भूल सकते हैं कि सुन्दर सत् भी होता है याने स्तरीय वस्तु की

आयुष्य अधिक होती है और उसमें एक आकर्षण होता है। समाज की स्वीकृति बहुत मूल्यवान होती है और हमारे व्यवसायिक चरित्र को यह मुग्धता ही है कि वह काठ की हंडिया को एकबार चढ़ाकर ही सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहता है। संभव है, वह यह समझता है कि एकाधिकार में सौन्दर्य को निखारने की आवश्यकता नहीं होती। हमारा घर, आंगन तो मोहक हो ही किन्तु नगर और ग्राम के मार्ग, चतुष्पथ, उपवन इत्यादि और अधिक स्वच्छ दीप्त रहे क्योंकि ये हमारे सौन्दर्य बोध के सामाजिक प्रतीक हैं। किन्तु हम इनके प्रति संवेदनशील कहाँ हैं? जो सबका है वह किसी का नहीं, जिस वस्तु अथवा स्थान के प्रति सबका ममत्व होना चाहिए, जिसे सुन्दर रखने के लिये सभी को सावचेत रहना चाहिए, उस पर सभी आक्रमण कर रहे हैं। उसे विरूप करना हमारा स्वभाव हो गया है। सामयिक भाषा में इसे हम कह सकते हैं कि हममें नागरिक चेतना क्षीण हो गई है। छोटे-छोटे देशों के मार्ग, उद्यान अथवा अन्य सार्वजनिक स्थान कितने साफ रहते हैं। फिर हम संख्या में इतने अधिक हैं, हम उन्हें उनसे कई गुना अधिक साफ रख सकते हैं, किन्तु हम में सौन्दर्यबोध नहीं रहा। आज स्थिति यह है कि कूड़े के अम्बार और कुरूप गन्दगी से शहर की विशालता का अनुमान लगाया जाता है नालियों या सामाजिक मार्गों पर शौच करने वालों का कुत्सित दृश्य हमारी नागरिक संचेतना की व्याख्या करता है क्या यह असुन्दरता हमें और दरिद्र बना रही है? क्या यहाँ का सर्वजन हिताय और सुखाय से छिन्न हो चुका है? यदि ऐसा है तो हमारे पिछड़ेपन का दैन्य दूर नहीं हो सकता।

सौन्दर्य प्रशंसा और पूजा तो सत्य का सम्मान है। सत्य की अवमानना हमें आगे नहीं ले जाती, पीछे धकेलती है। सत्य को सौन्दर्य से छिन्न कैसे कर सकते हैं? हमारे प्राचीन कला साक्ष्य बिखरे पड़े हैं, ताजमहल, कोणार्क और खजुराहो के प्रस्तर-वैभव हमारे सौन्दर्य-बोध के जीवन्त प्रमाण हैं। पर हमारा असुन्दर इतना उत्कट हो उठा है कि उनकी भित्तियाँ पर क्षुरधार से या कोयले से अपने आगमन का सतिथि हस्ताक्षर अथवा अन्य कुरुचिपूर्ण वाक्य लिखने की जनरुचि पनपती जा रही है। रेलवे के शौचालयों अथवा ऐसे ही अन्य स्थानों पर जो अशालीन अंकन किया जाता है, वह हमारे मानसिक विकार का ही सूचक है। एक प्राचीन मूर्ति-संग्रहालय में रखी मूर्तियों को देख रहा था। कला के अद्भुत प्रतिमान थे वे मूक प्रस्तर खण्ड। पर आश्चर्य मिश्रित क्षोभ तब हुआ जब उन सारी नारी मूर्तियों के उरोजों पर काली मेल की परत चढ़ी देखी। निश्चित था उनको देखने वाले दर्शकों को सौन्दर्य का सम्मान करना और कला का अभिनन्दन करना नहीं आता था और वे उन्हें हाथों की गन्दगी से अधिक वैचारिक कुत्सा से छूते थे। उनका सौन्दर्य बोध मर चुका था, उनमें कला कभी प्रकट हुई ही नहीं थी। दैन्य वस्तुतः आत्महीनता का

पर्याय है। अशिव दर्शन का विकार हमारे विचार को विरूपित करता जा रहा है और हम सम्पन्न होकर विपन्न-दरिद्र समझे जा रहे हैं। अपने आपको मानते भी जा रहे हैं। यह अशिव हमें तो पराभूत कर ही रहा है, उनके छद्म को भी अनावृत करता जा रहा है।

यह था अशिवदृष्टि का एक पक्ष। दूसरा पक्ष उस अहंकार-पराजित वर्गमें जो दूसरों को पिछड़ा इसलिये कहता है कि इससे उनको अग्रणी मान लिया जाए। माना उसकी दृष्टि शिवस्नेही है, किन्तु उनमें विनय और विश्वास नहीं है। इसलिये उनके कृत्य शंकर कल्याणकर नहीं है। 'शुभ' किवा 'शम्' आत्मभृत् होता है और इस आत्मभरण के कारण वह परभीत नहीं है। उसे भय होगा किससे ? सत् को, शुभ को, अतएव शिव को, भयभीत करने का कोई आयाम होता ही नहीं। भयभीत होने की अवस्था अशिव को, अशुभ को, असत् की होती है। कारण कि सत् के उपस्थित होने पर वह 'अ' की अभावामक अवस्था समाप्त हो जाती है। शिव की अनुपस्थिति अशिव होती है अशिव की उपस्थिति वास्तविक सत्-ता नहीं है। पूर्व पृष्ठों में हम अनात्मवादी दर्शन की अवकाश भूमि पश्चिम को मान आये हैं और

यह दर्शन आत्मवाद से विरोध करने के लिये प्रतिबद्ध है। उसका अस्तित्व ही इस विरोध पर निर्भर करता है। इसलिए पश्चिमी चिन्तन हमारे आस्थाबल का उपहास उड़ाता है। किन्तु उसमें भी एक प्रच्छन्न अशिव विद्यमान है जिसकी अभिव्यक्ति उस समग्र देश के भय में होती है। अपने भय से पराजित वे देश, विनाश के उपकरणों को जुटा रहे हैं। संहार की स्पर्धा उसकी रक्षा की अभेद्यता और अमोघता के आवरण में प्रकट हो रही है। हम मानते हैं कि उनकी दृष्टि सौन्दर्यप्रिय है और इसीलिये वे शिव-साधक माने जा सकते हैं, किन्तु उनकी शैली में विश्वास व्यक्त नहीं होता। उनकी यह शिवाराधना एक अज्ञानावृत व्यक्ति का उत्साह युक्त प्रेम है। हम जिस शिव को आत्मनि प्रकट करना चाहते हैं वह सज्ञान अवस्था में किया जाने वाला तप है, जबकि उनका उपक्रम शिवत्व और सौन्दर्य को साधना से प्रसन्न करके उसका दुरुपयोग करना चाहता है। भस्मासुर की तपस्या अथवा रावण की सिर काट चढ़ाने वाली घोर साधना, साधना के रूप में निर्दोष है पर उसका लक्ष्य दूषित रहने से वह प्रक्रिया और उसके फलित अशान्तिकर सिद्ध होंगे। ऐसा दर्पाविष्टजन अपने को स्थापित करने के लिये कुछ भी कहे, अपनी शैली को कितना भी सुन्दर-समन्वित बनाये रखे, उसकी प्रेरणा शुभ नहीं है। उसका सौन्दर्य-बोध समग्ररूप से शिवभाव से अनुप्राणित नहीं है। उनके आक्षेप अथवा दूसरों को हेय बताने की युक्तियाँ

उन राष्ट्रों या वर्गों को उन्नत देखने की शुभकामना से प्रेरित न होकर अपनी उच्चता को स्थापित करने का दंभ है।

इस विज्ञान ने कितना अहित किया है, इसका लेखा-जोखा नहीं किया जा सकता। ये आज नारा लगा रहे हैं कि संसार विनाश के ज्वालामुखी पर बैठा है। स्थिति यह है कि युद्ध हो चुका है, युद्ध हो रहा है किन्तु अघोषित और प्रच्छन्न। शायद घोषित युद्ध से भी अधिक क्रूर और सांघातिक। जिन संहार शैलियों को ये परिष्कृत कर रहे हैं, उनको एकत्रित भी करते जा रहे हैं। इस भण्डार का उपयोग कहाँ होगा ? परीक्षण करते समय जो प्रदूषण होता है, उसे शुद्ध करने की विधि इनके पास कहाँ है ? यदा-कदा ये कुछ संकेत दे जाते हैं जिससे कुछ समझदार लोग उस दिशा में सोचने लगते हैं। किन्तु वह संकेत जन-आक्रोश को उद्दीप्त नहीं करता। राजनीति के कटाक्ष और सत्ता के गणिकारूप पर मुग्ध हुए लोग इस संसार की दुर्दशा पर विचार करने का पाप नहीं कर सकते।

अपने प्रभुत्व-प्रताप को अक्षत रखने की कामना से सिर को पुष्पवत् अर्पित कर रहा रावण प्रकटतः तपस्या कर रहा है, किन्तु उसका मानस राक्षसी आवेश से मुक्त नहीं है। ऐसी ही अवस्था आज के सत्ताधिष्ठित की है। भगवान् को तपस्या का फल देना है। तपस्या करने वाले के मन में क्या है, इसका विचार वे नहीं करते क्योंकि यदि साधना करने वाले के मन में अशिवभाव है तो उनको अशिव का फल भी मिलकर रहेगा। अतः भगवत्ता निर्णेत्री है वह क्रिया को व्याहृत नहीं करती। वैज्ञानिक तपस्या करके नया अन्वेषण अनुसंधान कर रहा है उसका परिणाम सामने आना है, आ रहा है। आज आकाश में हजारों उपग्रह घूम रहे हैं। वे सब अणुचालित हैं। ईंधन समाप्त हो जाने पर वे इसी धरती पर आकर गिरेंगे। उनका स्थूल अंश पृथ्वी के वायुमण्डलीय ताप से टकराकर भस्मसात् हो जाएगा किन्तु उनका परमाण्वीय अंश कहां जाएगा ? उसका विकिरण अन्ततोगत्वा इसी धरती को सहना पड़ेगा। ऐसे एक नहीं अनेक षडयंत्र प्रकट-प्रच्छन्न रूप में रचे जा रहे हैं जिनसे बच सकना भावी पीढ़ी के लिये समस्या बन चुकी है। इन सबकी आवश्यकता है, क्योंकि शक्ति की भाषा समर्थ भी होती है और सरल भी। सभ्य कहलाने वाले समाज में जंगलराज आज भी प्रचलित है। प्रजातंत्र में प्रजा को तिरस्कृत रखने का छल आज भी रचा जा रहा है। यह स्पर्धा नहीं होती तो सन्तुलन नहीं रहता, यह भय नहीं होता तो वैज्ञानिक प्रगति की यह कथा नहीं बनती, उपहास्यास्पद स्थिति यह आ गई है कि न इसे छोड़ सकते हैं। न उसे अपना सकते हैं। इसलिये उन क्षितिजों का अनुसंधान करना ही एक मात्र विकल्प बचा है जहाँ ये दोनों मिलते हैं।

इस जगत् में दो ही व्यक्ति सुखी हैं: एक वे जो देह को ही परम मानते हैं। दूसरे वे जो मुक्ति को ही चरम समझते हैं। दुविधा उनके लिये हैं जो जगत् और जागतिक आग्रहों को स्वीकारते हैं और आध्यात्मिक मूल्यों को आत्मसात् करना चाहते हैं। दोनों सहवर्ती स्थितियों में चलने योग्य नहीं हो पाते तो पश्चात्ताप और त्वरा उनको घेर लेती है। जो सघन अरण्यानी में हिंसक पशु की तरह मरने या मारनेकी स्थिति से अधिक कुछ मानने के लिये तत्पर नहीं है, उसे कुछ भी कहना या बतलाना निरर्थक है। इसलिये वह एकस्थ है। माना वह पशुता है पर उस पशुता में कोई विकल्प नहीं है, न वह किसी संभावना को मानना चाहता है। उसके पास तर्क नहीं है, इच्छाओं का दुर्मद पशु है। दूसरे वे लोग हैं जिनके लिये जगत् केवल दर्शनीय विषय है, आसक्ति या प्रतीति का नहीं। उनके लिये सांसारिक मोह कोई अर्थ नहीं रखते। कोई भी आग्रह उनको न व्यथित कर पाता है, न बांध पाता है। उस विवेक के अन्तस् में द्वन्द्व नहीं है, निर्णय की एकाग्रता है। इस शक्ति-सन्तुलन में यदि पाशविक वृत्ति ही रहती तो आज तक निर्णय हो जाता। किन्तु दुविधा ग्रस्त स्थिति इसलिये बनी हुई है कि न वह पशुता प्रखर हो पाती है न विवेक ही समग्रभाव से आलोकित हो रहा है।

यह दुराग्रह नहीं है, एक सुझाव है कि केवल परीक्षण के लिये ही उस प्राकृत पद्धति को अपनाकर देखा जाए जो हजारों वर्ष पहले भारत ने अपनाई थी। वह है प्रकृति से साम्य रखने वाली आस्था। उसके स्थूल प्रकारों में हवन भी एक विधि है। हवन के लिये इसलिये आग्रह है कि यह सृष्टि एवं संहार दोनों ही लक्ष्यों की पूर्ति के लिये किया जाता है। यही इसकी उत्तमता है। परमाणविक पद्धति में यह खूबी नहीं है कि वह अपने विकिरण से शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के फल दे सकें। यहाँ, विकिरण की बात है, परमाणु विखण्डन के फलों की बात नहीं है। यज्ञों का विकिरण एक निश्चित प्रयोजन को ही प्रभावित करता है, समस्त पर्यावरण को नहीं। इसके अलावा वह अपने लक्ष्य को प्रभावित करने के बाद निष्क्रिय हो जाता है उसमें भूमि, जल वा वायु को किसी भी प्रकार से दूषित नहीं करता। वह प्रकृति के सहज चक्र में समाहित होकर संस्कार की विधि में जुड़ जाता है। इस मानव कृत में यह गुण नहीं है। इसलिये यह हमारे ही नहीं मानव जाति के इतिहास से वैषम्य रखने वाली विधि है। उनकी दृष्टि शिवानुरागिनी दिखती अवश्य है किन्तु वह आभासिक मात्र है, उसका आभ्यन्तर विकृत है। ऐसी अवस्था में उससे कोई आशा रखना व्यर्थ है। उस सुन्दर के भीतर शिव अनुपस्थित है।

वेद दर्शन

वेद विश्व के लिये वरदान है, समस्त मानव जाति के लिये वे ज्ञान दीप हैं जिसके प्रकाश में व्यक्ति सृष्टि के सौन्दर्य को और अपने में अन्तर्हित आनन्द को प्राप्त कर सकता है। यह विश्व का प्राचीनतम ज्ञान-विज्ञान है और प्रसन्नता की बात है कि भारतीय इसके संवाहक-संरक्षक रहे। व्यास जैसा विराट् व्यक्तित्व वेद के रक्षण-बृंहण के लिये अजर भाव से प्रयत्न करता रहा और भारतीय उसे अपने प्राणाधिक प्रिय समझ कर पोषित करते रहे, पूजते रहे। होने को यह बात भारतीयों को भी विस्मयजनक लग सकती है कि पूर्ण पुरुष का अवतार इसी धरती पर क्यों हुआ ? वेदों का प्रत्यक्षीकरण इसी पुण्यभूमि पर कैसे हुआ ? इन प्रश्नों में विस्मय की बात ही हो सकती है, असंगत या असंभव नाम की कोई चीज नहीं। जिस तरह हमारे सौर मण्डल में अनेक पिण्ड इस तरह के हैं जिनका हमारे लिये कोई उपयोग नहीं, वे उपेक्षित हैं, निरुपयोगी हैं, न उनमें कोई घटना घट रही है, न वह हमारे लिये उपयोगी है। वैसी ही बात हमारे इस पृथिवी पिण्ड पर थी। एक युग था जब हमारी धरती पर कुछ भाग में ही मानवीय संचार और व्यवहार था, शेष अंश में झाड़-झंखाड़ उगे हुए थे। सब से पहले इस धरती को आबादी लायक बनाया मुनि कश्यप ने, कश्यप ब्रह्मा के पौत्र रहे थे। वस्तुतः कश्यप और विश्वामित्र ऐसे वैज्ञानिक रचनाकार थे जिन्होंने धरती की उर्वरा शक्ति को जानकर उसका मानव हित में उपयोग किया पर ये ऋषि थे इसलिये केवल परिकल्पना देना ही इनके लिये संभव था—साधन और अभिरुचि के अनुपात तक ही इनका प्रयोग रहा था। इनके बाद राजा पृथु हुए जिन्होंने जंगलों को साफ करके इसे संस्कृत किया। उनके पास साधनों की पृथुलता थी इसलिये इसे पृथिवी कहा जाता है।

पृथिवी के संस्कृत भू भाग को गंगा जैसी पावन जलधारा से सिंचित करके कामधेनु का रूप देने वाले राजा सगर और भगीरथ ने अपने विलक्षण ज्ञान का परिचय दिया। विलक्षण इसलिये कि गंगा जैसी नहर विश्व में अद्भुत और पहली मानवकृत परियोजना है। उस युग के परम प्रतापी और चक्रवर्ती सम्राट् ने ऐसी अभूतपूर्व परियोजना के लिये भारत का ही यह प्रदेश क्यों चुना ? ऐसा प्रश्न भी उन्हीं पूर्ववर्ती प्रश्नों का एक अंग

स्वाभाविक रूप से बन जाता है—जिसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि विश्व में आने वाले हिमयुग इस धरती का भूगोल बदल दिया करते हैं किन्तु यह गांगेय क्षेत्र कभी भी उस प्राकृतिक घटना की चपेट में नहीं आ सकता। इस तथ्य से आज का वैज्ञानिक अब परिचित हुआ है। क्या इस भूभाग की यह विशेषता उन सारे प्रश्नों का उत्तर नहीं है जिनमें यह पूछा जाता है कि अवतार, ऋषि और वेदों की आधार भूमि यही क्यों है ?

भारत विचित्रताओं का देश है। प्रकृति की, धरती की, चिन्तन की आदि सभी प्रकार की विचित्रतायें इस देश में मिलती हैं। यह विविधता एवं विचित्रता ही सम्पूर्णता है। वेद इस धरती पर आविष्कृत हुए इसलिये वे सृष्टि के रहस्यों का अथवा सभी प्रकार की विचित्रताओं का सम्पूर्ण और प्रामाणिक आकार रहे। यह सम्पूर्णता ही वेदों को विश्वासभूमि बनाती है और भारतीय यह बात विश्वास के साथ कहा करते हैं कि जो कुछ है वह वेद में है, इसलिये वेद से अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय भारतीय के लिये नहीं हो सकता। हमारे समस्त भौतिक और आध्यात्मिक चिन्तन का आलेख वेदातिरिक्त कोई नहीं है—ऐसी हमारी मान्यता है। मृत्यु या मरणोत्तर जीवन के सम्बन्ध में वेदों ने सूत्र या संकेत रूप में कहा है, यहाँ हम उन संकेतों पर विचार करेंगे जो जीवन, मृत्यु और मरणोत्तर अवस्थाओं के लिये स्पष्ट संकेत न करके एक संहिता या जीवन दर्शन के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

वेद मनुष्य के लिये आचार संहिता का निर्देश करते हुए एक पद्धति का उपदेश करते हैं जिसे यज्ञ कहा जाता है। होने को यज्ञ एक प्रचलित शब्द और सामान्य पद्धति है पर यह व्यापक अर्थ में एक दर्शन है, एक समग्र व्यवहार है। यज्ञ एक स्वयंभूत प्रक्रिया है जो प्रकृति में सहज भाव से होती रहती है। यह एक दूसरी बात है कि विभिन्न स्तरों में सम्पन्न हो रहे यज्ञ का रूप और उपादान परिवर्तित हो जाते हैं। हम भारतीयों को यह साधारण अतएव निर्विवाद घोषणा है कि वेद की यज्ञ विधि विश्व की सर्वप्रथम बायोकेमिक एवं बायोफिजिक पद्धति की खोज है। हमारे तीन शरीरों—मानसिक, वैद्युतिक और भौतिक—में मानस शरीर गुणात्मक है और भौतिक स्थूल देह पंच तत्त्वों से निर्मित है। इन शरीरों का विवेचन यहाँ अप्रासंगिक रहेगा तदपि इतना अवश्य जान लेना चाहिए कि ये शरीर रूप, आकार, गुण, प्रकृति में परस्पर विपरीत होकर एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। यही वह विचित्रता है जिसके अन्तर्गत मानस शरीर को गुणात्मक और भौतिक शरीर को दोषात्मक कहा जाता है। यज्ञ हमारे प्राकृतिक व्यवहार में हो रहा है पर उसमें आ रहे व्यतिक्रम को दूर करने के लिये मानवकृत यज्ञ एक प्रभावशाली पद्धति है।

हमारे शरीर में किसी प्रकार का रोग इसलिये उत्पन्न होता है कि उसके आधारभूत दोषों में असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है जिसे व्यवस्थित करने के लिये हम औषधि प्रयोग किया करते हैं। ये औषधियाँ हमारे शरीर में जाकर जैव-भौतिक एवं जैव-रासायनिक (बायोफिजिक और बायोकेमिक) क्रिया करती हैं। यह क्रिया करने के लिये मुँह से दी जाने वाली औषधि देर से प्रभाव प्रकट करती है, वही औषधि क्वाथ या आसव के रूप में देने पर अपेक्षया जल्दी असर करती है किन्तु इन दोनों स्थितियों में औषधि के कण शरीर में रह जाते हैं। यद्यपि ये कण शरीर को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाते और न विजातीय ही होते हैं फिर भी इनकी उपस्थिति अनावश्यक रूप से शरीर में बनती ही है। यही औषधि या कोई द्रव्य आग में जलाकर धुँए के रूप में सेवन किया जाता है तो इसका प्रभाव बहुत तीव्र और द्रुत गति से होता है तथा धुँए के रूप में गए कण उन कणों से निश्चित रूप में मात्रा वा आकार में कम रहते हैं जिनके कारण हम अस्वस्थ हुए थे। यह व्याख्या कीटाणुवाद के अनुसार है अन्यथा भारत तो कीटाणुवाद को मानता ही नहीं। यह फल एवं विश्लेषण सकाम यज्ञ का है। जो लोग यज्ञ को कर्म भावना से करते हैं उनके लिये वह मुक्ति का अपने विराट् स्वरूप से परिचित होने का दर्शन है, प्रत्यक्ष पद्धति है। वेदज्ञ कहते हैं—“इस संसार में अग्नि एक सशक्त और व्यापक माध्यम है।”

प्रसंगवश हम भारत के मौलिक एवं प्राचीन विज्ञान पर यहाँ विचार करें जिससे इस दावे का औचित्य सिद्ध हो सके कि इस देश में जन्म लेना ही गौरव और गर्व की बात है। अवतारवाद भारत की प्रकृति है इसलिये राम और कृष्ण हमारे देश का व्यवहार है, अभ्यास हैं, हमारे जीवन और संस्कृति के आधार और प्रतीक हैं। बौद्धिक क्षेत्र में वेद और शंकर हमारे यहाँ के सूर्य और चन्द्रमा हैं। वेद की विशालता को हस्तिपद माना जाता है जिसमें सभी के पदचिह्न समा जाते हैं। वेद को ईश्वर का स्वरूप एवं स्वयंभू इसलिये माना जाता है कि ज्ञान एक अविच्छिन्न सनातन सत्ता है और वेद, ज्ञान के उत्कृष्टतम रूप का प्रतीक। इसलिये प्रत्येक विचार और आविष्कार बीच रूप में वेद में मिल जाते हैं। शंकर इसीलिये आराध्य है कि उनकी अहैतुकी कृपा की प्रतीक गंगा हमारे विशाल भूभाग को शस्य सम्पन्न करती, हमारे पाप-ताप का प्रक्षालन करती उत्तर से पूर्व की ओर बहती रहती है। उनका डमरू निनाद शब्द के अभिव्यक्त एवं विकसित होने का निमित्त एवं उपादान कारण है। शब्द पर भर्तृहरि के वाक्यप्रदीप, यास्क के निरुक्त और आठ व्याकरणों ने शब्द के बहिर्मुखी विस्तार उसकी प्रायोगिक सिद्धि और उसके स्थान प्रयत्नों

का, वृत्तियों का विश्लेषण किया पर शब्द की अभौतिक शक्ति, उसकी अलक्षित शक्ति और अकल्पित विस्तार का तत्त्वदर्शी विवेचन तंत्र ने ही किया है। तंत्र के आदि वक्ता के रूप में भी शंकर हमारे परम उपास्य रहे हैं।

विज्ञान तंत्र में भी है, वेद में भी। दोनों शाखाओं में लक्ष्य की दृष्टि से अन्तर नहीं है, प्रक्रिया का अन्तर अवश्य है। सहस्राब्दियों तक वेद हमारे व्यवहार का विषय रहा। कालान्तर में तंत्र और बौद्धों के प्रभाव से वेद के सम्मान में संकोच अवश्य आया किन्तु उसका द्विजों के संस्कार में व अन्य कर्मों में प्रयोग किया जाने लगा। यद्यपि वेद के इस प्रकार के प्रयोग से वह जीवन्त स्फूर्त अवश्य बना हुआ है फिर भी उसका पारमार्थिक सन्देश हमारे लिये दुर्बोध बनता जा रहा है। यह एक उपहासास्पद स्थिति है कि इतने गूढ़ और उपयोगी ज्ञान को केवल पाठ का विषय बनाकर रख दिया गया है। वेद का आध्यात्मिक अर्थ समाधि पद में ही समझ में आता है पर उसका भौतिक वाच्य हमारे लिये अत्यन्त हितकर हो सकता है। वेद यज्ञप्राण है, वैदिक संस्कृति यज्ञीय संस्कृति है और यज्ञ एक पद्धति है जो हमें भौतिक संसार के निरापद सुखों से लेकर अवाच्य आनन्द तक की साधना का मार्ग बताती है।

यज्ञ एक ऐसी पद्धति है जो बायोकेमिक पद्धति का आविष्कार है। एक वस्तु के गुणों को अर्क या काढ़े के रूप में निकाल कर प्राप्त किया जा सकता है, जला कर उसे गंध के रूप में प्राप्त किया जा सकता है। मुख से ली गई औषधि देर से प्रभाव प्रकट करती है उसका विपाक होने में समय लगता है जबकि अर्क के रूप में ली गई औषधि तेजस्तत्व का रूप हो जाती है और वह सीधे पित्त के स्तर से काम करती है अर्थात् हमारे शरीर की धातुओं में मेद तक पहुँचने में उसको कम समय लगता है। सात धातुओं में वह सीधे तेजस्तत्व के प्रतीक पदार्थ में आ जाता है। बाह्य संसार एवं हमारे अपने शरीर में पाँच तत्त्वों की ही माया है पर इस शरीर के सुख-दुख पर विचार करने वाले चिकित्सा शास्त्र ने तत्त्वों के विस्तार, सन्तुलन और प्रभाव को संक्षिप्त करके तीन की संख्या में सीमित कर दिया। यह संक्षेपण इसलिये किया गया कि हमारा बाह्य शरीर अन्तः शरीर का ही स्थूल एवं व्यक्त स्वरूप है और अन्त शरीर में सत्व-रज-तम नामक तीन गुण हैं इसलिये पाँच भौतिक शरीर में वे गुण वात, पित्त, कफ के रूप में दोष बन जाते हैं। तत्त्वों का असन्तुलन दोषों की अवस्था पर प्रकट होता है जिस तरह रेलवे स्टेशन पर सम्पादित स्थिति को सिग्नल बता दिया करता है। चिकित्सक इन चिह्नों को समझकर जो उपचार बताया करते हैं वे तत्त्वों की स्थिति के माध्यम से दोषों को व्यवस्थित करते हैं।

वेद का वर्ण्य विषय व्यापक है इसलिये हमारे बाह्य करण या अन्तःकरण की स्थूल व्याख्या वह नहीं देता बल्कि वेद उस मार्ग का निर्देश करता है जिससे हम स्वस्थ सुखी, सम्पन्न जीवन जी सकें। वह हमारी दिनचर्या है, वह हमारे, याने व्यक्तिमात्र के, उदात्त जीवन का प्रतीक है। इस उदात्तता को समष्टिगत मानकर ही सत्ययुग, कलियुग जैसे काल विभाग किये गये हैं। और यह हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि वेद व्यक्ति के सरल निश्चल अतएव उत्कृष्ट जीवन स्तर के प्रतीक रहे हैं जिसे हम इस रूप में कहा करते हैं—वेद की उपासना सत्ययुग का विषय है। वेदों में प्रथम ऋग्वेद की पहली ऋचा अग्नि की स्तुति में वर्णित है। दूसरे वेदों का प्रारम्भ भी अग्नि का वर्णन करने वाली ऋचाओं से ही हुआ करता है। अग्नि आज अति सामान्य होने के कारण हमारा साधन मात्र रह गई है जबकि इसका विराट रूप, इसके विविध आयोजन आज भी विचारणीय है। हमारी दृष्टि में यह एक सामान्य साधन है किन्तु प्रकृति की दृष्टि में यह रसायन शास्त्र है। “अग्निमीले पुरोहितं देवस्य ऋत्विजम्.....” इस ऋचा में अग्नि को पुरोहित और ऋत्विज जैसे नाम देने के पीछे उसकी कार्य पद्धति है। दैहिक से लेकर आध्यात्मिक स्तर तक अग्नि एक देवता जैसी पवित्र व विस्तृत स्थितियों का रचनाकार होकर हमारे सामने प्रकट होता है। वैदिक दर्शन के अनुसार वैश्वानर के रूप में व्याप्त विश्वजनीन अग्नि को हम हमारे चूल्हे में भी प्रकट किया करते हैं और यज्ञ में भी। यह वैश्वानर गृहस्थ के लिये पूजनीय होता है पर यज्ञ करने में हम उसका गार्हस्थ्य रूप एवं उपयोग न करके शुद्ध रूप से उसके विराट का दर्शन करना चाहते हैं और यजमान बनकर हमारे देहस्थ अग्नि को, विश्वरूप वैश्वानर की अनन्तता से एकाकार कर लेना चाहते हैं।

मनुष्य को पुरुष कहा जाता है, पुरुष का अर्थ होता है पुर में शयन करने वाला। हमारे इस देह रूपी पुर में शयन करने वाला तत्त्व ही वास्तविक पुरुष है। इसे शयन करने वाला इसलिये कहा जाता है कि यह सुप्त अवस्था में रहता है, न कि यह किसी कार्य में लिप्त होता है न किसी प्रकार के सुख-दुख का अनुभवित है। यह विलक्षण तत् साक्षी बना रहता है। जिस तरह हमारे किसी सामाजिक या पारिवारिक आयोजन में अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्ति एक साक्षी रूप में उपस्थित हुआ करता है, उसी तरह यह स्वप्रतिष्ठ साक्षी के रूप में विराजमान रहा करता है। उस पुरुष की जागृति ही हमारा स्वरूप बोध है और यह स्वरूपबोध ही मुक्ति। वेद इस विस्तार की और विस्तार से सिमेटकर अपने आपको पाने के लिये एक सनातन माध्यम का निर्देश करता है और यह माध्यम यज्ञ है। यज्ञ एक सामान्य आयोजन नहीं है, उसके दार्शनिक पक्ष पर विचार करने से सृष्टि का

रहस्य हमारे सामने अनावृत्त होता है। आशय यह है कि संसार में जो कुछ है या हो रहा है वह यज्ञ ही है। यज्ञ से भिन्न किसी वस्तु या स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती। और तो और स्त्री पुरुष के सहज सम्बन्धों में भी यह सोम याग सम्पन्न होता रहता है। प्रकृति की सामान्य और विशिष्ट पद्धति में शुक्ल और कृष्ण, सौर और सोम, अयम् और इयम् ये सब यज्ञीय प्रकार ही हैं।

इस पुर-हमारे भौतिक देह-का विवेचन विश्लेषण सर्वाधिक प्रमाणिक रूप से भारत में ही किया गया था। यज्ञ या वेद इसके प्रमाण हैं। सबको अपने में देखकर सीमाओं से ऊपर उठकर क्षीणोदक मुक्ति और सारे विस्तार में अपने को जानने वाली भूमोदक मुक्ति के मार्ग जानना वेदों का वक्तव्य है। स्वास्थ्य, सद्विचार, शान्ति और व्यक्तिगत समस्याएँ, विवाह, सन्तान, सम्पन्नता जैसी परिवार व समाज सापेक्ष स्थितियाँ और सर्वबोध जैसे विश्वजनीन भावों में सन्तुलन ही हमें नार्मल बनाया करता है और यह नार्मलिटी यज्ञीय दर्शन का बोधव्य है। यज्ञीय दर्शन का वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर हम इसे अविकल रूप से सामयिक वैज्ञानिक विधि और शब्दावली में ढाल नहीं सकते। क्योंकि आज तक की वैज्ञानिक प्रगति सिद्धि तक नहीं पहुँच सकी है इसलिये वैज्ञानिक असमर्थता ही इसका कारण है। फिर भी जहाँ तक हमारी इस पीढ़ी की पहुँच है वहाँ तक वेद और तदाश्रित यज्ञ का रहस्य समझा जा सकता है। वेद का कथन है—यह संसार प्रजापति का निर्माण है। प्रजापति हम उस शक्ति को कहते हैं जो पदार्थ के केन्द्रक में रहा करती है। ब्रह्मा, विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल में विराजमान है। और ब्रह्मा इस संसार का रचनाकार है यह तथ्य केन्द्रीय शक्ति का ही स्वीकार है पर हमने इसे देवता मानकर सर्वजन गम्य और श्रद्धेय बना दिया है।

□ □ □

कछु पुण्य प्रगटे मानुषा अवतार

मीरा कृतार्थ भाव से कहती है—“का जाने कछु पुण्य प्रगटे मानुषा अवतार”। यह मानवीय देह, सृष्टि की देहप्रणालियों में श्रेष्ठ कृति है। कर्म की गरिमा इसी आवरण में उत्कृष्ट रूप ग्रहण करती है। सूक्ष्म शरीर पर छाये कल्मष कलंकों को धोने के लिये प्रकृति निम्न श्रेणी के तमोगुण—प्रधान भोगयोनि देह दिया करती है। उन देहों की सीमित क्षमता और जन्ममरण के कष्टों को भोगते-भोगते जब देही निर्मल होता है तो उसे स्वतंत्र कर्मशक्तियुक्त यह देह मिलता है। इसी देह में आकर चेतन ‘सोहम् ब्रह्मास्मि’ का बोध कर पाता है।

जिन देहों में जड़ता अधिक रहती है वे अन्नमय कोश का विस्तार हैं, अन्न अर्थात् जो जीव के देह को खाता है। अनाज को अन्न इसलिये कहते हैं कि यह स्थूल आहार हमारे देह के संस्थानों एवं कार्य विधि को अपेक्षया अधिक तीव्रता से खाता है वैसे, अन्न का अर्थ “जो खाया जाता है” भी होता है। अन्न की स्थूलता हमारे देह के स्थूल अंश के सम्बन्ध रखती है, इस अन्नक्षेत्र का अध्ययन करने वाला व्यक्ति कायशास्त्री होता है जिनकी चिकित्सा से हमारी अस्वस्थता दूर होती है। यह अन्न पार्थिवांस-बहुल है इसलिए अधिक अन्न व्यक्ति को बहिर्मुखी बनाता है। जिन लोगों ने देह-साधना की है, पहलवानी या शारीरिक श्रम जिनकी जीविका है उन लोगों का आहार स्थूल होता है। निद्रा उनको अधिक आती है, प्रकृति में तामसी प्रभाव प्रबल रहता है। उनके श्वास की गति और आयाति दीर्घ हुआ करती है। इस प्रकार के देह वस्तुतः पार्थिक देह होते हैं और उनका इतिवृत्त इसी के साथ समाप्त हो जाता है। इन बहिर्मुखी जड़ प्रत्यय व्यक्तियों में सत्त्व स्थूल रूप ग्रहण करके चेतन को भास्वर रूप में प्रगट नहीं होने देता। इसीलिये वे केवल बलधाम होते हैं। सत्त्व किंवा बल के इस स्थूल एवं सूक्ष्म रूप को देखकर विश्वामित्र ने कहा था - “बल तो ब्रह्म बल है क्षात्र बल उसके आगे व्यर्थ है।” सामान्यतया ये वाक्य प्रतीकज्ञान ही कराते हैं इनका लाक्षणिक रूप प्राणमय एवं मनोमय क्षेत्र में व्यक्त होता है एवं यथार्थ स्वरूप बुद्धि के विज्ञानमय कोश का विषय रहता है। पर प्राप्त अथवा पुस्तकों को पढ़कर समझा हुआ ज्ञान है तो बुद्धि का ही फल, किन्तु उसमें पर प्रकाश

अतएव सीमित रूपता है, इसी की उदात्त अवस्था स्वतः प्रकाश कहलाती है। जिसे प्राप्त करके व्यक्ति ज्ञान के शाश्वत अविकारी स्तर पर पहुँच जाता है। वस्तुतः अन्तर्मुखता में व्यक्ति स्थूलवृत्तियों एवं बहिर्मुखी बोधों से विरत होकर अपने संक्षिप्त से देह में अवस्थित विश्वरूपता से साक्षात् करता है तो आश्चर्य विमूढ़ होकर मीरा की तरह पुण्य का परिणाम या ऋषियों की तरह 'सोहम् ब्रह्म' कह देता है। अपने ही देह के आभ्यन्तर में नर्तन कर रही मांसपेशियों, कोशिकाओं और रक्तकणों के आवर्तविवर्त, भव-लय को देख कर आगम प्राप्त वाक्यों के शिव-शिवा संयोग की सरस लास्यपूर्ण प्रतीति करता है। बोध की यह सूक्ष्मता ही व्यक्ति के उत्तरोत्तर विकास की सूचना देती है।

माना, देह का कोई इतिहास नहीं होता। यह विभिन्न पदार्थों का संघटन है। तत्त्वों की निर्मिति है। यहीं बनती है, यहीं लय होती है फिर भी इस देह स्तर की एक स्वतंत्र शैली, स्वरूपता और विलक्षणता होती है। आज तक के इतिहास में अनन्त रूपाकारवाले देह बन चुके हैं/बनते रहेंगे। (अपवाद को छोड़कर) कोई देह किसी से साम्य नहीं रखता। प्रकृति की यही अनन्तता व्यक्ति को एकान्त बिन्दु तक ले जाती है, देहों का यह संख्यातीत विस्तार और जातियों की यह विचित्रता हमारे चिन्तन को मूल उत्स तक पहुँचाने की बलवती प्रेरणा देती है। शरीर के स्थूल विस्तार में प्रसृत यह विविधता सूक्ष्म स्तर पर आकर जितनी सिमटती है उन्ती ही इसमें शक्ति अधिक प्रबल व घनीभूत होने लगती है। शक्ति की यह विस्तृति ही क्रिया कहलाती है और क्रिया की परिणाम परता कर्म हो जाती है। कर्म की यह विविधता देहों की विचित्रता का कारण होती है और यही परम एवं जीव में विभेदकता बनती है।

हमारे इस छोटे-से देह में अनेक देह हैं, अनेक संस्थान हैं। जिन लोगों की दृष्टि स्थूल है, जिनमें सत्त्व मंद एवं बुद्धि कुण्ठित है वे अज्ञान के क्षेत्र में रहते हैं, इससे आगे ज्ञान, विज्ञान एवं ज्ञानातीत क्षेत्र हैं जो व्यक्ति की निर्मलता पर निर्भर करते हैं। दैहिक स्तर पर विविध एवं अनन्त प्रकार के देह समान हैं क्योंकि ये देह अन्ततः उपादान हैं पात्र हैं। जिनमें देही निवास करता है। आपाततः हमें यह दुर्बोध लग सकता है कि उपादानभूत देहों में चेतन सत्ता असम्पृक्तभाव से साक्षी मात्र बनी देहान्तरित होती रहती है, अपने ही उपादान कारणों से यह लताजाल की तरह परिवृत्त रहती है किन्तु यही यथार्थ है। इसे तात्त्विक रूप से समझने के लिये ही संघर्ष—साधना करनी पड़ती है। हमारा यह स्थूल देह त्रि आयामी है। आकाश जैसे शून्यमय तत्त्व से लेकर पृथिवी जैसे स्थूल तक के पाँचों तत्त्व इसका निर्माण करते हैं, इसलिये इस भौतिक देह में पाँच भूतों अथवा तत्त्वों का एक

आनुपातिक समायोजन रहता है और देही इन तत्त्वों से कोई घनिष्ठ अथवा आश्रित जैसा सम्बन्ध न रखते हुए भी अनुभव करने वाले मानस स्तर तक अपनी चेतनता को विस्तारित करता है। वही देह के उपादान केन्द्रों को सचेतन करता है। चेतन का यही चेष्टा प्रसार व्यक्ति की देह यात्रा को परिभाषित करता है। परिभाषित इस रूप में कि एक विशिष्ट नाम वाले देह के साथ किस प्रकार की घटनायें, कार्य एवं उनके परिणाम अभिव्यक्त हुए ? यों, काल की अनन्त एवं दुरन्त सत्ता में कोई भी वस्तु या व्यक्ति तब तक शाश्वत नहीं हो सकती जब तक कि वह उसके प्रभाव क्षेत्र से आगे नहीं चली जाती अर्थात् कालातीत नहीं हो जाती तदपि अपेक्षाकृत स्थायित्व अथवा चिरंजीविता प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को तत्त्वों के पूर्वतर स्तर पर पहुँचना पड़ता है। पार्थिव स्तर का जीवन देह की स्थिति तक सीमित रहता है। जलीय और तेजस् देह समाप्त हो जाने के पश्चात् भी अपनी जीवनीय प्रभा से आभासित होते रहते हैं, इस अर्थ में ये देह अधिक आयु वाले रहते हैं। प्राण-साधना करने वाले व्यक्ति योगी कहलाते हैं। वे सत्त्व को अन्तर्मुखी करके चितवृत्ति का निरोध करते हैं अथात् चित्त की वृत्तियाँ मन के बाह्यदर्शी मुख से जहाँ विकेंद्रित होने को होती हैं वहीं सत्त्व का निरोध मनको अन्तर्मुखी बनाता है। परिणामतः व्यक्ति का अन्तःसत्त्व वृद्धि को प्राप्त होता है, वह व्यक्ति को ब्रह्म सत्त्व बनाता है। प्राण साधक व्यक्ति चाहे तो अपने पार्थिव देह को भी यथेच्छ आयु प्रदान कर सकता है अन्यथा उसके देह त्याग के पश्चात् भी उसकी प्रभा वातावरण को आलोकित करती रहती है। सिद्धपीठ के रूप में विख्यात स्थानों की महिमा इसीलिये दीर्घकाल तक लोगों को फलती रहती है।

आकाश तत्त्व के उपासक शब्द की साधना करते हैं। उनका ज्ञानमय कोश उन्हें आनन्द का साक्षात् कराता है। मंत्र के उपासक भी आकाश अर्थात् सत्त्वगुण की साधना करते हैं। तत्त्वों की परम्परा में आकाश में नियामक शक्ति है क्योंकि परतर तत्त्वों का वह जनक बनता है। अन्य तत्त्व उसी से बनते हैं और उसी में लीन होते हैं शब्द की साधना करने वाले बुद्धि के स्वप्रतिष्ठ प्रातिभ क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और वे ऋचाओं की अवतार भूमि बनते हैं, विज्ञान के सूत्रों के अन्वेष्टा ऋषि होते हैं, ब्रह्मानन्द सहोदर रस को अभिव्यक्ति देने वाले कवि कहलाते हैं और ऐसी सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं जहाँ जरा-मरण जैसी स्थितियाँ होती ही नहीं। नाद के रूप में उपासना करने वाले गंधर्व गायक हों अथवा रसावतारी कवि—दोनों ही, तत्त्वों के आदि रूप, आकाश, तत्त्व के सूक्ष्म स्वरूप का साधन करते हैं और इन लोगों का पार्थिव देह यशः काय का रूप ग्रहण कर लेता है। भौतिक जगत् की क्रिया (मृत्यु)

उस देह को प्रभावित नहीं करती है तदपि विलय और विनाशधर्मी काल से ऊपर नहीं उठ पाते। हाँ, इनमें स्थिति बल इतना प्रखर हो जाता है कि लय निरुद्ध हो जाता है। वहाँ काल का अर्थ मृत्यु न होकर कलन करने वाला होता है और उसका सूक्ष्म देह कलित होकर काल के समानान्तर हो जाता है। शब्द साधनों की आयु इसी कारण अधिक होती है। तुलसी और कालिदास शब्द संसार के सम्राट हुआ करते हैं और वे नाम शेष नहीं होते, कीर्तिशेष रहते हैं। उन्होंने शब्द की जो साधना की थी वह काशी निवास की तरह मुक्त और मुमुक्षु जनों का साहचर्य रहा था। भगवती वीणापति की अलौकिक रूप लहरी का स्पर्श और दर्शन उनको होता ही रहा, इसके बिना उनके काव्य में शिवतत्त्व और सौन्दर्य आ ही नहीं सकता, मातृका के विविध रूप उनको आयत्त होते ही नहीं और यही दर्शन शब्द का दर्शन होता है, यही ब्रह्म प्राप्ति और आत्मलाभ कहलाता है। जो लोग आत्म चैतन्य की झलक पा चुके हैं या इस झलक को पाने की ललक जिनमें हैं वे इस देह को एक माध्यम मात्र समझते हैं, वे इस जीवन को एक गुरुतर लक्ष्य की सिद्धि के लिये विनियोग करना जानते हैं उनमें ही मीरा का-सा कृतार्थ भाव उत्पन्न होता है, वे ही इस पुण्य विपाक को फिर से सत्प्रयोजन के लिये निक्षेप करना चाहते हैं।

यह सारा विस्तार, क्रिया का यह प्रचण्ड रूप प्राकृतिक व्यवहार है। कर्म निबद्ध चेतना जीव के नाम से एक आरोपित आवरण में रहकर भव के क्रिया विलास को साक्षी के रूप में देखती चलती है। उस परम का अंशीभूत होकर भी जीव अपनी क्षुद्रता में छुपी अमित संभावनाओं और असीम शक्ति को जान नहीं पाता। अज्ञान तिमिरांध की तरह वह सनेत्र भी अशक्त बना रहता है। जीव चेतना की नैसर्गिक क्षमता प्रकट करना ही इस वाक्विस्तार का लक्ष्य है। यद्यपि आत्म को, आत्म के स्वातंत्र्य और सामर्थ्य को दूसरे देशों ने भी टटोला है पर उनका दर्शन और उनकी जीवन पद्धति भौगोलिक एवं तत्स्थानिक सामाजिक परम्पराओं से निर्मित हुई है इसलिये उसमें इतनी स्पष्टता विविधता और तलस्पर्शिता नहीं है। यह केवल भारतभूमि की ही विलक्षणता है कि इसमें रहकर, इसमें जन्म लेकर व्यक्ति उस अदृश्यस्पर्शी शिखर को सर्वदिक् देख/नाप लेता है। हम एक असमाप्य कर्म चक्र में जुड़ गये हैं और उस झंझा से निकलना हमारा सर्वोपरि कर्त्तव्य है। साधना इसी विमुक्ति का मार्ग व विधि है। हम जिन विवशताओं से सर्वदिक् घिरे रहकर भी उनको अप्रिय नहीं समझते-यह हमारा अज्ञान है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये इस जीवन के आग्रहों के प्रति अनासक्त भाव उत्पन्न करना साधना का

प्रथम सोपान है। यह अनासक्ति स्वतः भी उत्पन्न हो सकती है किन्तु यह स्वाभाविकता एक जीवन की उपलब्धि नहीं है, इसके पीछे अनेक जन्मों का अलक्ष्य प्रयास रहा है। सौभाग्य से यह निःस्पृहता सहजवृत्ति के रूप में मिल रही है तो इसे परिपुष्ट करना चाहिए अन्यथा इसे उद्भावित कर सकें-ऐसा प्रयास करना चाहिए। इस स्थिति का चिन्तन के स्तर पर आना अति दुष्कर है क्योंकि जब तक कोई प्रतिमान या परिकल्पना नहीं हो तब तक सामान्य व्यक्ति के लिये अथवा ज्ञान के साधारण स्तर पर संभव नहीं हो पाता। इसलिये किसी भी देवता को प्रतीक के रूप में मान लेना रुचिकर भी है और मानवी स्तर के लिये सरल भी। यह प्रतीक मंत्र का ही स्वरूप होता है। हम अपने ज्ञानात्मक स्तर के अनुरूप इस देवता के रूपों, चरित्रों और लोकेतर कार्यों की कथा कह/ सुनकर आनन्दित होते रहें/यही बहुत हैं।



कोशेय

हमारे देह को हम कितना सजाते हैं, कितनी इसकी रक्षा-सुरक्षा करते हैं, कितना बड़ा मोहपाश हम दोनों (हमारी अलक्ष्य और स्थूल सत्ता) को गहन रूप में बान्धे रखता है अन्यथा हमारे इस देह का यथार्थ उस मृत्यु पुतलिका से भिन्न नहीं है जिसे व्यापारी ने दुकान के बाहर सजा-संवार कर प्रदर्शन के निमित्त रख रखा है। अन्तर्दृष्टि हमारी लुप्त रहती है। बाह्यदर्शन करने वाला अन्तःरहस्यों से अज्ञात रहता है। कठपुतली के खेल में वह सूक्ष्म घागा और सूत्रधार अलक्ष्य रहते हैं। यही बाह्य दर्शन का चमत्कार है और यही स्थूलदृष्टि को दोष है। अन्यथा विभ्रमों और आशंकाओं का विषय हमारा जीवन नहीं बनता। सामान्यतया ये विभ्रम/बहम व्यक्ति को लुभाये रखते हैं, यह विस्मरण व्यक्ति को विकेन्द्रित किये रखता है।

यह अनित्य शरीर पाँच तत्त्वों का संघटन मात्र है, इसका कोई भी इतिहास हो भी तो क्या हो ? जो इसके माध्यम से इतिहास को गति या घटना विशेष देता है उसका कोई नाम होता नहीं। फिर भी इस नरदेह की अपनी शैली और स्वरूप होते हैं जो अद्वितीय होते हैं। और तो और स्वयं पूर्ण पुरुष के पार्थिव रूपों में भी कलाओं की ही न्यूनाधिकता हो जाती है। देहों की परम्परा में मानव देह सर्वोत्तम है इसमें कोई संशय नहीं है। यही वह मंच है जहाँ आकर जीव अपने से विराट् को पहचानता है। जहाँ इतर देहों में जीव की प्रज्ञा कुण्ठित रहती है वहीं मानव जीवन में वह अपने स्वतंत्र रूप को पाने की घोषणा किया करती है। देह की नश्वरता से देही शाश्वतिकता को पहचानना इसी देह की विलक्षणता है। सात व्याहृतियों के भूः और भुवः अन्न और प्राणमय कोश में आ जाते हैं। विज्ञान की दृष्टि में अन्नमय कोश स्थूल देह है तो प्राण तैजस् किंवा वैद्युत देह है। तैजस् व्यक्ति का आन्तरिक बल है। अनेक बार व्यक्ति विषम परिस्थितियों में और विपत्ति के क्षणों में इसी प्राणमय कोश के बल से विजय प्राप्त करता है।

यह था, स्थूल एवं मध्यम शरीर, आगे के देह में मनोमय कोश आता है। मनोमय जगत इन्द्र के समान अत्यन्त तेजस्वी और शक्तिशाली है, यह स्वलोक है। जरा-मरण से

शून्य मन में शक्ति अधिक प्रचण्ड रूप में प्रकट होती है। स्थूलता के सर्वोच्च प्रतीक पर्वतों का पक्षच्छेदन करने वाला इन्द्र, इन्द्रजाल की अयथार्थ स्थितियों को प्रकट करने, विभ्रमों और भ्रान्तियों को विश्वस्त बना देने वाला ऐन्द्रजालिक अपनी शक्ति के बल पर ही देवलोक अथवा तत्त्वों के अधिष्ठातावर्ग को नियमित करता है। हमारे देहलोक में मन का भी ऐसा ही स्थान और विशिष्ट्य है। स्वप्न जैसी अवस्था में यह अयथार्थ को इतने प्रबल रूप से भोग लेता है कि इन्द्रिय जगत् उस अनुभव से अतिरेकी स्थिति में आ जाता है। जाग्रत् अवस्था में भी यह अन्य भावापन्न होकर प्रबल आकर्षणों एवं सम्मोहनकर स्थितियों से विरोधभाव रखने लगता है अथवा निन्दित व कष्टकर अवस्थाओं में भी मोहमुग्ध होकर उनमें रमा रहना चाहता है। मन का यह मायालोक जितना रुचिकर है उतना ही बलवान् भी। यह पूर्वतर लोकों का अधिपति है, उनसे सम्मोषण प्राप्त करता है और उन पर शासन करता है। अन्नमय कोश में जहाँ पृथिवी और जलतत्त्व थे वहीं प्राणमय कोश में तेजस् और वायुतत्त्व थे। हमारा पुद्गल और शाक्त देह इन्हीं कोशों में संचालित था। मनोमय कोश आकाश तत्त्व का प्रतीक है किन्तु इस आकाश में निर्भर शून्य नहीं है, पूर्वतर तत्त्वों का आन्दोलन एवं आवेश इसमें निरन्तर होता रहता है। इसीलिये हम इसे स्थूलाकाश कहते हैं। जिस क्षण इसमें शून्य की स्थिरता का आविर्भाव हो जाएगा उसी क्षण यह चिदाकाश बन जाएगा। इस मनोमय कोश में आकर ही अनुभूति शब्दों का स्थूल कलेवर पहनती है। यद्यपि शब्द की स्थिति इससे भी आगे के स्तरों पर रहती है किन्तु वह अत्यन्त सूक्ष्म रहने से साधनालभ्य एवं स्वानुभवगम्य है। सामान्य अवस्था में मन अन्न और प्राण के विकारों से ग्रस्त होता रहता है। इसलिये मायाचार उसको रुचिकर लगता है। शनैः शनैः यह इन दोलनों से इतना आवेशित होने लगता है कि स्वप्न को भूलकर परवश्य को वास्तविकता समझ बैठता है, उसी में सुख का अनुभव करने लगता है। जगत् की चंचलता और जड़ता इसे घेर लेती है। इसके साथ ही विवशता यह है कि आत्म चैतन्य यहीं आकर प्रतिबिम्बित होता है।

प्रकृति ने इन कोशों का विस्तार एक व्यवस्थाजनित आवश्यकता के आधार पर किया है। इस रहस्य को हम हमारे देह में भी देख सकते हैं। हमारी चेतना का वास केन्द्र के रूप में हृदय में माना गया है और हृदय में क्रिया स्थूल हो जाती है। स्थूल इस अर्थ में कि इससे पूर्व के स्तरों में वह केवल वैद्युतिक रहती है इसलिये उसमें स्पृश्य वा दृश्य जैसे आयाम नहीं रहते। किन्तु हृदय में आते ही उसमें ये दोनों आयाम जुड़ जाते हैं इसलिये स्थूल कहा गया है। हृदय की स्थूल क्रिया को अनवरत रखने के लिये रक्त का

संचार और धमनियों का जाल बुना जाता है और इन सबके लिये यह विन्यास चातुर्य रचा जाता है। जो लोग योग साधना वा अन्य प्रकार से देह पर नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं उनके लिये हृदय की स्थूल क्रिया उतनी प्रखर नहीं रहती। चेतना की मन्दता और तीव्रता के स्तर ही इन विभिन्न और विविध देह रचना के मूल कारण है। प्रकृति का यह व्यवस्थित क्रम हमारे ही नहीं लोक और विश्व के स्तर पर भी बाधित नहीं होता। इस चक्र को हम देख कर भी समझ नहीं रहे। यही हमारे मनोमय कोश की अव्यवस्थितता किंवा विकारग्रस्तता है। साधना इस कोशय देह से ही होती है इसलिये इसका सम्यक ज्ञान होना आवश्यक है। जिस प्रकार तत्त्वों में तेजस्तत्व मध्यवर्ती है वैसे ही कोशों के क्रम में मन मध्यस्थित है। साधना में हम शब्द को आधार बनाते हैं तो भी इनके अन्य अधोवर्ती कोशों को स्वस्थ निर्मल करना पड़ता है। इसके बिना काम चलता नहीं। माना बुद्धि के द्वार खुलने पर मन स्वतः नियंत्रित एवं मर्यादित हो जाता है। किन्तु इससे पहले और एक सीमा तक इसके बाद भी इसका महत्त्व बना रहता है। अतः बाह्य के दबावों के रहते हुए भी यह उनसे असंस्पृष्ट बना रहे यही हमारा सत्प्रयास है।

□ □ □

वाक् संस्कार

“संसार शब्द में निवास करता है” इस तथ्य का परमार्थ तो एक समग्र परिप्रेक्ष्य है, स्थूल दृष्टि से भी यह युक्तिपूर्वक प्रमाणित किया जा सकता है। हम ही नहीं तमसाच्छन्न पशु भी निर्वाक् नहीं हैं, शब्द के बिना उनका भी जीवन अपूर्ण है। प्रकृति में उनके स्वर यंत्र को इतना सक्षम एवं विकसित नहीं किया कि वे अनुभूति को विविध शैलियों में अभिव्यक्त कर सकें, फिर भी वे ध्वनियों एवं शब्दों का अर्थ समझते हैं। उनके पास स्वकृत शब्द की विविधता नहीं है पर अपने वातावरण में होने वाले विविध शब्दों को वे जानते अवश्य हैं, उनके कारण और परिणाम को समझते अवश्य हैं। पक्षी शब्द प्रिय अधिक है, वह कोलाहल का पर्याय बन गया है। हम मनुष्य हैं इसलिये उनमें केवल पाशवी आवेश ही नहीं हैं, देवी संवेदनशीलता भी है, अनुभूति की सुकुमारता भी है। इसलिये शब्द हमारे जीवन की अनिवार्यता बन गया है, इसका विसर्ग और संग्रह—वचन और श्रवण—दोनों ही हमारे जीवन्त होने के परिचायक हैं। हमारा व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार शब्द के बिना नहीं चलता। ऐसी स्थिति में हम यह कहें कि संसार शब्द में निवास करता है तो अयुक्ति/अत्युक्ति नहीं है। इसी तथ्य को देखकर हमारे मनीषियों ने मां के सारस्वत स्वरूप को अथवा शक्ति के समग्र को ‘वाङ्मयी तनुः’ कहा है। तनु का अर्थ देह होता है यही तनु विस्तार का भी बोधक होता है। जिस प्रकार मानवी चेतना को मानव स्तर पर विस्तारित होने के लिये देह की आवश्यकता होती है अथवा देहव्यापी चैतन्य में ही देह निवास करता है वैसे ही सत्त्वरूपा सरस्वती वाणी के विस्तार तक व्याप्त है, इसलिये हम उसे वाङ्मयी तनु कहते हैं। प्राकृत रूप में यह विस्तार वाणी के स्तर पर ही होता है।

हम जिन विशालकाय पिण्डों को देखते हैं उन पिण्डों के अपरिमेय विस्तार को देखकर चकित रह जाते हैं। यह तो वाणी के वैखरीवृत्ति की तरह है। तकनीकी पद्धति में ‘वैखरी वृत्ति’ शब्द का वह स्तर होता है जिस पर आकर वह स्थूल हो जाता है स्थूलता के इस स्तर पर आने के बाद निवर्तन ही शेष बचता है। इसी तरह यह स्थूल अतएव दृश्य विस्तार तुरीय अवस्था है—शब्द की अतएव तदाधारित वस्तु जगत् की भी। तुरीयता

स्थूलाभिमुखी है, सूक्ष्माभिमुखी नहीं है क्योंकि इस स्तर पर आने के बाद कोई और अवस्था नहीं बचती, बचता है—विध्वंस, परस्पर विलय, महाप्रलय। वाङ्मयी तनु में भी जब शब्द कण्ठ में स्वरित हो जाता है तो विकीर्णन ही शेष बचता है, वह पुनः अपनी मूलावस्था की ओर चला जाता है। वाङ्मयी तनु और तनु को तुरीय कहना एक क्रमिक विन्यास है। इस विन्यास अथवा विकास में यह चौथी अवस्था है क्योंकि प्रथम अवस्था सूक्ष्म है, दूसरी अर्थमयी, तीसरी शब्दमयी और चौथी पदार्थमयी अवस्था है। हमारी शब्दावली भी अलक्ष्य के लक्षित ही नहीं पंचतत्वमय होने तक की अवस्था में पर्यवसित हो जाती है अर्थात् भावनात्मक स्तर पर वचन के देहविस्तार को प्राप्त कर रही वाणी स्थूल में पदार्थ तक आकर विरत हो जाती है। हम जो वाक् व्यवहार करते हैं उसमें अर्थ भावना निगूढ़ रहती है, वाक् अभिव्यक्त रहती है। हमारी भाषा में बल अर्थ का ही होता है और अर्थ किंवा भावबल को वहन करने की सम्पूर्ण क्षमता शब्द में ही रहती है। ध्वनि की मृदुता का कर्कशता, घोर वा विचित्रता में भी बल होता है पर वह नाद के क्षेत्र की बात हो जाती है। यहाँ हम वाक् की चर्चा कर रहे हैं। यह सर्वज्ञान तथ्य है कि वाक् में अर्थ निहित रहता है, और दोनों के अपने-अपने क्षेत्र, प्रभाव, स्वरूप और महत्त्व होते हैं। खेद है कि हमारा वाक् व्यवहार उस स्वागतकर्त्ता की तरह होता है जिसे प्रत्येक ग्राहक से मुस्कराकर ही बात करनी होती है, यह उसकी विवशता होती है, यह उसकी जीविका या व्यवसाय है, इसलिये उसका यथार्थ लुप्त हो जाता है, रह जाता है आत्महीन, संवेदनशून्य व्यापार। वाणी के प्रयोग में भी हमारी यह संवेदनशून्यता व्याप्त होती जा रही है—यही खेद का विषय है। यह संस्कारहीन वाणी हमें अर्थ के भावलोक में प्रवेश नहीं करने देती, अर्थ का प्रभाव हम पर नहीं पड़ता। किसी भी राजनीतिक मंच पर अथवा अन्य किसी आयोजन में जाने पर भाषा की यह संवेदनहीनता अधिक स्पष्ट होती है। वक्ता को इतना सारा शब्द संभार फेंकना पड़ता है कि उससे श्रोता को सायास अर्थ ग्रहण करने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। एक वाक्य के सारांश को देने या लेने के लिये महाकाव्य का कलेवर रचने की विवशता वक्ता की भी बन गई है और श्रोता की भी।

लोककवि तुलसी ने शिव और पार्वती को विश्वास और श्रद्धा का रूप बतलाया है तो कवि कुलगुरु कालिदास ने उसको वाक् और अर्थ के रूप में सहजबद्ध बताया है। विश्वासमय अर्थ और श्रद्धामयी वाक् आज हमारे व्यावसायिक मोह के महातमिस्र में अत्यन्त स्थूल हो गये हैं। वाक् के प्रति श्रद्धा ही जब नहीं है तो अर्थ के प्रति विश्वास कहाँ से जमेगा ? थूक लगाकर पुस्तक के पृष्ठ पलटने वाली पीढ़ी, पुस्तक के

पृष्ठों को मोड़-तोड़ कर प्रयोग करने वाला वर्ग और गुरुओं के विरुद्ध हाय-हाय का नारा लगाने वाला छात्र अपनेआपको वाक् और अर्थ के ऊपर समझता है। श्रद्धाहीन वाक् उसे क्रिया के घोर वात्याचक्र में फेंक देती है और उसका जीवन एक यान्त्रिक जड़ता वा व्यावसायिक निर्ममता का आखेटक बन जाता है। इस सबको देखकर लगता है कि पदार्थ के रूप में तुरियावस्था को प्राप्त यह भाषा वा माँ का वाङ्मय तनु स्थूलता की सीमा को छू रहा है। युग की विवशता कहें या हमारी संवेदनशीलता की कर्कशता कि हमारे वाक् व्यापार में भावशून्यता का भौंथरापन फैलता जा रहा है। प्रकृति के रागमय स्पन्दन को हम सुन ही नहीं पाते, अर्थ के शिवलोक में विलास कर रही वाङ्गमयी गौरी के नूपुरों का झणत्कार, हमारी कल्पना में भी नहीं आ रहा। अन्तर्मुखी अर्थस्वरूप शिव के सर्वतः गंगा, गौरी गणपति आदि का मन्द स्वर कितने निश्छल रूप में उसकी परम दिव्यता को प्रतिबिम्बित कर रहा है, नहीं जान रहे।

बात घूम-फिर कर वही आ जाती है। श्रद्धा और विश्वास पर ही हमारी दृष्टि केन्द्रित हो जाती है। इनके परस्पर सम्बन्ध के बिना, श्रद्धा के स्फुरण के अभाव में हमारी क्रिया का विस्तार एक सतही विस्तार मात्र रह जाता है। स्यात् यही हमारे इस युग की पहचान है। हमारे पूर्वज विचारक इस तथ्य से परिचित रहे थे, मनुष्य के व्यवहार में संभाव्य इस परिवर्तन का अनुमान उनको रहा होगा, इसीलिये उन्होंने वाक् को संस्कृत बने रहने के लिये अनेक प्रकार के विधि-विधान रचे। इन विधि व्यवहारों का विश्लेषण करने पर हमें एक ऐतिहासिक क्रम ज्ञात होता है। यह ऐतिह्य हमारे लोकाचार को कम, भाषा की संवेदनशीलता और हमारी संग्राहकता को अधिक प्रकट करता है। माना साहित्यिक स्तर के निबंधनों में लोकाचार को ग्राम्यता प्रकट नहीं हो पाती, फिर भी, रचनाकार को पर्याप्त सावचेतता के बावजूद किसी न किसी तरह से, कहीं न कहीं, झांक ही जाती है। उसका यह किंचित्क और क्वचित्क दर्शन ही सामाजिक संवेदना का प्रमाता बनता है।

वेदों के गीति और उपनिषदों की सूत्रशैली के युग से लेकर काव्य काल तक के वाङ्मय में यद्यपि शैलीगत परिवर्तन अवश्य है फिर भी यह परिवर्तन भाषा की अर्थवत्ता के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान् रहा है, अपवाद के रूप में ही हम उसके प्रति मन्दादर नहीं हुए। असंशय भाव से हम यह कह सकते हैं कि सहस्राब्दियों तक विस्तीर्ण यह कालखण्ड माँ को वाङ्मय तनु और अर्थप्राण समझकर पूजता रहा था इसीलिये इनमें सामरस्य बना रहा था। वाक् निष्प्राण अतएव निर्मूल्य नहीं रही। यह युग मनुष्य की प्राकृत

अवस्था का युग रहा था किन्तु इसी युग में विकृति का बीज भी पनप रहा था। इस दृष्टि से हम आज के वाक् व्यवहार अतएव भाव और वस्तु वा स्थिति के सामंजस्य की तुलना करें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि अर्थ के शिव ऊर्ध्वलोक में पहुँच गये हैं। उन तक पहुँच पाना हमारे लिये शक्य नहीं है और हमारा मन इतना आविल हो गया है कि वह मानसरोवर जैसा अनाविल अतएव बिंबग्राही नहीं हो सकता। अर्थ का शिवत्व हमारी श्रद्धाहीन वाक् में न अवतरित होगा, न प्रतिबिम्बित ही, यह संस्कारहीनता हमारे युग की पहचान बन गई है। क्या हुआ यदा कदा, उदासीन भाव से हम उनका स्मरण कर लें, इस निरपेक्षता से उनकी निर्ब्याज समाधि भंग तो नहीं हो सकेगी ? प्रस्तुत तथ्य को निष्प्रभ करने के लिये हम तर्क और युक्तियों का जाल बन सकते हैं किन्तु ये विश्वास के शिव हैं इन्हें प्रसन्न करने के लिये किसी समांरभ अथवा उपचारों के सम्मर्द की आवश्यकता नहीं होती। ये श्रद्धा की गौरी के निर्दोष सौन्दर्य और निश्छल साधना पर प्रसन्न होना जानते हैं। उपरिवर्णित तथ्य ऐसी ही अनुभूति की अनुश्रुति है जिसे तन्मना होकर ही आना/सुना जा सकता है अतः हम विसंवादी स्वरो को मुखर किये बिना ही अभीष्ट साक्ष्यों को संग्रहीत कर रहे हैं केवल इस निष्कर्ष के लिये कि अर्थ और शब्दों में गहरा अन्तराल उसे संस्कारहीन करता जा रहा है।

वैदिक युग में अर्थ प्रमुख था, शब्द उसका सहवर्ती। अर्थ के सुन्दर शिव को शब्द उसी तरह वहन करता था जैसे गंगा की सरणी गांगेय जल को। वेदों का अध्ययन जीवन का अंग था, उसका अर्थ हमारे तन-मन को दोलित किया करता था। इसलिये अधिक शब्द संभार की, व्याख्या और मीमांसा की आवश्यकता नहीं थी। कालान्तर में यही बोध जब अगम्य होने लगता तो साधना शास्त्र का उपदेश किया गया। वेद के मूल-वेद्य को विश्लेषण से मण्डित और क्रिया समन्वित अधिक किया गया। ऐसे भी कहा जा सकता है कि प्राकृत मानव की इच्छाओं के विस्तार ने उसे कामनापूर्ति के विविध मार्ग एवं साधना ढूँढ़ने को विवश कर दिया। वेद निरूपाधि अतएव यदृच्छातुष्ट समाज को हर्षविभोर करके उसे शब्द से नाद के आनन्द लोक में ले जाने का उत्तम आधार था। वहाँ उसके मानसिक आग्रहों ने उसमें विद्यमान शब्द विशेष की शक्ति (परमाणु वा अन्तराणु बल की तरह) को प्रकट एवं अपने प्रयोजन पूर्ति का माध्यम बनाया। ऋषियों ने व्यक्ति की विश्वदृष्टि में संकोच होता देख, व्यक्ति की कामना प्रताड़ित अवस्था का अनुभव करके शब्द में सन्निहित ऊर्जा को संकेतित किया, यहीं से सकाम अनुष्ठानों का प्रारम्भ हुआ, इसी युग में साधना शास्त्र के ग्रन्थों में फलश्रुति जोड़ी गई।

फलश्रुति का तत्त्वार्थ समझने वाले जानते हैं, कि एक अतिलघु बीज का विकास विशाल वृक्ष के रूप में वैसे ही हो जाता है जैसे वह्नि का बीज 'र' अग्नि, धूम्रशिख, वैश्वानर, हव्यवाह, दावा और बड़वा के रूप में अति विस्तार को प्राप्त हो जाता है। उसका रूप बदलता है, आकार बदलता है, प्रभाव क्षेत्र बदलता है। अर्थ का रुद्र वाक् के संयोग से कितना त्वरित और विस्तारित हो जाता है यही स्तुतियों का रहस्य और फलश्रुति का मूल है। अर्थ मूल रूप में शक्ति को प्रवृत्त करने वाला आधार है। मातृका रूप कालिका कला अर्थ के बिना प्रवृत्त कैसे होगी, इन दोनों अर्थ और शब्द, हर और गौरी के संवर्तन के स्थूल और सूक्ष्म स्तर पर क्या प्रभाव पड़ेंगे—यही फलादेश का मूल रहस्य है। अर्थ को वहन करने वाला शब्द और शब्द को छन्दित करने वाला अर्थ युगपत् वृत्ति है फिर भी इनमें पूर्वापरभाव रहता है, एक में दूसरा बीजभाव में रहता है। आशय यह कि जिस युग में फलश्रुति की आवश्यकता हुई उस युग तक अर्थ और शब्द की एकरूपता और एकतानता में अन्तर दिखने लगा था, भले ही यह अन्तराल मनुष्य की अपनी क्षुद्रता के कारण कामनाओं के दबाव से पड़ा हो या प्रकृति के रहस्यों को अनावृत करने की जिज्ञासा से हुआ हो, फिर भी अर्थ, शब्द से दूर नहीं छिटका था। उस युग तक फलश्रुति वैसे ही घटित होती थी जैसी वर्णित रहती थी। यों भी कह सकते हैं कि मानव की व्यष्टि चेतना जागतिक आग्रहों और सामाजिक मोहों से इतनी आक्रान्त नहीं हुई थी कि अर्थ की गरिमा से ही अपरिचित रह जाए। आज भी हम एक शिशु के व्यवहार को देख सकते हैं, वह निरात्म शब्द का व्यवहार नहीं करता, मिठाई कहते ही उसका मुख खिल जाता है अथवा अन्य किसी अभीष्ट वस्तु को पाने की आशा-आश्वासन से वह इतना सन्तुष्ट हो लेता है कि वह हर्ष उसकी मुखाकृति पर व्यक्त हो जाता है। शैशव के निर्दोष व्यवहार में शब्द और अर्थ में इतना अन्तर नहीं पड़ता इसलिये शब्द के साथ ही अर्थ उसके मानस पटल पर प्रकट हो जाता है। क्या आश्चर्य है यदि मानव के शैशव में भी शब्द और अर्थ इसी तरह के समवर्ती रहे हों ? अर्थ के शिव और शब्द की शक्ति का अवतरण मनोलोक में होता है। यही वह लोक है जहाँ इतरेतरता है, अर्थात् दानवत्व भी इसी के समकक्ष अवस्थित रहता है। सत्त्व की ओर निसर्गतः प्रवृत्त रहने वाला देव और प्रकृत्या तामसी रहना दानव कहलाता है पर शक्ति यहाँ दोनों ही वर्गों में समान रूप से प्रकट रहती है अथवा एक ही शक्ति के स्थान एवं वृत्ति के कारण ये दो भिन्न किन्तु परस्पर विरुद्ध वृद्धि स्वरूप है। अर्थ की सप्राणता दोनों ही स्तरों पर अभिव्यक्त रहती है। यह दूसरी बात है कि एक में वाक् का भीषण-उत्पीड़क है दूसरे में सौम्य-पोषक है। देवता के अर्जन में

जो कर्मकाण्ड का विस्तार होता है उसका सम्बन्ध अन्ततः सूक्ष्म से होता है, एक साधक का समग्र वाक् संभार अर्थ प्रवण रहता है इसलिये वह सारे कर्मकाण्ड में जितना सक्रिय रहता है उतना ही सज्ञान भी। देवत्व जैसे सूक्ष्म को अर्थात् शब्द में विद्यमान शक्ति की शाश्वत सार्थकता को हम वाक् व्यवहार से ही प्रकट करते हैं। जो कुछ अर्पित करना होता है, जो कुछ प्राप्त करना होता है, जिस प्रयोजन के निमित्त हम हमारे जपादि कर्म को विनियुक्त करते हैं तथा उस प्रक्रिया में हमारे से जो जुटि हो जाती है उसके लिये क्षमायाचना भी वाक् के माध्यम से ही की जाती है। निष्कर्ष यह कि फलश्रुति के अनुसंधान के समान्तर काम्य अनुष्ठानों का विधि विस्तार भी शब्द और अर्थ के सामंजस्य को बनाये रखने की ही प्रक्रिया है।

आर्षदृष्टि मानवी वृत्ति के इस सहज परिवर्तन को, व्यष्टि चेतना की अन्तर्मुख समाधि को, देख सकती थी। मन की प्रवृत्तिपरकता से जुड़ी हुई मोह की कर्कशता का अनुमान उस दूरद्रष्टा को था इसलिये फलश्रुति का निर्देश दिया, क्रिया-काण्ड को विस्तारित किया। साधना के स्थूल स्तर पर रहने वाले जानते हैं। यह स्तर स्थूल इसलिये कहा गया है कि यहाँ अर्थ और शब्द एकाचारी नहीं रहते, साधक की भावभूमि ज्ञान के तेजस् से प्रदीप्त नहीं रहती—देवता के आवाहन, अभिमुखीकरण, पाद्य, नैवेद्य, से लेकर क्षमापन तक के कार्य वचन प्रयोग से ही सम्पन्न होते हैं—किन्तु यह वचन तभी लक्ष्यवेधी होता है जब इसमें विश्वासरूप शिव प्रतिष्ठित होते हैं। अर्थ के शिव की जागृत मुद्रा मनःसरोवर में प्रतिबिम्बित होकर ही हमारी व्यक्ति चेतना, समष्टि चेतना से एकतान हो पाती है। अन्यथा क्रिया का निरर्थक विस्तार एवं हमें निराशा से आक्रान्त करने के सिवा कुछ नहीं कर पाता। निराशा जड़ता का ही नाम है और जड़ता का प्रसार विकृति को विस्तारित करता है। विकृति का विस्तार ही आसुरीवृत्ति कहलाता है—प्राकृत स्तर पर विस्तारित हो रहा सत्त्व देवत्व का और विकृति स्तर पर प्रसार पार रहा तमस् दैत्य का प्रतीक होता है—परिणाम यह होता है कि देवत्व का मन्द और सौम्य स्वरूप क्षीण होने लगता है और एक प्रचण्ड क्रिया व्यापार चल पड़ता है। आज हम जिस सामाजिक संत्रास एवं मूल्यहीनता से घिरते जा रहे हैं वह हमारे निरर्थक वाक् विस्तार से प्रकट हो रहा है।

वाक् का संस्कार करने से अर्थ अपने सम्पूर्ण वैभव से उद्भासित हो जाएगा यह बात आपाततः बुद्धिगम्य नहीं है किन्तु संस्कारित गौरी पर शिव की स्नेहवृष्टि नहीं होगी, यह कैसे संभव है ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि विकार पहले वाणी में नहीं आता, वाणी

तो अर्थ की संवाहक मात्र है अतः विकार पहले भावलोक में प्रकट होता है। रोग तभी बहिर्लक्ष्य होता है जब वह भीतर प्रसारित हो लेता है। ऐसे ही हम वाणी को प्रभावहीनता से अन्तःसर्पी विकार का अनुमान लगाते हैं और यह विकार शब्द और अर्थ के परस्पर आबंध का शिथिलन ही होता है। वाणी को सार्थक सप्राण बनाये रखने के लिये ही उनका संस्कार किया जाता है। यह संस्कार मूल रूप में भाव जगत् में ही होगा पर उसका माध्यम यह वाणी ही रहेगी। वाणी का संस्कार कई स्तरों पर होता है फिर भी मुख्य रूप से स्थूल और सूक्ष्म स्तर पर उसके संस्कार होते हैं। स्थूल संस्कार से आशय उसकी सिद्धता और शुद्धता है सिद्ध का अर्थ होता है नियमों से परिमार्जित। स्थूल संस्कारों में पहला संस्कार करता हैं—छन्दस् शास्त्र, शब्द को जिस तरह से बोलना चाहिए उसकी विधि बताना छन्द का काम है। दूसरा संस्कार करता है—व्याकरण ये दो प्रमुख विधियाँ हैं जो वाणी को ग्राम्य नहीं होने देती। इसी के कारण अर्थ के शिव, विरूपित नहीं होते, इसी से हमारा अन्तस्तल निष्कल्मष होता है, शिव के अवतरण के उपयुक्त बनता है, अर्थ अपने पूर्ण प्रकाश से उद्भासित होता है। आभ्यन्तर संस्कार में अर्थ के शिव को सत् से समन्वित अथवा सत्प्रतिष्ठ करना होता है। इस संस्कार में अर्थ के तेज को सौम्य-प्रदीप्त बनाये रखने के लिये सत् के छन्दस् से आबद्ध किये रखना होता है। इस संस्कार की नित्यभूमि पश्यन्ती क्षेत्र है, शब्द और अर्थ की युति का सौन्दर्य यहाँ शाश्वत रूप से भासमान रहता है। यह संस्कार देश, काल, पात्र जैसी परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता अर्थात् इसके लिये व्यक्ति को ही उपयुक्त बनना पड़ता है। शब्दार्थ के संयोग का वैकलव्य किसी भी स्थिति में स्वीकार्य नहीं होता। जैसे वेदों का ज्ञान-तंत्र, पुराण, शाबर आदि पद्धतियों में रूपान्तरित होता गया वैसे वाक् का संस्कार काल एवं पात्र का अनुसारी नहीं रहा। इस आन्तरिक संस्कार से सम्पन्न व्यक्ति ही ऋषि के पवित्र सम्बोधन का अधिकारी होता है। स्थूल संस्कार से अधिक प्रभावपूर्ण यह रहता है इसलिये व्याकरण के नियम से असिद्ध वा अशुद्ध रहने पर भी केवल ऋषि द्वारा कहे जाने से ही शुद्ध मान लिया जाता है। व्याकरण शास्त्र के अध्येता और साधना शास्त्र के पाठक जानते हैं कि कई स्थानों पर 'आर्षत्वात् साधुः' - अर्थात् ऋषि निर्दिष्ट होने के कारण सिद्ध है-कहकर व्याकरणकार ने ऋषि की तापसी गरिमा को सम्मान दिया है। जैसे आत्म संस्कृत व्यक्ति को शारीरिक शुद्धता वा स्थानागत मार्जन प्रोँछन की अपेक्षा नहीं रहती। ऋषियों का सत् दर्शन इतना स्फीति रहा था कि उस पर व्याकरण का नियंत्रण नहीं चलता था।

वाक्सिद्धि का प्रयोग करने वाले के लिये सत्य का सर्वांशतः पालन करना एक शर्त/समय है। वाक्सिद्धि का अर्थ भी यही होता है कि वह व्यक्ति जो कुछ कहता है वह यथार्थ रूप में घटित होगा ही अर्थात् अर्थ के शिव उसकी वाणी में प्रकटतः व्यक्त रहेंगे। शब्द और अर्थ को प्रगाढ़ रूप से जोड़े रखने की क्षमता सत् में ही है, यह हम जानते हैं। शास्त्रकारों ने परिहास, स्वप्न और गुरुतरहित साधन के लिये वाणी को स्वतंत्रता दी है अर्थात् इन अवस्थाओं में व्यक्ति असत्य बोल जाता है तो इससे व्रत खण्डित नहीं होता। किन्तु यह तो वैसे ही हुआ जैसे एकादशी के व्रत में अन्नरहित वस्तु खाना। प्रकृष्ट स्तर पर सत्य का पालन करने वाला व्यक्ति इन स्थितियों में भी असत्य नहीं बोलता। राजा हरिश्चन्द्र इतिहास में सत्य के प्रतीक इसलिये हैं कि उन्होंने स्वप्न में कहे गये को भी जागृत की तरह सम्मान दिया। जिस द्रोणाचार्य पर आज आक्षेप लगाया जाता है कि उन्होंने एकलव्य की निष्ठा के साथ क्रूरता की उसके मूल में एक तथ्य रहा था कि उन्होंने अर्जुन को अपने शिष्यों में सर्वोत्तम व अप्रतिम रहने का वचन दिया था और जब एकलव्य अर्जुन का अतिक्रमण करने लगा तो उन्होंने अपनी वाणी को अक्षतार्थ रखने के लिये ऐसी दक्षिणा मांगी। यही स्थिति दशरथ की रही कि अपनी वाणी की रक्षा के लिये प्राणाधिक-प्रिय राम को उस समय वनवास देना पड़ा जबकि उनका राज्याभिषेक होना था। इस सारे उदाहरणों की ऐतिहासिकता अथवा इन घटनाओं के परिप्रेक्ष्य को अन्य आयामों से देखने-सिद्ध करने की अभी कोई आवश्यकता नहीं है, हम तो इसका साधनागत किंवा शिवाराधना की प्रक्रिया से संगति रखने वाला रहस्य जानने की चेष्टा कर रहे हैं और इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सत्य की उत्कृष्ट साधना करने वाला अपवाद की स्थितियों में भी उसका उल्लंघन नहीं करता।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वाक्-संस्कार का उत्तम-स्तर सत् है, सत् में किसी भी प्रकार का छल, पिधान वा कुटिलता नहीं रहने पर ही वाक् अर्थ और शब्द समन्वित रहेगी। इसके लिये हम वाणी के प्रति जितने संवेदनशील रहेंगे, उसके प्रति जितने श्रद्धालु होंगे, उसके उपयोग में जितने सावधान रहेंगे उतने ही संस्कारित होंगे।

□□□

आत्म संस्कार

मेरी अपनी दृष्टि में ऐसा दिखता है जैसे संसार में केवल दो ही मूल अवस्थाएँ हैं एक उद्गम, दूसरी संवरण। एक सात्विक, दूसरी तामस। किन्तु इन अवस्थाओं की अभिव्यक्ति जिस तरह होती है वह विस्तार कहलाता है और हम इसी विस्तार में रहने, इसी को नापने के अभ्यस्त बने हुए हैं। अधोमूल और ऊर्ध्वशाख यह वृक्ष तत्त्व दृष्टि में ऊर्ध्वमूल अधः शाख दिखता है किन्तु पेड़ का विस्तार मूल प्रान्त से शिखान्त तक रहता है और हम इसी को समझते हैं। यही दृष्टि हमें पुष्प, फल, पल्लव, त्वक् आदि पर केन्द्रित करती है। यह सीमान्त माँ के मोह मय स्वरूप अतएव महालक्ष्मी के क्षेत्र का विस्तार है।

यथार्थ में यह परिक्षेत्र उद्गम से तो जुड़ा हुआ है ही किन्तु उपसंहार से अविच्छिन्नरूप से बंधा हुआ है। प्राकृत नियम का स्थूल-दर्शन हमें यह बतलाता है कि बीज से उद्गत वृक्ष अब विनाश का ही विषय होगा पुनः बीज का नहीं होगा (यह दूसरी बात है कि बीज के रूप में वह सर्जन से विमुख वा विरत नहीं होता पर उसका कलेवर तो काल कां ग्रास ही बनेगा, वह स्वयं संहरित हरित होकर अपनी बीजमयी अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता) किन्तु यह पारमार्थिक दृष्टि नहीं है क्योंकि उसे बीज का रूप देने वाली प्रकृति बीजात्मक नहीं तत्त्वात्मक है, हमारी भावनाओं में विविध प्रकार के उद्वेग और आवेश उठाने वाली प्रकृति गुणात्मक है। इसलिये यह तत्त्वों के वा गुणों के मूलरूप वा चक्र को व्यवस्थित रखती है और उनका परिमार्जन एवं सन्तुलन बनाये रखती है। इसलिये प्राकृत भाषा में पदार्थ का मूल रूप में लौट जाना उसका व्याकरण है और प्रकृति के व्याकरण से भिन्न कोई सिद्धि हुआ नहीं करती। यह उसी परमेश्वरी का परम वैचित्र्य है कि हम मूल अवस्थाओं का विस्मरण कर देते हैं और मध्यमावस्था में ही भ्रमते रहते हैं। जैसा कि ऊपर कह आये हैं-वृक्ष बीजरूप में अपने कलेवर को संहरित नहीं कर सकता किन्तु प्राकृत अवस्था में तमस् को समुज्ज्वल होकर सत्वस्वरूप प्राप्त करना होगा यही उसकी मूल प्रकृति है। गुणमयी अवस्था में रज सत्व को दोलित करने वाला होता है और उस दोलन के पश्चात् स्वयं अपने अस्तित्व को विस्तारित करता है और अपना क्षेत्र बना लेता है। यह ठीक वैसे ही है जैसे मूल प्रान्त से लेकर शिखाग्र तक विस्तीर्ण वृक्ष, किन्तु

गुणात्मक स्तर पर रज को मध्यम मान लेने से उसकी दोनों ही अवस्थायें संभावित रहती है—वह सत्य की ओर भी उन्मुख हो सकता है, और तम की ओर भी। सामान्यतया तमोऽभिमुखी अवस्था ही रहा करती है किन्तु कई एक कारणों से वह सत्त्व की ओर भी उन्मुख हो जाता है।

आज हम जिस विज्ञान पर इतने आश्वस्त हैं और गर्व कर रहे हैं वह मूलतः अज्ञान का विस्तार है। अज्ञान इसलिये है कि वह अपने चरम को नहीं पहचान रहा, उसकी शैली नितान्त बहिर्मुखी है, उसमें विश्वास का संकोच हो रहा है, उसके आविष्कार आश्वस्ति को नहीं आशंका को बढ़ा रहे हैं। ज्ञान को अज्ञान से अथवा चेतन को जड़ से विरोध नहीं होता प्रत्युत अज्ञान को ज्ञान से और जड़ को चेतन से द्वेष होता है। यही विरोध प्रकृति के मूल रूप में द्वेष की जन्मभूमि होता है। क्रोध का उत्स एवं कारण होता है और राक्षसत्व का बीज यही अंकुरित होता है, इसके विपरीत चेतन की जड़ के प्रति दयाप्रवणता अथवा ज्ञान को अज्ञान के प्रति सहानुभूति कृपालु स्नेह की अवकाश भूमि में होती है, देवत्व का प्रकटीकरण ऐसे ही परिप्रेक्ष्य में होता है। राक्षण द्वेषजीवी और क्रोधभक्षी होता है इसलिये वह देवताओं से लड़ने जाता है, देवत्व दयाप्राण और स्नेहनिष्ठ होता है इसलिये वह सबके लिये स्वस्तिवाचन करता है।

देवत्व मनुष्य से उत्कृष्ट स्तर है, उसमें ज्ञान अपने शुद्ध स्वरूप को क्षीण नहीं कर पाता, उसके बिल्कुल सामने किन्तु विपरीत वृत्ति एवं गुण धर्म वाला असुरत्व है वहाँ अज्ञान अपने संकीर्ण खोल को अक्षत रखे हुए है और मनुष्य उनसे समान दूरी पर स्थित त्रिभुज का शीर्ष बिन्दु है। उससे सुर और असुर, ज्ञान और अज्ञान, सत्त्व और तम समान रूप से निकटस्थ वा दूरस्थ है। जब वह देवत्व का लाभ करता है तो श्रद्धा, विश्वास, क्षमा, दया आदि गुणों का विकास करता है और जब असुरत्व को अधिगत करता है तो द्वेष, असूया, क्रोध, अहंकार आदि को स्वीकार करता है। श्रद्धाशीलता के अभाव में उसका आन्तरिक बल क्षीण होने लगता है और उसका स्थानिक बाह्य बल संचित होने लगता है। बाह्यबल भी बल के रूप में प्रभावशाली तो है किन्तु स्थूल होने के कारण वह यथार्थ नहीं है। यह श्रद्धा और विश्वास का संकोच, व्यक्ति को या तो अनास्थावादी बना देता है या उसे ऐसे द्वन्द्व में उलझा देता है जिससे वह न 'उसे' छोड़ सकता है न 'इसे' अपना सकता है।

सबसे दारुण स्थिति वह होती है जब व्यक्ति अपने रूढ संस्कारों से मुक्त होने के लिये अथवा अपने में प्रतिष्ठित सत् को मूक करने के लिये अविश्वास को मुखर होने देता

है। आज के विज्ञान को अज्ञान का प्रसार मानने के पीछे भी यह एक प्रबल कारण रहा है कि ज्ञान अधिक वितण्डा नहीं करता वह प्रत्यय और अव्यय को, श्रद्धा और विश्वास को अवकाश देता है इसलिये वह पदार्थ वा विस्तार के रहस्य को, व्यक्ति के आत्म को पहचान लेता है। इसके विपरीत अज्ञान तर्क को विश्वास का आधार बनाता है। तर्क प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, युक्ति की चतुष्पदी पर खड़ा होता है। माना, इन आधारों पर हम पदार्थ को प्रमाणित कर सकते हैं, एक अवस्था को सिद्ध कर सकते हैं किन्तु इससे विश्वास के निर्द्वन्द्व आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते, चरम स्थिति के वैभवपूर्ण दिव्य को नहीं जान सकते।

संसार को असत् वा निन्दनीय कहना अनुचित है, जैसे देह की उपेक्षा करना। इसके साथ ही यह भी ध्रुव है कि संसार में स्थिरता अथवा शाश्वतिकता नहीं है इसलिये यह सत् नहीं है पर उस सत् व शाश्वत को इसमें रहकर ही जाना जा सकता है, जब तक हम ऊर्ध्वमूल को नहीं पहचान लेतेतब तक अधोमूल ही हमारा आधारस्थल बना करता है, देह के बिना देहाधिष्ठाता की प्राप्ति कैसे संभव है ? संसार का यह ऊहापोह, इसकी यह प्रचण्ड गति ही इसका रूप-सौन्दर्य हैं, इसकी उपेक्षा करने से काम नहीं चलता, लोक प्रकृति का यह उपादान इतना क्षुद्र तो नहीं है कि इससे द्वेष रखा जाए अथवा तृणवत् अनुपयोगी मान लिया जाए। फिर भी यह हमारा साधन है। जो लोग शरीराश्रयी होते हैं, वे इसको सजाते हैं, बाह्यबल की साधना करते हैं, देह की अर्चना करते हैं। उनसे यह संसार समाकीर्ण है, उनके ही कारण यह चल रहा है किन्तु जिनकी दृष्टि इसके रहस्य को परखना चाहती है उनके लिये यह रक्षणीय है। माना उनकी इस देहपिण्ड पर आस्था नहीं रहती, वे अनिश्चितायु इस शरीर पर निर्भर नहीं रहते, वे इसे माध्यम बनाकर कहीं आगे की यात्रा करना चाहते हैं। यह दृष्टि ही मनुष्यता है, इससे कम असुरत्व है, जड़ता है और इससे आगे किन्तु इसी के समानान्तर देवत्व है।

मनुष्य एक कुरुक्षेत्र है जिसमें एक प्रकार का अनवरत युद्ध चलता रहता है। इसी क्षेत्र—देह—में यह चारुता है कि वह चाहे तो कौरवदल में अपना स्थान ले सकता है और चाहे तो पार्थ का पार्श्वचर बन सकता है पर संघर्ष उसे करना ही पड़ता है, कर्म के आवर्त से असंपृक्त नहीं रह सकता—यह उसकी विशेषता है या विवशता है। युद्ध के परिणाम निकलते ही है। कभी भी युद्ध निष्क्रिय अवस्था में नहीं रह सकता, यही सोच कर हम विशद् अर्थ में मनुष्य को योद्धा और मानवदेह को कुरुक्षेत्र कहते हैं। इस स्तर पर भयंकर संघर्ष होता रहता है, जो लोग केवल युद्ध को चरम मान लेते हैं वे जड़वादी हैं

अथवा उसे फल से प्रसक्त करके अपने इच्छा वितान को विस्तारित कर लेते हैं वे विमूढ़ हैं। जो इसे एक अनिवार्य माध्यम मानकर लड़ते हैं वे स्थिरधी कहलाते हैं। युद्ध में इसलिये जूझते हैं कि उससे एक अयोधनीय स्थिति प्राप्त होगी, वे कृष्ण के अंगुलिनिर्देश को समझ पाते हैं।

मनुष्य को देवत्व प्राप्ति हो या न हो, इतना अवश्य है कि उसमें देवत्व प्रकट होकर रहता ही है। जब कभी व्यक्ति आत्मरचित मोह और प्रकृति निमित्त जड़ता से ऊपर उठना चाहता है तो देवत्व का क्षेत्र उसमें उद्भासित होता है। भावना बल से श्रद्धा की एकनिष्ठ दिव्यता से और इष्टकर्म से देवत्व लाभ होता है—किन्तु यह प्राप्ति आवागमन से अछूती नहीं रहती। माना, कर्मलब्ध इस देवत्व में संघर्ष अल्पप्राण रह जाता है फिर भी इससे च्युति तो होती ही है, जो स्वभावतः देवत्व के प्राकृत स्तर को प्राप्त किये रहते हैं, उनको दानवों से संघर्ष करना पड़ता है। आशय यह है कि मानवी देह के कुरुक्षेत्र में जो कृष्ण को साक्ष्य रखकर धर्मराज के पक्ष में लड़ चुके होते हैं उनको स्वर्गप्राप्ति भोग परकता के निर्मित मिलती है, उनको संघर्ष में प्रत्यक्षतः प्रवृत्त नहीं होना पड़ता किन्तु जो उससे आगे जाने के लिये सचेष्ट बनते हैं उनको फिर दानवी वर्ग से युद्ध करना पड़ता है। हमारे उपाख्यानों में ऋषियों को राक्षसों से पीड़ित होने के रूपक इसी अवस्था का दिग्दर्शन कराते हैं। दानवीवात्या से अप्रभावित रह कर अपने लक्ष्य के प्रति सतत गतिशील कर्म व्यक्ति को भगवत्ता के क्षेत्र में प्रविष्ट करता है देवत्व के स्तर पर जो द्वन्द्वभाव परस्परभिमुख था वह भगवत्ता के क्षेत्र में साम्यभाव को प्राप्त हो जाता है। साम्य से आशय यह है कि स्वर्ग में अथवा देवता के स्तर तक स्थिरता नहीं है कभी दैव तेजस् क्षीण होने लगता है और दानवी प्रभाव वली होने लगता है तो कभी इससे विपरीत स्थिति आ जाती है। यही वैषम्य है और इससे आगे की अवस्था साम्य की है।

इस साम्य में सत्त्व आधारशक्ति के रूप में स्थिर रहता है, रजस् और तमस् के मृदु वा तीक्ष्ण आघात उस पर नहीं होते। यह विवेचन यद्यपि बुद्धिविलास ही दिखाता है और जब तक व्यक्ति का मन प्रबल है तब तक कल्पना की झंझा चलती रहती है उसकी अलकापुरी में कुण्ठा और भोग का द्वन्द्व चलता रहता है किन्तु इससे थोड़ा ऊपर उठने पर शब्द एक प्रमाता के रूप में उपस्थित होता है और हम उसके बोधव्य को बिना तर्क के समझ लेते हैं। हमारे सारे शास्त्र प्रकृति के वैचित्र्य को चित्रित करते हैं, वे व्यक्ति में घटरहे को विश्व प्रकृति से अविच्छिन्न करके प्रस्तुत करते हैं। इस सम्बन्ध में ज्योतिष अधिक विश्वास के साथ और सर्वगम्य प्रामाणिकता से कहता है। तो आयुर्वेद उस गुणात्मक व्यवस्था को व्यक्ति के स्थूल एवं मनोमय देह में देखता है।

ज्योतिष के अनुसार आकाश में शुभ ग्रहों के बली रहने पर सत्वगुण प्रकट होता है, पाप ग्रहों के सबल होने पर रजोगुण और क्रूरग्रहों के बलवान् रहने पर तमोगुण अभिव्यक्त होता है। यह अभिव्यक्ति वातावरण में और सामाजिक जीवन में तो होती ही है, इस प्रकार की मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों का जन्म भी ऐसे ही समय में होता है अर्थात् पुण्यात्मा और पापात्मा व्यक्तियों के अभिव्यक्त होने का यह प्राकृत मुहूर्त होता है। ज्योतिष व्यक्ति के चरित्र को लेकर उसके जन्मकाल के आधार पर विशद् समीक्षा करता है। यह समीक्षा परोक्षरूप में प्रकृति की मूल गुणात्मक धारा को संकेतित करता है। सारावली के वचन के अनुसार सत्वगुणी व्यक्ति—

मृदुर्दयालुर्बहुदारभृत्यः स्थिरस्वभावः प्रियसत्यवादी ।

सुरद्विजोपास्तिकरः सहिष्णुः भवेन्नरः सत्वगुणप्रधानः ॥

अर्थात् जिनमें स्वभावतया अथवा अन्य कारणों से सत्वगुण की प्रधानता होती है वे प्रकृति से कोमल, स्वभाव से दयावान्, अनेक स्त्री और सेवकों से युक्त, स्थिर विचारवाले, मधुर किन्तु सत्य बोलनेवाले, देवताओं और ब्राह्मणों का सम्मान करने वाले तथा सहनशील होते हैं। यहाँ अनेक स्त्री और सेवकों से युक्त का अर्थ यह नहीं होता कि उनके पत्नियाँ और दास-दासियों की भीड़ रहती है प्रत्युत सत्वगुण प्रमुख व्यक्तियों के कोमल स्वभाव और शालीन आचरण से लोग उनके प्रति आकृष्ट रहते हैं तथा उनके अनुशासन को वे सम्मानपूर्वक स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत तमोगुणी व्यक्ति—

मूर्खाऽलसो वंचयिता परेषां क्रोधी विषण्णः पिशुनः क्षुधार्तः ।

आचारहीनो न शुचिर्मदान्धो लुब्धः प्रमादी तमसाभिभूतः ॥

अर्थात् जड़ प्रकृति, आलसी, दूसरों को ठगने वाला, दुखी, क्रोधी, चुगली करने वाला, अधिक खाने वाला, आचारहीन, गन्दा, लोभी लापरवाह और घमण्डी होता है। रजोगुणी व्यक्ति—

शूरः कलाकाव्यनिधिः सुबुद्धिः स्त्रीभोगसंसक्तमना प्रवीणः ।

आडम्बरी हास्यरतिः प्रगल्भो गेयाक्षविद्राजसिकः प्रदिष्टः ॥

अर्थात् वीर, कठिनताओं से मुँह नहीं मोड़ने वाला, कलाविद्, काव्यरसिक, अच्छी बुद्धिवाला, स्त्रियों और भोगों में मन रखने वाला, चतुर, आडम्बरप्रियः मजाकिया, वाक्चतुर, गाने में और जूआ आदि खेलने में निपुण अथवा पारखी होता है।

माना यह विषय ज्योतिष का नहीं है किन्तु ग्रहों की रश्मियों से व्यक्ति का स्थूल और मनः शरीर प्रभावित होता है तथा ग्रहों को भी शास्त्रकारों ने सत्त्वादि गुणों के वर्गीकरण में परिगणित किया है इसलिये गुणात्मक एवं तत्त्वात्मक रहस्य को समझ लेना आवश्यक होता है, तभी हम अपने मार्ग को निर्धारित कर सकेंगे और आत्मसंस्कार कर पायेंगे।

हमारे इतस्ततः जो वातावरण है, वह व्यक्ति स्वातंत्र्य का नारा अवश्य लगाता है किन्तु वह स्वातंत्र्य निर्बाध भोग की सुरक्षा कामना है। तमोगुण का प्रभाव इतना बढ़ रहा है कि मनुष्य अत्यन्त क्षुधार्त हो गया है, उसे स्व के अतिरिक्त कुछ दिखता ही नहीं इसीलिये वह पिशुनवृत्ति, परवचक, अपवित्र और मदान्ध होता जा रहा है। भ्रष्टाचार की अशुचिता और दुश्चरण का अज्ञान हमारी समष्टि चेतना का अज्ञान पराजित कर चुका है। ऐसे परिप्रेक्ष्य में अज्ञान को विज्ञान कह दिया जाए तो आश्चर्य क्या है ?

हमारी आर्ष मर्यादा के अनुसार तमोगुण की प्रबलता में आसुरी वृत्तियाँ अवतरित होती हैं और उनका आचरण जैसा ऊपर बताया गया है वैसा ही रहता है। इसका परिणाम तो यह हुआ कि व्यक्ति एक बार जिस स्तर में घिर गया, उसी में घिरा रहता है तो मनुष्य का स्वातंत्र्य अथवा मानव स्तर पर उसे शुक्ल वा कृष्ण चुनने का मूल अधिकार कहाँ रहा? स्वकृत कर्म विपाक जीव को घेरे रहता है और तदनुसार ही उनकी गति-मति बनती है-इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु प्रसंग यहाँ मानवी स्तर का था, मनुष्य देह में चेतना और बुद्धि के सन्तुलित अतएव स्वतंत्र भाव का था। हमारे कर्मों के विपाक रूप में जो कुछ भोग्य है उसे भोगने से शेष जो है वही मानवीय स्वतंत्रता है। यदि प्रकृति के लिये यह देह केवल भोगोपकरण मात्र रहता तो इसे चिन्तन और कर्म की सुविधा नहीं रहती किन्तु है, और इसीलिये इसी स्तर पर ऋषि और मुनि जैसे शब्द प्रकट होते हैं।

देह की या जगत् की उपेक्षा करना तब तक अर्थ नहीं रखता जब तक व्यक्ति देहतर तत्त्व को अधिगत नहीं कर लेता अतः संघर्ष तब तक चलता रहता है जब तक कि विदेहवृत्ति का उदय नहीं हो जाता। आज के आत्मरत एवं अर्थपूजक युग में अपने आपको संस्कारित करना अत्यधिक आवश्यक हो गया है। देह का संस्कार तो प्रकृति स्वयं करती रहती है पर विचारों का संस्कार व्यक्ति को स्वयं करना होता है। संसार के संकल्प-विकल्पों के वात्याचक्र में रहते हुए एक स्थिर तत्त्व पर दत्तदृष्टि होना है यही अभ्यास व्यक्ति का शनैःशनैः परिष्कार करता है और निरन्तर चेष्टारत रहने पर एक सत् का आभास होने लगता है, यही आभासिक अवस्था समय पाकर ध्रुव बन

जाती है। वैचारिक संस्कार का मंत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। विचारों का बलात् वा आयाम पूर्वक पवित्र रखने के प्रयास में कभी-कभी विपरीत स्थितियाँ अथवा विकर्षणवृत्ति संभावित रहती है जब कि मंत्र के जप में व्यक्ति को अपने वैचारिक स्तर पर मंत्र को विस्तारित कर देना होता है और इस प्रक्रिया में वैसी ही सरलता एवं सरसता रहती है जैसी किसी बालक को कोई काल्पनिक प्रतीक याद रखने में अथवा भक्ति के किसी आधार को स्थापित करने में। फिर भी शास्त्र का यह आग्रह नहीं है कि व्यक्ति मंत्र को या देवता को माध्यम बनाये ही, यदि किसी व्यक्ति में इतनी शुद्धता व स्थिरता है कि किसी परिकल्पना के बिना ही अपने को वैचारिक स्तर पर सुदृढ़-सम्पन्न बना सकता है तो उत्तम बात है।

इस संस्कार की वास्तविक उदात्तता भले ही सामान्य स्तर के व्यक्ति के लिये बोध्य नहीं हो फिर भी आज के इस निबिड सम्मर्द में यह बहुत रुचिकर है। शहर में रह रहा व्यक्ति सूर्य और चन्द्र के दर्शन भी नहीं कर पाता, अर्थ की मार खाते-खाते व्यक्ति की संवेदना भौंथरी हो चुकी है और इस यांत्रिक जीवन में व्यक्ति निष्प्राणता की सीमा तक नीरस हो चुका है, ऐसी कारुणिक अवस्था की त्रासदी में यदि वह संसार की प्रचण्ड गति से थोड़ा हट कर देखें, इन तनावों और तमोगुण के प्रसार का मर्म समझ सके तो यह आत्म संस्कार होगा।

□ □ □

मानसिक एकाग्रता

मन एकाग्र नहीं होता और इसके एकाग्र हुए बिना साधना में वह उत्कर्ष नहीं आता जिस पर हमारी साधनागत सार्थकता निर्भर करती है। इसे एकाग्र करने के लिये पीढ़ियाँ जूझती रही हैं। अपनी तरफ से हरेक पीढ़ी ने कोई न कोई रास्ता बताया है पर न वे उपाय सभी के लिये सुगम हैं न अमोघ ही। इसकी गति इतनी चंचल और यति इतनी अटपटी है कि सुस्वर बोलता-बोलता कर्कश अलापने लगता है। जब इसकी त्वरा का आभास होता है तो लगता है कि हमारा किया कराया सब व्यर्थ गया, इतने दिनों तक या देर तक किया गया श्रम अर्थहीन रहा।

इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है कि मन एकाग्र होता है। इसके एकाग्र हुए बिना कला का अवतार नहीं हो सकता। जितने भी गान, चित्र, मूर्तियाँ, कविता जैसी सुकुमार अभिव्यक्तियाँ हैं। से सब इसकी एकाग्रता का ही परिणाम हैं, और तो और काम, क्रोध, लोभ, मोह जैसे घोर सांसारिक भाव भी इसी की तन्मयता की सिद्धियाँ हैं। जो लोग मन के एकाग्र न होने की समस्या से ग्रस्त हैं वे आत्म निरीक्षण करने पर पायेंगे कि उनके दैनिक जीवन में अनेक अवसर ऐसे आते हैं जब उनका मन एकाग्र रहा है। पक्षियों को पकड़ने जाने वाला, उनको फांसने के लिये जाल बिछाकर प्रतीक्षा करते समय, एक कामी अपनी प्रेयसी की झलक पाने के लिए तपती दोपहरी में उसके आने की संभावना में, अपने शत्रु से प्रतिशोध लेने के लिए योजना बनाता हुआ आहत दर्प, किसी सरल व्यक्ति को धोखा देने के लिए विविध प्रकार से वितण्डा रचता हुआ धूर्त यथार्थ में मन की एकाग्रता के ही परिणाम हैं।

ऐसे ही अनेक अवसरों पर हम देखते हैं कि मन एकाग्र तो होता है पर उस समय और उस विषय पर नहीं होता जिस पर हम चाहते हैं। सांसारिक प्रेयताओं से इसे सहज आसक्ति रहती है और उनमें यह एकात्म होने के लिये स्वतः आतुर रहता है। दूसरी विषमता यह है कि साधना में एकाग्र होने का अर्थ है मन की स्वतंत्रता की समाप्ति क्योंकि इसके सद्भावनापन्न होने और एकाग्र होने से ऊपर की स्थितियाँ प्रकट होंगी और उनके प्रकट होने पर इसकी स्वतंत्रता क्षुण्ण होगी।

मन नैसर्गिक रूप से बहिर्मुखी है, इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने के कारण उनकी क्रियाशीलता को देखते रहना चाहता है और इन्द्रियाँ जिस विस्तार में रमती हैं—वह स्थूल है। कारण कि इन्द्रियों की अन्तर्गति नहीं है वे केवल बहिर्गति है, मन उभयचारी है, स्थूल संसार में भी वह विलास करता है और सूक्ष्म जगत् में भी विचरण करता है। साधक जिस एकाग्रता को प्राप्त करना चाहता है वह इन्द्रियों को और उनके व्यापार को विषयाश्रित करके नहीं उनको अन्तर्मुखी करके शान्त और निरुद्विग्न अवस्था में मन को किसी एक तत्त्व—वह भी आकाश तत्त्व—पर परिनिष्ठित करना चाहता है और वह कठिन लगता है क्योंकि मन का इन्द्रियों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय कहा जाता है। पूर्वजन्म के पुण्यों के कारण उज्ज्वल संस्कार जिनके मन पर लगे रहते हैं वे तो शुकदेव, हनुमान, भीष्म पितामह, जैसे कामजयी और इन्द्रलोक से ऊपर के स्वामी अतएव विकारशून्य होते हैं किन्तु जिनका मन इन्द्रियों के मायाजाल में विचरना सीख लेता है, उनको इस आत्म संघर्ष में प्रबल पराक्रम और सतत जागरण की आवश्यकता होती है।

मन को शास्त्रकारों ने चन्द्रमा से जोड़ा है। ज्योतिष ने चन्द्रमा को मन का कारक तथा सूर्य को राजा एवं चन्द्र को रानी के समान माना है। रानी का अर्थ यही है कि जैसे रानी राजा के तेजस् को वहन भी करती है और अपनी तरह से गढ़कर उसे प्रसूत भी करती है, चन्द्रमा भी सूर्य के तेजस् को संग्रहीत करके अपने सौम्य स्वरूप में प्रतिफलित करता है। इससे परिचालित किंवा सादृश्य रखने वाला मन भी चेतना के प्रकाश को ग्रहण करके अपनी शैली में प्रक्षेपित करता है।

मन विषयाभिमुख अतएव बहिर्वृत्ति क्यों होता है ? इसको प्रकृति कहकर शास्त्रकार चुप हो गये हैं किन्तु इस विकास का एक कारण है, एक पद्धति है और एक क्रम है, इसी को हम प्रकृति कहते हैं। देवाधिदेव शिव का चित्र हम देखते हैं, उनके जटाजूट में चन्द्रकला विराजमान है। शिव के अतिरिक्त किसी अन्य देवता के साथ चन्द्रकला का आभरण नहीं है। शास्त्र के इस चिन्तन का रहस्य जानने की चेष्टा करें तो यह तथ्य उद्घाटित होता है कि वह मूल अतएव प्राथमिक कला का उदय हैं, उससे पहले 'अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुचार्या विशेषतः' कह दिया गया है किन्तु इस स्वरूप में वह वाच्य भी होती है और दृश्य भी तथा विधुशेखर के पूर्ण नियंत्रण एवं सायुज्य में भी रहती है।

भगवान् शिव एक कला धारण करके भी चन्द्रशेखर कहलाते हैं क्योंकि शेष पन्द्रह कलायें इसी मूल का विस्तार हैं। यही प्रथमा विस्तारित होती है तो चन्द्र का आकार धारण करती है। दुर्गा सप्तशती का

“विद्याः समस्तास्तव देवि! भेदाः,

स्त्रियः समस्ताः सकलाः जगत्सु”

यह मंत्र स्त्रियों को कला का आधार रूप मानता है। इस वचन में समस्त कह देने के बाद सकल कहा गया है। अभिधागत स्तर पर ये दोनों सम्पूर्णता के पर्याय हैं किन्तु सकल का यथार्थ है कलाओं की समष्टि। यह समष्टि एकत्र न होकर प्रसृत रहती है इसलिये स्त्रियों को ही समस्त कहा गया है अर्थात् जिस प्रकार संसार के समग्र प्राणिजात मिलकर उस विश्वात्मा की सम्पूर्णता को प्रतिपादित करते हैं वैसे ही समस्त स्त्रियाँ मिलकर उस शक्ति की समग्रता को व्यक्त करती हैं। सकल शब्द में छुपी सम्पूर्णता का मूल आधार उस परमेष्ठी की सम्पूर्णता से होता है। इसीलिये सकल शब्द व्यवहार में समस्त का बोधक बनता है। कारण कि निष्फल शिव जब अपनी ही भंगिमा से क्रिया वैशिष्ट्य से अथवा कला से संयुक्त होता है तो सकल होता है अर्थात् उस अव्याहत एक में जब कलनात्मकता का आविर्भाव होता है तो वह सकल होता है। यह कलासहितता उसकी क्रियामयी अवस्था की सम्पूर्णता है। इसे समस्त होने के लिये कला के विविध एवं संभावनीय रूप बनते हैं। उनको समस्त कहते हैं इसीलिये ऊपर के मन्त्र में सकलाः और समस्ताः कहा गया है।

मनकी सहजरूचि इन्द्रियाधिष्ठित होती है और इन्द्रियां अपने-अपने विषयों के प्रति ‘समान परस्पर आकृष्ट होते हैं’ के सिद्धान्त के अनुसार समानधर्मा वस्तुजात के प्रति मोह ग्रस्त हो रहने की प्रकृति से परिचालित रहते हैं। यही वह विषमता है जो मन को ऐन्द्रिय स्तर से ऊपर नहीं उठने देता।

वेद कहता है—

“चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत”

अर्थात् विश्वात्मा के मन से चन्द्रमा उत्पन्न होता है। यह चन्द्र वस्तुतः संकल्प का कल्पनात्मक विस्तार है जो निष्फल शिव की एक कला के पंचदशी हो जाने की सहज आकांक्षा है। गणना में सोलह कला आती हैं किन्तु आकाशगत चन्द्रमा में पन्द्रह ही कलायें हैं, प्रतिपदा से पूर्णिमा तक पन्द्रह स्थितियों में गुजरता हुआ यह पूर्ण हो जाता है।

चन्द्रमा का यह वर्धमान एवं संवृद्ध स्वरूप स्थूल विकास का इतिहास है अर्थात् शिव के शेखर में विद्यमान आद्या कला किसी भी वृद्धि या क्षय से प्रभावित नहीं होती वहाँ प्रकृति की साम्यावस्था है, किन्तु जैसे ही विश्वात्मा के मन का प्रतीक बनती है वैसे ही स्थूल होती चली जाती है। परिणाम यह होता है कि वह गुणात्मक प्रकृति तत्त्वों की संगति से पांच से गुणित होती है और पञ्चदशी हो जाती हैं। जिस प्रकार एक तत्त्व में पाँचों तत्त्व बीजरूप में रहते हैं पर प्राधान्य के कारण इनकी पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश के रूप में पहचान होती है वैसे ही सत्व, रज, तमोगुण, रूपिणी प्रकृति त्रिधा होकर पंचधा हो जाती है। इन तत्त्वों के जो विभिन्न भाव बतलाये गये हैं वे भी इन गुणों के ही कारण। अन्यथा तत्त्व तो स्थूल होते हैं, उनमें भावगत सूक्ष्मता संभव नहीं हो पाती। सांख्य दर्शन आकाश को सत्व गुणी, वायु को रजोगुणी और पृथिवी को तमोगुणी अभिव्यक्ति मानता है पर इनमें परस्पर ऐसी घनिष्ठता है और अन्योन्याश्रितता है कि इनमें पूर्वोपर जैसा या अन्य कोई विभेदक आधार बन नहीं पाता। हाँ, मन से संवृत होने पर ये विश्लेषण सहज गम्य हो जाते हैं।

यह सब प्रकृति है। प्रकृति निरपेक्ष अतएव स्वतंत्र नहीं है। व्यवहार में भी हम ऐसे ही कहते हैं, तेरी क्या प्रकृति है ? इस प्रकृति का सादृश्यज्ञान करने के लिये हम किसी चित्र की रेखाओं का उदाहरण दे सकते हैं। जिस तरह रेखा अपनी गति एवं रचनाविन्यास के कारण किसी पदार्थ को व्यक्त करती है वैसे ही प्रकृति अपनी अभिव्यंजनक्षमता से संसार वैचित्र्य को रूपाकार देती रहती है। इसके बावजूद भी जैसे रेखाओं को अपना अस्तित्व होता है वैसे ही प्रकृति का भी होता है किन्तु उस आभासिक स्वतंत्रता में भी पुरुष उपस्थित रहता है, यह दूसरी बात है कि प्रकृति की मुखरता के आगे पुरुष अत्यन्त मूक अतएव अन्तर्हित हुआ रहता है।

साधना के लिए प्रवृत्त हुए हम जब मन को एकाग्र करना चाहते हैं तो वह चन्द्रिकावत् फैलने लगता है, विषयान्तरों में भगता है। सब उस परमपुरुष की प्रकृति है, विस्तारेन्मुखीप्रकृति को मन संवाहित करता है और वह बहिर्मुखी बना रहता है। इतना सब होने के बाद भी हम जो जप करते हैं वह एक अभ्यास बन जाता है और यही अभ्यास दृढ़ होने पर अवचेतन मन पर चला जाता है। इसी के आस-पास अजपा-जप का क्षेत्र आ जाता है। अनेक बार सतत जप करने वाले निद्रित अवस्था में भी इस अभ्यास के कारण जप करते रहते हैं। इस जप का अनुभव उनको हो जाता है। यह अभ्यास और इसकी निरन्तरता का भी प्रभाव पड़ता है, भले ही, वह कम और कालान्तर में प्रकट होने वाला हो।

जप का यह क्रम फलीभूत तो होता है पर बहुत देर में। हमारे पूर्वजों ने कर्म की उदात्तता को ज्ञान पर आधारित किया है। इस जप में ज्ञान तिरोहित रहता है इसलिए यह केवल शरीर के आन्तरिक अवयवों का अभ्यास मात्र बन जाता है। ज्ञान की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए शास्त्र कहते हैं—‘नहि ज्ञानने सदृशं पवित्रमिह विदयते’ अर्थात् ज्ञान के समान पवित्र कोई अन्य नहीं है। ज्ञान का सामान्य अर्थ हम करते हैं जानना। यह ज्ञान तो अपवित्र, तामस और बन्धनकर वस्तुओं का भी होता है। फिर उसे पवित्र कैसे बताया गया ? इस प्रश्न के समाधान में यही कहा जा सकता है कि ज्ञान शब्द यथार्थ का सूचक है। सृष्टि के विभ्रमों और असद् व्यवहारों का ज्ञान-अज्ञान है, वह मन के मनोरमों का इन्द्रजाल है। ज्ञान का जो रूप पवित्रता का साधक है वह यथार्थज्ञान है, सतही या असत् नहीं है।

जैसे केन्द्रीकरण अथवा मन की वृत्तियों का एकाग्र करना तामस और राजस अवस्थाओं में भी हो जाता है वैसी ही स्थिति ज्ञान की भी होती है। जब वह असद् भावों पर अधिष्ठित होता है तो अज्ञान कहलाता है और सत् स्वरूप को पहचानता है तो ज्ञान कहलाता है, यही अन्तर इसकी स्थितियों में आता है।



पात्रता

एक जानी-मानी और अनेक बार कही बात को फिर कह रहा हूँ। उपासना या शास्त्र वर्णित प्रयोगों को पढ़ कर सात्त्विक प्रेरणा या राजसी लालसा उत्पन्न होना स्वाभाविक है किन्तु लालसाग्रस्त होकर इस क्षेत्र में प्रवेश करना शुभ फल नहीं देता। प्रयोग खुले हैं, उनकी विधि सुविज्ञात हैं, प्रयोगों के परिणाम में कोई सन्देह नहीं फिर भी एक मूलभूत प्रश्न रह जाता है, जिसे साधना करनी है, वह कैसा है ? इसी प्रश्न पर बहुत कुछ निर्भर करता है। आइये—मैं इसी प्रश्न का उत्तर दे दूँ।

माना हम मनुष्य हैं, पर यह वर्गीकरण अथवा हमारे देह की यह जाति प्रकृति ने निर्धारित की है, प्रयोग भी प्रकृति की कार्य विधि के रहस्य ही हैं किन्तु इन सबके लिए अर्थात् प्रकृति रहस्यों को जानने और सम्पादित करने के लिए हममें मानवोचित पुरुषार्थ और प्रज्ञा कितनी है, किसी कार्य को पूरा करने के लिए हम कितने प्रयत्नवान् बन सकते हैं—यही हमारी पात्रता है। प्रकृति रचित को मानवकृत के समान्तर प्रतिष्ठित करने की कितनी आकांक्षा, साहस और अनवरत क्रियाशील रहने की सामर्थ्य है—ये सब मिलकर ही पात्रता का निर्धारण करते हैं।

साधना या प्रयोग सिद्ध करने के इच्छुक व्यक्तियों को हम चार वर्गों में बांट सकते हैं। साधना करने के लिए साहस, संयम, उत्साह, सततयत्नशीलता आदि गुण तो होने ही चाहिए इनके बाद जो स्तर बनता है उसका पहला या प्रारम्भिक स्तर है पशु। पशु स्तर इसलिए कि उसमें अगाध लोभ है, लोभ प्रेरित होकर वह प्रयत्न करता रहता है पर उसे सफलता नहीं मिल रही। यह स्थिति ऐसी ही होती है जैसी एक कुत्ते को मांस खाने की तीव्र लालसा। एक ही प्रयोग से प्रयोजन को पूरा करने की निरन्तर चेष्टा करता हुआ वह पशुवत् पागल बना रहता है। यद्यपि वह पशु नहीं है पर उसके पूर्व जन्म के पाप और शाप अथवा त्रुटिपूर्ण प्रयत्न उसे पशु की तरह नियति के पाश से बांधे रहते हैं।

अगला स्तर होता है मनुष्य का। इस स्तर वाले व्यक्ति अव्यग्रभाव से काम में जुटे रहते हैं। वे जिस प्रयोग को करना चाहते हैं उसे कर डालते हैं, सफल हो जाते हैं। जैसे किसी व्यक्ति को लड़कू खाने की इच्छा हो तो वह जैसे-तैसे अपने प्रयत्न के बल पर जुटा

लेता है और अपनी इच्छा की पूर्ति कर लेता है। इस स्तर पर आया व्यक्ति अधिक लोभ या लालसा का शिकार नहीं होता। नितान्त आवश्यक होने पर ही वह किसी प्रयोग को सिद्ध करना चाहता है और सिद्ध करने से पहले विरत नहीं होता। अनेक बार लोकोपकार के लिए कर्णपिशाचिनी या अगिया बेताल की साधना करने वाले लोगों के पत्र प्राप्त होते हैं या इस विषय की सत्यता को परखने के लिए कोई सिद्धि प्राप्त करने के लिए लालायितजन स्मरण कर लेते हैं अथवा कुछ कर दिखाकर लोगों को इस विषय के प्रति आस्थावान् बनाने के लिए उत्सुक व्यक्तियों के पत्र मिलते हैं। ये लोग अपनी दृष्टि से ठीक हो सकते हैं किन्तु शास्त्र की मर्यादा के अनुसार ये प्रथम वा प्रारम्भिक स्तर के ही माने जाते हैं। अपने आपको महत्तर सिद्ध करने की इच्छा या उस प्रदर्शन के जरिये आर्थिक लाभ कमाने की कामना ही उनकी इस साधना के प्रति आकृष्ट होने का एक आधार है। मेरा अपना विचार है कि साधना या कोई भी चमत्कार प्रदर्शन के निमित्त क्यों प्राप्त किया जाए? अगिया बेताल का काम पच्चीस पैसे की माचिस पचास बार कर सकती है फिर उसके लिए इतनी सिरफोड़ी क्यों की जाए? केवल इसीलिए न कि उसे दिखाकर हम लोगों को चमत्कृत कर अधिक आतंकित कर सकते हैं। हमारे आस-पास एक भीड़ जुटाकर अपने को उसका शीर्ष बता सकते हैं। ऐसा करने से पहले हम यह नहीं सोचते कि एक कामना के साथ लोभ, अहंकार, द्वेष जैसे अनेक अप्रिय-अशुभ भाव हमारे में आ जायेंगे और उनसे हम भटक जायेंगे। माना, इस प्रदर्शन से लोग इस विद्या के प्रति आस्थावान् बनेंगे, इस प्रदर्शन की चर्चा होगी किन्तु इससे हमको अथवा देखने वालों को वास्तव में क्या मिलेगा? हम उनकी विपत्ति या विषमता को किस हद तक दूर कर पायेंगे? कर्णपिशाचिनी जैसे प्रयोगों से हम कुछ लाभ अवश्य पहुँचा सकते हैं किन्तु उस लाभ के लिए हमें व्यक्तिगत रूप से कितनी हानि उठानी पड़ती है, हमारे में पिशाच आकर अधिष्ठित हो जाता है, हमारा एक पारिवारिक पक्ष सूना रह जाता है।

तीसरा स्तर आता है देवत्व का। देवत्व के इस स्तर में हमारी पात्रता उत्कृष्ट हो जाती है। जैसे कहीं वृष्टि नहीं हो रही होती है तो वरुण को निवेदन करते ही वर्षा होने लगती है। वर्षा की नमी सोखने के लिए अग्नि को प्रार्थना करते ही सूखा हो जाता है। देवत्व का गुण ही यह है कि वे परस्पर सहयोग करते रहते हैं। इस स्तर पर आया व्यक्ति शास्त्रों के अनुसार एक सत्पात्र हो जाता है। और उस समय वह इच्छानुसार प्रयोग कर सकता है और उसके प्रयोग उतनी ही मात्रा में करने पर सफल हो जाते हैं जितनी शास्त्रों में वर्णित है। इस स्तर पर आने पर ही व्यक्ति किसी की सहायता करने में समर्थ हो पाता है।

चौथा स्तर भगवत्ता का होता है। इसी स्तर पर प्रभु कहा जाता है। प्रभु का अर्थ एवं विशेषता यह कि वह जो चाहता है वही होता है। उसके तेजस् के सामने शत्रुता या शत्रुताजनित हानि जैसी बात तो होती ही नहीं पर अपने स्तर पर वह अनावश्यक लोभ या लालसा के चक्र में नहीं फंसता। यहाँ उसके विचार और व्यवहार में कोई विशेष अन्तर नहीं रहता। उसकी कल्पना थोड़ी सघन होने पर ही संकल्प का रूप ग्रहण कर लेती है।

इससे आगे दो स्तर और होते हैं वे ऋषि और मुनि पद कहलाते हैं। भगवत्ता का स्तर ही इतना प्रबल होता है कि उस पर पहुँचा हुआ व्यक्ति कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुम् (करने, न करने वाला अथवा दूसरी तरह से करने को) समर्थ होता है। ऋषि शक्ति के इस स्वरूप से परिचित होता है और इसका प्रयोग करने की क्षमता भी रखता है इसीलिए वह नित्य नई विधियों का आविष्कार करने में निपुण होता है। भगवत्ता के पास जो रहस्य गुप्त रहते हैं वह उनका उद्घाटन अपने पौरुष से करती है किन्तु उसी का दूसरा स्वरूप मुनि इस आविष्कारक वृत्ति से दूर रहकर चिन्तन वा ध्यान में रत रहता है वह अतीत अवस्था से साक्षात्कार करता है। उसके दर्शन में इन सारे उदात्त रूपों का परमोदात्त रूप प्रकट होता है। यही आकाश उसके लिए चिदाकाश और ये शिव उसके लिए परमशिव बन जाते हैं। हमें यह जो विज्ञान मिला है वह उस ऋषि की अनुकम्पा है और विमुक्ति के लिए जो चिन्तन व. राजमार्ग दिया है, वह मुनि का प्रसाद है।

साधना के लिए प्रवृत्त होते समय हम अपनी पात्रता, स्थिति और रुचि को अच्छी तरह से समझ लें, यह तो आवश्यक है ही, इसके साथ ही यह भी देख और विश्वास कर लें कि हम अकेले नहीं हैं। जिस मार्ग में हम प्रवृत्त हुए हैं उसमें चलने की प्रेरणा देने वाले, हमें उत्साहित करने वाले और सही मार्ग पर ले चलने वाले लोगों की कमी नहीं है। उनका सहयोग हमें प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप में मिलता ही है। यह दूसरी बात है कि हम इस प्रकार का सहयोग कितना ले पाते हैं। व्यवहार में हम देखते हैं कि एक व्यक्ति अपने व्यवहार और मिलनसारिता के कारण अनेक लोगों का स्नेह और विश्वास प्राप्त कर लेता है जबकि कुछ लोग अकेले रह जाते हैं। यही स्थिति साधना मार्ग पर चलने वाले की होती है। साधक अपनी योग्यता और सदाचार से स्वतः ऐसी सहायता प्राप्त कर लेता है जबकि कुछ लोग अकेले पड़ जाते हैं और प्रत्येक आधार के लिए गहन श्रम करते हैं।

संसार की परिवर्तनशीलता में कालिक और स्थानिक महत्त्व अधिक विचारणीय रहता है। और-तो और हमारी यह देह भी इसी प्रकार की एक कालिक किन्तु महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। हम किसी वस्तु के सत्य (नहीं) यथार्थ होने का प्रमाण (अपने द्वारा सम्पन्न होने पर) चाहते हैं। यह प्रमाण इसी क्षेत्र में हम चाहते हैं और अपने को उसका

पात्र समझते हैं जबकि जीवन के अनेक क्षेत्रों में हम विफल होकर उन प्रमाणों को स्वीकार कर लेते हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा की प्रतियोगिता में विफल होकर हम उस संस्था (संघीय लोक सेवा आयोग) को असत्य नहीं कहते या एक व्यापारिक संस्थान खोलकर हम उसमें विफल होकर व्यापार के सिद्धान्तों को अविश्वसनीय नहीं कहते प्रत्युत हमारे प्रयत्नों को अपूर्ण अथवा हमारी पात्रता को अधूरा मानकर रह जाते हैं किन्तु इस क्षेत्र में हम इस विद्या को असत्य कह देते हैं। एक बार हम अपने आपको उत्कृष्ट पात्र सिद्ध करने का प्रयत्न करें और प्राप्त कर लें तो सभी कुछ हमें मिल जाएगा। क्या अपने-अपने जीवन में अथवा अपने परिचितों वा मित्रों के जीवन में ऐसी घटनायें होते नहीं देखी या सुनी जो भौतिक दृष्टि से अविश्वसनीय लगती है। वास्तव में विश्वास लोक में और संकल्प शक्ति के आगे कुछ भी अविश्वसनीय नहीं है और न कोई चमत्कार ही। वहाँ सब कुछ सम्भव है।

निर्विवाद रूप से गुरु का महत्त्व और अनिवार्यता एक वैश्विक समय है। यह एक भिन्न बात है कि किसी को देहधर गुरु मिलते हैं, किसी को स्वप्न संदर्शन अथवा आभासिक प्रश्रय-संरक्षा मिलती है। तो किसी को वह गुरु पुस्तकों अथवा अन्तरुद्भूत अवस्था में मिलता है। जिन लोगों ने पूर्व जन्म में बहुत साधना की होती है उनको अपनी ही अर्जित तपः सम्पत् स्वतः प्राप्त होती है और वे स्वशासित से निरन्तर बढ़ते जाते हैं। यद्यपि ऐसा बहुत कम होता है फिर भी होता अवश्य है।

गुरु की गरिमा को आत्मसात् किए बिना प्रगति पथ पर चलना अशक्य प्रायः है और कोई भी न हो तो प्रकृति एक नैसर्गिक प्रेरक के रूप में गुरु का कार्य सम्पादित करती है। पर यह मार्ग जितना लम्बा है उतना ही जटिल भी। प्रकृति के संसरण में मनुष्य की देह इस प्रकार का आधार आता है जहाँ यायावर देही को स्वतंत्र चेतना मिलती है, कर्म करने का असीमित अधिकार और क्षेत्र मिलता है। इस प्रभावपूर्ण स्तर पर भी यदि अपने 'स्व' को नहीं पहचानता तो प्रकृति अपने ऊबड़-खाबड़ और घुमावदार मार्ग पर ढकेल देती है और व्यक्ति सामान्य प्रवाह के समर्पित हो जाता है।

जिस प्रकार नारी अपने विभ्रम-विलास, देह सौन्दर्य और आश्लेष से पुरुष को आकृष्ट-बद्ध रखती है उसी तरह प्रकृति का मोहमय मायावी रूप जीव को क्षय, खान-पान, मिथुन कर्म आदि अनेक उपादानों से अन्तर्बाह्य में बांधे रखता है किन्तु वह यह नहीं कहती कि व्यक्ति उसके अन्तरंग स्वरूप को न पहचाने। व्यवहार में जैसे कोई नारी अपने सुगोपित अंगों को तभी अनावृत करती है जब वह आश्वस्त हो जाती है कि उपस्थित पुरुष उसके बंधन को सहन करने में क्षम है। इससे परतर अवस्था में वह उसको अपने

पर आरूढ़ होने की अनुज्ञा तभी देती है जब उसका पौरुष उसे तृप्त करने का विश्वास दिलाता है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को यह सामान्य प्रक्रिया प्रकृति के रहस्य को अनावृत करती है, उसकी कार्य विधि को संकेतित करती है।

भगवान् शिव के स्वरूप को हम सर्प विभूषित बताते हैं, परांबा के राजस स्वरूप महालक्ष्मी को सैरिभमर्दिनी कहते हैं, कालिका, दुर्गा और चण्डी तो विनाश के लिए, विघात से ही जन्मती हैं। इन सारे रूपकों और उपाख्यानों का तत्त्व ही यह है कि प्रकृति के कार्य विस्तार में एक स्तर ऐसा भी है जो उन्नत है, जहाँ व्यक्ति प्राकृतवल्गा को अपने हाथ में ले सकता है। ये विषैले सर्प मोह, काम, लोभ, क्रोध आदि के अलक्ष्य भुजंग सैरिभ, महषि, गज, उलूक हैं जो व्यक्ति के उदात्त पौरुष को प्रकट नहीं होने देते और स्थिति यह बनी रहती है कि व्यक्ति एक दास, एक पशु की तरह जड़-निरीह बना प्रकृति के प्रवाह में चलता रहता है। प्रकृति उसका सहज गुरु के रूप में स्वेच्छया मन्थन करती रहती है और उसे पाशमुक्त करने का उपक्रम पूर्ण रूप से प्रकृति निर्भर हो जाता है।

कितनी उत्तम अवस्था है नर देह की। इस उत्तमता का इससे बड़ा क्या प्रमाण होगा कि नारायण, मनुष्य, पुरुष, मानव आदि शब्दों के मूलनामो प्रकृति के प्रकृष्ट स्तर को धारण करने वाले हो चुके हैं। ऐसे स्तर पर आकर व्यक्ति के संस्कार जागृत होते हैं जिन्हें वह सत्कर्म अथवा दुष्कर्म से सिंचित करता है। भाग्यवशात् यदि उसे सद्गुरु मिल जाता है तो उसका भविष्यत् श्रेयस्कर बन जाता है। गुरु की विशेषता यही है कि वह प्रपन्न जन का आगामी निर्धारित ही नहीं करता उसे निश्चित रूपेण प्राप्य भी करता है। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को सम्राट बनाकर ही विश्राम लिया था।

प्राचीन शास्त्रों की मर्यादा के अनुसार शिष्य का आचरण अत्यन्त उन्नत, सम्पूर्ण समर्पित होता है। आधुनिक परिवेश में ऐसे आचरण की कल्पना भी कठिन है क्योंकि सत् शिष्य का अपना व्यक्तित्व, उसकी स्वयं की आकांक्षा, उसका निजत्व गुरु से इतर कुछ बचता ही नहीं और आज के स्वाग्रही समाज में इतनी निष्ठा दुर्लभ हो गई है। जो पीढ़ी धर्म में एड्जस्टमेंट का आग्रह कर रही हो, प्रवाह के अनुरूप आचरण में परिवर्तन करने को गुण मान रही हो, उसमें व्यक्ति का आत्म मोह प्रचण्ड रूप से रहता है और ऐसे मोह में सिद्धान्त व्यक्ति के सेवक हो जाते हैं। विषम स्थिति तब होती है जब हमारे रूढ़ व्यवहार और सम्मत आचरण को केवल इसलिए परिवर्तन का अथवा संशोधन का विषय बनाया जाता है कि उसमें व्यक्ति स्थापित रहे। भारतीय व्यवस्थाएँ इतनी क्रूर रही हैं कि वशिष्ठ विश्वामित्र को राजर्षि ही कहते रहे, राम ने अपने राजत्व की साधना में वैयक्तिक स्वरूप और आग्रहों को तिलांजलि ही दे दी।

सामयिक आग्रह कुछ भी हों। मेरा व्यक्तिगत अनुभव रहा है कि जिस किसी भी विषय की साधना करनी हो, उसके समग्र से जब तक एक रूप नहीं हुआ जाता तब तक उसे यथार्थ रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता। यदि हम भारतीय पद्धति का विज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो उसकी मर्यादा का पालन करना होगा ही। हाँ, आज के व्यक्ति की जो व्यावहारिक विषमतायें अथवा विवशतायें हैं उनका निराकरण करने की सुविधा शास्त्रों ने भी दी है और उन सूत्रों के अनुसार अधिकारी व्यक्ति भी कर सकता है।

गुरु के गौरव को प्राप्त करने के लिए शिष्य को अपने भिन्न व्यक्तित्व को समाप्त करना पड़ता है। व्यवहार सिद्ध बात है कि दो भिन्न में एकत्व कैसे सिद्ध होगा जब तक वे भेदक स्थितियों को निर्मूल नहीं कर दें। जिस पात्र में गैस भरनी है उसे गैस के उपयुक्त बनाये बिना गैसमय करना असंभव है। यही स्थिति साधक की है। मन्त्र ग्रहण करते समय साधक स्वयं को, मन्त्र को, गुरु को और मन्त्राधिष्ठित देवता को एक ही मानना पड़ता है। इस ऐक्य के बिना कुछ मिलता नहीं।

शास्त्रों ने गुरु की जितनी महिमा गाई है, उतना ही शिष्य व गुरु के आचरण पर भी बल दिया है। शिष्य को सम्पूर्ण रूप से गुरु के समर्पित बताया है किन्तु इसके बावजूद भी ऐसे आख्यानों का अभाव नहीं है जिनमें यह बताया गया है कि इस अलभ्य निष्ठा के बावजूद शिष्य का एक स्वरूप होता है, शिष्य की निष्ठा भी तो एक व्यक्तित्व है। पारमार्थिक रूप में गुरु लोभ, मोह जैसी दुर्बलताओं से ऊपर उठा रहता है। उसके चरित्र में यह सामान्यतया हो भी तो वह शिष्य के प्रति इससे प्रेरित नहीं होता। न गुरु-शिष्य के पवित्र-सुकोमल सम्बन्धों में लोभादि का दानव कभी प्रकट ही होता है। किन्तु यदि ऐसा दुर्भाव कभी प्रकट हो जाए तो शाप का अधिकार शिष्य को भी है।

अलक्ष्य सत्ता को प्रकट करने का ऊर्जस्वल प्रयास हम करते हैं। विश्वात्मा की अनन्त शक्तिमत्ता से ओत-प्रोत होने की साधना करने जैसा घोर तप हम करने के लिए उद्यत होते हैं तो निषेधवादी कल्पष हमारे में होने ही नहीं चाहिए। कल्मष वा दोष प्रत्येक व्यक्ति में रहते हैं किन्तु वे उसे दिखते नहीं। गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा के उदय मात्र से हमारे अनेक दोष शान्त हो जाते हैं, शेष जो रह जाते हैं वे गुरु की सतर्क दृष्टि से क्षीण हो जाते हैं।

गुरु की उपादेयता बताते हुए शास्त्र कहते हैं कि वह हमारे ज्ञान चक्षु का उन्मीलन करता है, अज्ञान अंधकार का नाश करता है। अज्ञान का अर्थ यही है कि विकृत को प्राकृत समझना। आर्ष परम्परा का आदेश है कि गुरु कभी भी शिष्यों के सद्भाव का दुरुपयोग न करें। शिष्यों की गुरु के प्रति श्रद्धा को अनुकारुण्य कहा है अर्थात् गुरु की

वत्सलता यदि कारुण्य है तो उसका प्रतिफल अनुकारुण्य है। गुरु की मर्यादा का विवेचन करते समय स्पष्ट कहा गया है कि शिष्य-संग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि गुरु का गौरव त्याग में है और त्याग वृत्ति का ही व्यवहार बना लिया गया तो शिष्यों का संग्रह भी नहीं किया जाना चाहिए।

गुरु का वैभव अवाच्य है, उसकी महत्ता विवाद से परे है। मेरा स्वानुभव है कि उत्तम शिष्य गुरु को तार देता है। गुरु का वास्तविक स्वरूप सत् शिष्य में ही प्रकट होता है। परमहंस का वाचाल रूप विवेकानन्द में प्रकट हुआ था। शिष्य की सामर्थ्य के आगे गुरु विवश है। अनेक बार शिष्य अपने गुरु के सूक्ष्म शरीर का बलात् आकर्षण कर लेता है तो कई बार कृपा प्रवण गुरु स्वयं तेजस देह से शिष्य के समीप उपस्थित हो जाते हैं। शिष्य उसकी उपस्थिति को कभी अनुभव कर लेता है और कभी नहीं। मूलतः ये सम्बन्ध लौकिक व्यवहार से ऊपर है इसलिए इनको जागतिक आयामों से तोलना भी अनुपयोगी रहता है।

प्रत्येक व्यक्ति में एक विराट् विशिष्ट व्यक्तित्व छुपा रहता है, उसे पहचानने की दृष्टि गुरु अथवा शिष्य में ही रहती है। इस दृष्टि का उन्मेष ही शिष्य की पात्रता है। गुरु दाता है, शिष्य ग्रहीता अथवा शिष्य दाता है और गुरु आदाता इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। आदान-प्रदान तो एक सम्पर्क सूत्र है, महत्त्वपूर्ण है गुरु के गुरुत्व को प्रकट करना और उसे आत्मसात् करना। यह सात्मीकरण ही सम्बन्धों को निरूपित करता है। इसी पर साधना का प्रकर्ष निर्भर करता है।

माना, गुरु होना ही चाहिए किन्तु गुरु की संहिता में सर्वांशतः खरे उतरने वाले जन दुर्लभ हैं। यह व्यक्ति का सौभाग्य ही समझा जाए कि उसे उपयुक्तगुरु मिल गया है अथवा किसी योग्यजन को सत्पात्र शिष्य मिल गया है। गुरु को शिष्य मिल सके—यह ठीक है पर सत्पात्र को गुरु का न मिलना वैसा ही है जैसे किसी कुमारी को वर न मिलना। गुरु शिष्यों का मिलन यद्यपि पूर्व नियत घटना है फिर भी जिन लोगों को ऐसा संश्रय नहीं मिलता है वे परम गुरु शिव को गुरु रूप में स्वीकार कर सकते हैं। इस विधि में देवाधिदेव को गुरु के रूप में वरण करने की प्रक्रिया अन्यत्र दे दी गई है।

यों तो साधना क्षेत्र में पाँच आम्नाय माने जाते हैं किन्तु उनमें प्रमुख दो धारयें हैं—एक वैदिकी, दूसरी शाक्त। वैदिक विचार के अनुसार गुरु ऋषि होता है और ऋषि की पद-मर्यादा सर्वविदित है। शाक्त अथवा तंत्र मार्ग में शिष्य की परीक्षा के लिए बारह वर्ष अधिकतम और तीन वर्ष न्यूनतम नियत किये गये हैं।

शिष्य की आचार संहिता तंत्र शास्त्रों में इस प्रकार है—गुरु के वाक्य को ही प्रमाण मानने वाला, सब तरह से गुरु की सेवा करने को तत्पर, निर्लज्ज नहीं पर अतिसंकोचशील भी न हो, अहंकार और लोभ से रहित, आतुरता और व्यग्रता हीन, अपने कुल में प्रतिष्ठित, गुरु के धन अथवा वस्तु की तरफ से निराकांक्ष किन्तु उनकी रक्षा/सुरक्षा करने वाला, प्रतिक्षण गुरु की कृपा की कामना करने वाला, जप और ध्यान में रत रहने वाला, श्रद्धावान्, कुलीन व्यक्ति किसी भी विद्या को ग्रहण करने के लिए उपयुक्त पात्र रहता है।

यह शिष्य का लक्षण था। सत् अथवा श्रेष्ठ शिष्य के लक्षण में लिखा गया है—मोक्षकामी, समाधि पद प्राप्ति के लिए क्रियावान्, धर्मप्रिय शुद्धदेह, सदाचारी, व्रत पर दृढ़ रहने वाला, निरभिमान (दीन) सत्यवक्ता, मधुरभाषी, धीर, सभी प्राणियों का हितैषी और अनुकूल पत्नी का पति श्रेष्ठ पात्र होता है। ऐसे व्यक्ति में मंत्र का तेजस् और देवता का स्वरूप अवतरित होता ही है।

मंत्रोपासना के क्रम में शिष्य के लक्षणों को विस्तार से लिखने का एकमेव प्रयोजन यह रहा कि यदि साधक इन गुणों को प्राप्त कर लेता है तो गुरु की सामान्य दृष्टि भी असामान्य फल दे देती है जैसे चांदी की कटोरी में भरे निर्मल जल में डाली हुई रंग की बून्द सारे में आभासित हो उठती है।

मंत्र-ग्रहण की प्रक्रिया को दीक्षा कहते हैं। दीक्षा का पारिभाषिक अर्थ होता है द अर्थात् दान और क्ष अर्थात् क्षय। मंत्रदाता गुरु होता है। वह ज्ञान देता है जिससे पाप क्षय होता है। तांत्रिक परम्परा में पिता, नाना और सहोदर बड़ा भाई नैसर्गिक गुरु होते हैं, इनसे प्राप्त मंत्र बलवान् होता है और सिद्ध हो जाता है किन्तु वेदवाद में इनसे लिया गया मंत्र निर्वीर्य होता है।

यदि कोई व्यक्ति लोभवश दीक्षा देता है तो उसे देवता का शाप प्राप्त होता है।

मंत्रदान करने वाले के लिए यह आवश्यक है कि वह दूसरे के शिष्य को, अपने से ऊँचे कुल के व्यक्ति को, धूर्त को, अपने-आपको विद्वान् समझने वाले व्यक्ति को, स्त्रियों से द्वेष रखने वाले, रोगी, भयातुर और हीन अंग वाले व्यक्ति को दीक्षा नहीं देनी चाहिए। ऐसे व्यक्तियों को दी गई दीक्षा निष्फल तो होती ही है अनेक बार दीक्षा देने वाले और लेने वाले को विविध विषमतायें झेलनी पड़ती है।

तन्त्र शास्त्र के संहिता ग्रन्थ मन्त्र और उसके ग्रहण एवं जप की विधि में अत्यधिक सावचेत रहे हैं। इस प्रक्रिया में वे गुरु की आवश्यकता एवं महत्ता पर अधिक विचार करते हैं। शास्त्रों की इस संवेदनशीलता के मूल में गुरु को लादने या अनावश्यक रूप से उसकी उच्चता को सिद्ध करने का आग्रह नहीं है प्रत्युत साधक के कल्याण एवं उसके

प्रयास को निर्दोष अतएव निश्चित फलप्रद बनाने की शुभकामना ही एकमेव कारण है। गुरु और शिष्य के सम्बन्ध जितने संवेदनशील हैं उतने ही आत्मीय भी इसलिए उनको सुदृढ़ और सुप्रकट रहना ही चाहिए। शास्त्र ने शिष्य के जो लक्षण बताये हैं उनको व्यक्ति में सर्वाशतः प्रकट होते मँने देखा है, और इसी बल के आधार पर शिष्य में गुरुगत विद्या को पूर्ण बल से अवतरित-अभिव्यक्त होते भी देखा है। मँने इस सत्पात्रता को मन से प्रणाम किया है, अनेक बार इस सुपात्रता से मुझे ईर्ष्या भी हुई है कि मेरे मँ ऐसी पात्रता क्यों नहीं है ?

वास्तव मँ गुरु एक ऐसा अधिष्ठाता है जिस पर हमारे कार्य की गतिप्रगति का दायित्व है, वह एक ऐसा संरक्षक है जिसके रहते हम निश्चिन्त हैं, वह एक ऐसा कल्पद्रुम है जो हमारे शुभ एवं शिव की ही कामना करता है, उसी को प्राप्त कराने की चेष्टा करता है। उसके रहते न हम कुमार्गगामी हो सकते, न हमारी अधोगति हो सकती, न हम पर किसी प्रकार की विपत्ति आ सकती पर इसके पहले गुरु बनाये जाने वाले व्यक्ति के ज्ञान और चरित्र का परिचय हमें हो जाना चाहिए। उसके प्रति हम आश्वस्त हो लें तथा इसके बाद उन सम्बन्धों को पूरी पवित्रता एवं प्रगाढ़ता से निभाने की योग्यता अर्जित कर लें तभी शास्त्रों के वचनों का यथार्थ हम पर प्रकट होगा। उसी अवस्था मँ गुरु का संरक्षण और शिष्य के सम्पूर्ण उत्थान का श्रीगणेश होता है।

इस विषय मँ नारायणीय मँ कहा गया है—

“गुरुमुख्याः क्रियाः सर्वाः मुक्ति-भुक्ति-फलप्रदाः।

तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यं मुक्त्यर्थं सुसमाहितैः॥

गुर्वनुक्ताः क्रियाः सर्वाः निष्फलाः स्युर्यतो ध्रुवम्।”

अर्थात् शिष्य के सारे काम गुरु की इच्छा, अनुज्ञा, उपदेश के अनुसार होने चाहिए तभी शिष्य को ऐहिक सुख और विमुक्ति का मार्ग मिलता है इसलिए सावधानीपूर्वक नित्य गुरु की सेवा करनी चाहिए। गुरु के उपदेश के बिना जो कुछ किया जाता है वह निष्फल जाता है।

गुरु दो प्रकार के होते हैं—शिक्षा गुरु और दीक्षा गुरु। शिक्षा गुरु अनेक हो सकते हैं पर दीक्षा गुरु एक ही होता है। यदि किसी गम्भीर कारणवश दीक्षा गुरु का परित्याग करना हो तो उसके लिए विधि बताई गई है तदनुसार उसका परित्याग कर देना चाहिए इससे दोष नहीं लगता।

दीक्षा गुरु द्वारा प्रदत्त मन्त्र ही श्रेयस्कर रहता है। महाकपिल पंचरात्र और नारायणीय मँ उल्लेख है—

पुस्तकाल्लिखितो मन्त्रो येन सुन्दरि जप्यते।

न तस्य जायते सिद्धिर्हानिरेव पदे पदे।

अर्थात् पुस्तक में देखकर यदि मन्त्र जप किया जाता है तो उससे सफलता नहीं मिलती और पग-पग पर हानि ही होती है।

×

×

×

तथा चादीक्षितानां च मन्त्र देवार्चनादिषु।

नाधिकारोस्त्यतः कुर्यादात्मानं शिवसंस्कृतम्॥

—अदीक्षित अर्थात् निगुरे व्यक्तियों को मन्त्र जप और देवार्चन का अधिकार नहीं है। इसलिए सबसे पहले अपने आपको संस्कारित करे।

इसी प्रसंग में आगे व्यवस्था है—

“यदृच्छाया श्रुतं मन्त्रं छालेनाप्यच्छालेन वा।

पत्रेक्षितं वा गाथावत् तज्जपेद् यदनर्थकृत्॥”

अर्थात् संयोगवश, छाल से या बिना किसी छाल के, किसी कागज पर लिखे गये मन्त्र को कहानी की तरह जपने से अनिष्ट ही होता है।

नित्य जप से ही निमित्ति पूर्ति करनी हो तो संक्रान्ति, विषुव, अयन, सूर्य वा चन्द्र ग्रहण, द्वादशी और पूर्णिमा के दिन नित्य किये जाने वाले जप की संख्या से तीन गुना जप कर लेना चाहिए। पूजा भी विशेष हर्षोल्लास तथा उपकरणों से करनी चाहिए। तदनुसार ही दशमांश हवन भी कर लिया जाए। ऐसा करने से नित्य किये जाने वाले जप का बल अक्षत रहता है।

मन्त्र के सम्बन्ध में ध्यान रखने की बात है कि शास्त्रों ने जो शब्द बताया है वही प्रमाणिक रहता है, उसका पर्याय काम नहीं देता। बीज मन्त्रों में यद्यपि पर्याय संभव नहीं होता किन्तु माला मन्त्रों में इसकी संभावना रहती है। जैसे गणपतये लिखा गया है तो उसका पर्याय गणेशाय या भास्कर की जगह सहस्रांशु अथवा शिव की जगह शर्व को समानार्थक मानकर अपनी तरफ से संशोधन नहीं करना चाहिए।

तात्त्विक दृष्टि से कोई पर्याय होता ही नहीं। गणपति और गणेश हमारी दृष्टि से एक हो सकते हैं किन्तु पति और ईश का अन्तर हम इन दोनों शब्दों को स्वतंत्र रूप से उपयोग करने पर जान पाते हैं। ऐसे ही मुनि और ऋषि, हमारे सामान्य व्यवहार में एक हैं किन्तु इनकी वास्तविक स्थिति एवं स्वरूपों में बहुत अन्तर है।

कई बार हम प्राचीन ग्रन्थ को प्रामाणिक मान कर अपने प्रयोजन से तारतम्य रखने वाला मन्त्र चुन लेते हैं और उस पुस्तक में बताई गई विधि से जप करने लग जाते हैं या

किसी को बताये जा रहे मन्त्र को छुप कर या प्रकट में सुन कर जपने लगने हैं तो यह अनुचित है। कारण कि मन्त्र का बल गुरु की आज्ञा से प्रमाणित होता है और तभी वह प्रकट होता है।

जो लोग पूर्व जन्म के सुदीक्षित होते हैं और उस उच्च दीक्षा के कारण जिनकी पात्रता स्वतः प्रस्फुटित हो जाती है वे सीधे पुस्तक से भी ग्रहण कर सकते हैं और ऐसे ग्रहण किये मन्त्र उनको फलीभूत भी होते हैं। अथवा कतिपय ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो पूर्व जन्म में किसी मन्त्र की अपूर्ण साधना किये रहते हैं वे भी संयोगवश अन्तःप्रेरित हो कर उस मन्त्र को चुन लेते हैं और साधना करते हैं तो उनको भी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इन दोनों ही स्थितियों को हम नहीं पहचान पाते किन्तु गुरु की तीव्र दृष्टि से यह रहस्य छुपा नहीं रहता। इसलिए किसी भी प्रयोग को करने से पहले हमारी दृष्टि से उपयुक्त व्यक्ति से परामर्श ले ही लेना चाहिए। पुस्तकें सहायक हैं, ज्ञान बढ़ाती हैं, हमारे लिए रहस्यपूर्ण को वे सुस्पष्ट करती हैं, पर वे सवाक् गुरु नहीं हैं।

साधकों के लिए शास्त्रों ने कहा है कि—विश्वास, श्रद्धा, गुरु पूजन, समत्वभाव, इन्द्रियनिग्रह और प्रमित-आहार ये छः अंग आवश्यक होते हैं। विश्वास का अर्थ आत्मविश्वास है श्रद्धा से तात्पर्य वह सादर विश्वास है जो साध्यमंत्र के प्रति होता है। गुरु का तात्पर्य वह व्यक्ति है जिसने मंत्र का उपदेश और विधि बताई है। समत्वभाव—किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा भाव के प्रति पूर्वाग्रह मुक्त होने को कहते हैं। इन्द्रियनिग्रह का अर्थ है, मन को कल्पाहीन अश्व की तरह न दौड़ने देना और प्रमिताहार हल्का, उपयुक्त मात्रा में किया गया आहार कहलाता है।

श्री गुरु की प्रसन्नता से, मन्त्र के प्रभाव से, भक्ति के बल से अथवा मन्त्रोपदेश की शक्ति से मन्त्र सिद्ध हो जाता है। गुरु की प्रसन्नता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। जब हम देखते हैं कि एक सामान्य व्यक्ति ही प्रसन्न होकर हमारा कितना काम कर देता है, विशिष्ट सत्ता सम्पन्न, धनी या बलवान् व्यक्ति की प्रसन्नता का प्रत्यक्ष फल तो हम देखते हैं फिर गुरु जैसे व्यक्ति की प्रसन्नता से हमारा इहलोक और परलोक दोनों सुफल होते हैं, हमारी साधना सफल होती है।



उपासना

उपासना अथवा साधना एक तकनीकी कार्य है। यह समझ लिया जाए कि जैसे किसी औषधि या वस्तु के निर्माण के लिए हम प्रयोगशाला अथवा फैक्ट्री बना रहे हैं। अन्तर यही है कि साधना में बाह्य और भौतिक उपकरणों की कम-से-कम आवश्यकता रहती है। हमारा देह ही प्रयोगशाला बनती है और यही कर्मशाला।

साधना का प्रारम्भ कहाँ से होता है और आगे चलकर हम किन विधि मार्गों से चलते हैं, यह बात क्रमानुसार समझ लेना हमारे लिए आवश्यक है। हम दो कारण से साधना क्षेत्र में प्रवृत्त होते हैं। पहला यह कि उसके संस्कार हमारे मन में सुप्त रूप से रहते हैं, अथवा घर के वातावरण और परम्परा का प्रभाव हम पर पड़ता है और हम आत्म प्रेरित-से इस मार्ग पर चल पड़ते हैं—यह हमारा जीवन दर्शन बन जाती है और कालान्तर में जीवन का प्रयोजन हो जाती है, यह साधना कामना कलुषित नहीं होती इसलिए नित्यकर्म हो जाती है। दूसरा कारण है—आवश्यकता। अनेक बार हम भौतिक वा दैविक सन्तापों से कुण्ठित होकर उनसे त्राण पाने के लिए साधना का सहारा लेते हैं—यह सकाम या काम्य प्रयोग कहलाता है।

साधना किसी भी कारण से प्रेरित होकर की जाए, उसकी विधि रहती है। इसमें पहले मंत्र का चयन करना होता है और फिर गुरु की तलाश करनी पड़ती है। कई बार उलटा भी हो जाता है—गुरु की तलाश के बाद मंत्र का चुनाव भी हो सकता है तो कभी-कभी श्री गुरु के संसर्ग से साधना करने की इच्छा प्रबल वेग से उत्पन्न हो जाती है और श्री गुरु ही चयन कर देते हैं।

स्थान

सबसे पहले स्थान का विचार किया जाता है। यथार्थ में मन्त्र के अधिष्ठाता देवता के प्रकट होने का स्थान व्यक्ति का अपना देह ही है और आराधना के लिए देह की ही एकमात्र आवश्यकता रहती है किन्तु प्रासंगिक रूप में अथवा देह का तारतम्य बिठाने के लिए स्थान भी एक सन्दर्भ बन जाता है। आज के शहरी जीवन में जहाँ एक छोट-सा

कमरा, पाकशाला से लेकर प्रजनन गृह तक बन रहता है वहाँ एकान्त स्थान की कल्पना करना भी दुष्कर है और साधना के लिए एकान्त चाहिए ही। जिन लोगों को ऐसे संकीर्ण स्थान में निवास करना पड़ता है वे एकान्त अपनी क्षमता के अनुसार जुटाएँ—इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है किन्तु जो अपने घर में छोटा-सा स्थान अपनी साधना के लिए बना सकते हैं—उनको बना लेना चाहिए और उसकी पवित्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए यथासंभव बाह्य व्यक्तियों का प्रवेश वर्जित कर देना चाहिए।

शास्त्रों का निर्देश है कि—पुण्यक्षेत्र, तीर्थस्थल, पर्वतशिखर, गुफा, नदियों का संगम, सिद्धपीठ, पवित्रवन, निर्जन बगीचा, बिल्ववृक्ष की जड़, पहाड़ की तलहटी, सागर का किनारा, देवता का मन्दिर और अपना घर, ये साधना के योग्य स्थान हैं।

शिवालय में, अग्नि, सूर्य, दीपक अथवा गुरु की साक्षी में, गौशाला, पीपल के मूलभाग में बैठकर साधना करनी चाहिए।

साधना के लिए सर्वोत्तम शिवालय होता है और शिवालयों में भी उत्तम एकलिंग रहता है। एकलिंग वह कहलाता है जिसके सोलह किलोमीटर घेरे में कोई दूसरा शिवलिंग न हो। एकलिंग के समान ही वे शिव मन्दिर भी उत्तम माने जाते हैं जिनमें स्वयंभू, बाण अथवा पश्चिमाभिमुख शिवलिंग हो और उसमें नन्दिकेश्वर न हों।

सामान्यतया वे स्थान साधना के लिए उपयुक्त रहते हैं जहाँ भक्तजन आते हैं, जो मनोरम है, पवित्र और जहाँ निन्दित कार्य या व्यक्तियों का प्रवेश नहीं होता।

इसी व्यवस्था में कहा गया है कि घर में अनुष्ठान करने पर समान फल होता है, गोशाला में सौगुना, देवमन्दिर में करोड़ गुना और शिवमन्दिर में अनन्त गुणित फल प्राप्त होता है।

निन्दित स्थान—जहाँ धर्महीन और पापाचारियों का आवागमन होता रहता है, दुष्ट लोग, सर्प, हिरण और राज्य के अधिकारी लोग आते रहते हैं तथा जहाँ रहने से भय और आशंका बनी रहती है ऐसे स्थान साधना के लिए उपयुक्त नहीं रहते।

आसन

स्थान नियत करने के बाद आसन की बात आती है। आसन—धरती, पत्थर, काठ, बांस, कपास, कम्बल, रेशमी और चर्म के होते हैं। कुशा भी आसन के लिए प्रयुक्त होती है। कुशा का आसन कर्कश होता है और उस पर गृहस्थजन अधिक समय तक बैठ नहीं सकते इसलिए कुशा के आसन पर कम्बल जैसी चीज या ऊन का आसन बिछाया जाता

है। ऋषियों ने इन आसनों पर बैठकर फिर उसके परिणाम बताए हैं। उनके अनुसार धरती पर बैठने से दुःख की प्राप्ति होती है, पत्थर पर बैठने से रोग होते हैं, काठ पर बैठने से दुर्भाग्य वृद्धि होती है। बांस के सम्बन्ध में विधि और निषेध दोनों ही हैं। कम्बल का आसन—दुःखमोचन, बेंत—शान्ति, रेशमी—पुष्टि, व्याघ्र और हिरण (विशेषतया काले मृग का चर्म) के चर्म पर बैठने से सिद्धि प्राप्त होती है।

आसन छः प्रकार का होता है। पुष्प, काष्ठ, वस्त्र, कौश, चर्म और तेजस् से निर्मित होने के कारण छः प्रकार के आसन माने जाते हैं। पौष्प आसन में सुगन्धित और सुन्दर पुष्पों में कुशा और दूर्वा रखकर आसन बनाया जाता है। ध्यान रहे—वे फूल न रखें जो विशेष देवता के लिए वर्जित हैं जैसे शिव के केतकी, विष्णु के धतूरे आदि। इसके साथ ही अत्यन्त तीव्र गंध वाले, कड़वी गंध के और गंधहीन पुष्प प्रयोग में न लावें। पुष्पों का आसन सर्वकामप्रद माना जाता है।

काष्ठ जैसाकि नाम से ज्ञात होता है, लकड़ी का बना आसन—काष्ठासन कहलाता है। इनमें यज्ञकाष्ठ, चन्दन, बिल्व, गंधारी और श्रीपर्णी की लकड़ी का प्रयोग किया जाता है। यज्ञकाष्ठ का अर्थ है, सामान्यतः जिन लकड़ियों को हम यज्ञ के काम में लेते हैं। निषिद्धकाष्ठ में शाल, ताल, कटिदार, दूधिया, बहेडा, किसी चैत्य या श्मशान में उगे पेड़ों की लकड़ी आसन के लिए काम में न ली जाये।

वस्त्रासन में ऊन, रेशम, कपास और पेड़ की छाल माने जाते हैं। निषिद्ध वस्त्रों में छिदे हुए, गन्दे, तेल या घी से चिकटाये हुए, किसी अन्य काम में लिए हुए, जले हुए, पुराने पड़े हुए माने जाते हैं।

कौश आसन का तात्पर्य कुशा जैसे तृण व ग्रन्थि समुद्भव से है। इनमें कुशा, कास, शर, ग्रन्थि, जौ, दूब, बिल्व, वीरण, नड और गूंदी बताए गए हैं।

तैजस आसन में धातु के आसन आते हैं। इनमें सोना, चांदी और तांबा माने गए हैं। शीशा और लोहा निषिद्ध हैं, पीतल मध्यम है।

रंग

प्रयोजन के अनुसार ही आसन के रंग भी बताए गए हैं। अभिचार कर्म के लिए नीले रंग का, वशीकरण के लिए लाल रंग का, शान्ति और मुक्ति प्राप्ति के लिए सफेद रंग का आसन काम में लिया जाता है। देवताओं के रूप एवं वर्ण के अनुसार भी आसन का रंग निर्धारित किया जाता है। जैसे हनुमान, जी के उपासक को लाल रंग का, काली के

उपासक को काले रंग का, बगला-मुखी के साधक को पीले रंग का आसन प्रयोग करने की व्यवस्था बताई गई है।

मुख

साधना करने वाले व्यक्ति को किस दिशा में मुख करके बैठना चाहिए ? इस सम्बन्ध में शास्त्र की व्यवस्था है कि शान्ति, पुष्टि और लक्ष्मी प्राप्ति के प्रयोग करने वाला व्यक्ति दक्षिण दिशा को छोड़ किसी भी दिशा में मुख करके बैठ सकता है। इसमें सूक्ष्म बात यह है कि 'श्रीं' बीज अथवा जिस मंत्र में श्री शब्द का आधिक्य है उसका जप पूर्व दिशा में मुख करके, जिस मंत्र में 'ह्रीं' बीज अधिक है अथवा केवल यही बीज है उसे उत्तर दिशा में मुख करके, लक्ष्मी मंत्र का जप पश्चिम में मुख करके किया जाता है। जिस मंत्र में इन सारे ही बीजों का प्रयोग हो उनका जप संध्या में किया जाए तो पश्चिम में मुख करके, प्रातःकाल पूर्व अथवा उत्तर में मुख करके किया जाता है। शिव, कुबेर, और शक्ति की उपासना उत्तराभिमुख रहकर ही की जानी चाहिए। शान्ति कर्म का प्रयोग उत्तर अथवा पूर्व की तरफ मुख करके किया जाता है। अभिचार जैसे क्रूर कर्म दक्षिण की तरफ मुख करके किए जाते हैं।

समय

कोई भी अनुष्ठान कब से प्रारम्भ किया जाए या किसी से मंत्र ग्रहण कब किया जाए, इस विषय में तंत्र वा प्रत्येक साधना शास्त्र ज्योतिषीय व्यवस्था को स्वीकार करता है।

मन्त्र ग्रहण करने अथवा दीक्षा लेने में या कोई नया प्रयोग प्रारम्भ करने में—आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, माघ, फाल्गुन, वैशाख और श्रावण मास प्रशस्त हैं। आश्विन मास में देवशयन हुआ रहता है इसलिए यह मास मध्यम रहता है। इसके साथ ही यह भी देख लेना चाहिए कि इनमें कोई ऐसा मास तो नहीं है जिसमें गुरु या शुक्र अस्त हों या कोई अधिक मास तो नहीं है।

तिथि एवं वार

तिथियों में दूज, पंचमी, सप्तमी, दशमी, त्रयोदशी, पूर्णिमा श्रेयस्कर रहती हैं। जिन देवताओं की जो तिथि बताई गई है वे तिथियाँ यदि इनमें परिगणित नहीं हों तो भी ग्राह्य है जैसे गणपति की चतुर्थी, शक्ति की अष्टमी, चतुर्दशी, नरसिंह की चतुर्दशी, विष्णु मंत्र की एकादशी ग्राह्य रहती है।

वार में सोमवार मध्यम, बुध, गुरु और शुक्रवार श्रेष्ठ है। रवि और मंगल सात्विक मंत्र में वर्जित हैं किन्तु सूर्य मंत्र में रविवार और काली मंत्र में मंगलवार अथवा हनुमान मंत्र में मंगल और शनिवार ग्राह्य रहते हैं।

नक्षत्र

पुनर्वसु, पुष्य, हस्त, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़, उत्तराभाद्रपद, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा और रेवती उत्तम रहते हैं। विशेषकर शिव मंत्र आर्द्रा नक्षत्र में और तेजस्तत्त्वीय अथवा अग्नि के मंत्र कृत्तिका नक्षत्र में लेने चाहिए।

गुरु

साधना क्षेत्र में गुरु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। हमारी साधना और भविष्यत् का सारा दारोमदार गुरु पर ही निर्भर करता है। आज सत् शिष्य मिलना जितना कठिन है उससे अधिक दुष्कर है वास्तविक गुरु को ढूँढ लेना। अपने पाण्डित्य की दुहाई देने वाले और अपने को सर्वज्ञ कहने वाले लोग सर्वत्र सुलभ हैं पर गुरु की गरिमा को यत्किंचित् भी प्राप्त करने वाले तो ढूँढे ही मिलते हैं। गुरु बनाने में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए, पहले उस व्यक्ति के चरित्र और क्षमता के विषय में आश्वस्त हो लेना चाहिए। स्वभाव से उदार और दयालु, विषय का मर्मज्ञ और दंभ लोभ से वर्जित तो कम-से-कम होना ही चाहिए। जो व्यक्ति अपने मुँह से अपने कार्य का दाम माँगता है वह हमारा कल्याण नहीं कर सकता अथवा जो प्रकारान्तर से किसी भी प्रकार से अपने लाभ और लोभ पर केन्द्रित हुआ रहता है उसे भी दूर से ही प्रणाम कर लेना कल्याणकारी हुआ करता है। जिसे अपने पर, अपने इष्ट पर, अपनी क्षमता पर और ऋतुभरा की कृपा पर ही विश्वास नहीं होता वह प्रकट या छद्म से मांगा करता है और जहाँ उसने ऐसा आचरण कर लिया वह गुरु के गौरव के उपयुक्त नहीं रहा। गुरु के सम्बन्ध इस जन्म के ही नहीं होते, यह तो एक ऐसी शृंखला है जो जन्म-जन्मान्तरों से चलती चली आती है हमारा मन उस व्यक्ति को पहचान लेता है और उसके मन में हमारे प्रति एक कोमल भाव उत्पन्न हो जाता है। इस सम्बन्ध में कौन क्या ले रहा है और कौन कितना दे रहा है—इसका कोई नाप होता ही नहीं, दोनों एक मन-प्राण हो जाते हैं। इसलिए सबसे पहली बात यह है कि उस व्यक्ति पर हमारे मन में आस्था और विश्वास जमना ही चाहिए। जब हम किसी व्यक्ति को गुरु मान लेते हैं तो उसका निर्वाह करना ही चाहिए। हाँ, यदि उस कल्पित गुरु में ऐसा कोई दोष हो, जिससे उसकी निष्ठा ही संदिग्ध बन जाती है तो उसका विधिवत् परित्याग करना ही श्रेयस्कर रहता है।

शिष्य

शास्त्रों ने शिष्य की आचार संहिता भी बतलाई है। वास्तव में शिष्य की परिभाषा में उपयुक्त सिद्ध होना हमारी पात्रता की पहचान है और पात्र में ही कोई वस्तु, विद्या या भाव टिका करता है इसलिए हमें आत्मनिरीक्षण कर लेना ही चाहिए। इसमें कोई संशय नहीं कि हमारी पात्रता ही फलीभूत होती है। गुरु एक उत्प्रेरक शक्ति मात्र है, जिस प्रकार किसी मशीन को चालू करने के लिए बैटरी से झटका मारते हैं वैसा ही झटका देने के लिये गुरु की शक्ति काम करती है। इसके पश्चात् व्यक्ति अपने मार्ग पर चल पड़ता है। हाँ, यदि किसी प्रकार का अवरोध आता है अथवा गति शिथिल होती है या अन्य कोई प्रमाद एवं स्खलन होता है तो गुरु की चाबुक उसे नियंत्रित व समुचित गति प्रदान करती रहती है। हमारी श्रद्धा के आकाश में ही गुरु का चन्द्र प्रकाश प्रस्फुटित होगा इसलिए स्फीतविश्वास और निर्मलश्रद्धा उसे सम्पूर्ण कान्ति से प्रकाशित करने के लिए आवश्यक आधार है।

दीक्षा

दीक्षा वह संस्कार है जब गुरु और शिष्य के सम्बन्ध एक सेतु से जुड़ते हैं। दीक्षा से हम सामान्यतया 'मन्त्रोपदेश' ही समझते हैं। यही क्रिया इस संस्कार में सम्पन्न भी होती है। दीक्षा का अपना विधि-विधान, प्रत्येक सम्प्रदाय में बताया गया है और उसका निर्वाह करना ही चाहिए। दीक्षा के समय शक्तिपात भी होता है, यह दूसरी बात है कि वह शक्तिपात हमें किस रूप में अनुभव होता है ? क्योंकि शक्तिपात का अनुभव करने के लिए शिष्य की पवित्रता और पात्रता जितनी आवश्यक है उतनी ही गुरु की शक्ति भी। वे परम्परापान पूर्ण गुरु तो आज मिलना ही असंभव है जो सारा ही दायित्व स्वयं ले लेते हैं कि शिष्य के मलों और कषायों को दग्ध करके अपनी प्रभा प्रकाशित कर देंगे। फिर भी यदि सामान्य आकांक्षा भी गुरु में उत्पन्न हो जाए तो वे शिष्य में एक अलौकिक परिवर्तन कर सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गुरु की कृपादृष्टि मिलने पर व्यक्ति एक नियत दिशा में, निश्चित गति से चल पड़ता है और शिष्य को लक्ष्य तक पहुंचाना गुरु का परम्परासिद्ध दायित्व हो जाता है। दीक्षा अनेक तरह से दी जाती है। जिस प्रकार हमारे यहाँ आठ प्रकार की विवाह की विधियाँ हैं उसी तरह दीक्षा के अनेक प्रकार होते हैं जिनमें चाक्षुष, स्पर्शवती और याज्ञिकी अतिप्रचलित है। जब कभी गुरु अतिशय स्नेह और कृपा से परिपूर्ण होकर शिष्य को आत्मीय भाव से देखते हैं और उस दृष्टि से शिष्य के कर्मकषाय शिथिल हो जाते हैं तो यह चाक्षुष दीक्षा होती है। इस दीक्षा के बाद दोनों में

आन्तरिक सम्बन्ध गहराते चले जाते हैं और साधनालोक के अद्भुत रहस्य स्वतः प्रकाशित होने लगते हैं, व्यक्ति अपने जीवन को पूर्ण एवं कृतार्थ समझने लगता है। स्पर्शवती दीक्षा, जैसा कि शब्द से प्रकट है, स्पर्श करके दी जाती है यह स्पर्श आलिंगन के रूप में समग्र शरीर का भी हो सकता है और किसी अंग विशेष का भी। याज्ञिकी दीक्षा में यज्ञ की साक्षी में शिष्य का अभिषेक करके उपदेश दिया जाता है। ऊपर ज्योतिषीय आधार में जो मास, तिथि, वारादि बताए गए हैं, वे दीक्षा के लिए भी उपयुक्त माने गए हैं। सारभूत तथ्य यह है कि वास्तविक गुरु को हम तलाश लें और उनकी कृपा दृष्टि हम पर जो जाए, वे हमें मन से स्वीकार कर लें। इससे अधिक स्वर्ण-सुयोग और जीवन की कृतार्थता क्या होगी ? गुरु की जब इच्छा हो, जहाँ इच्छा हो वही शुभ मुहूर्त है, वे जिस तरह भी चाहें वैसे ही दीक्षित कर दें, उनका कृपा पूर्ण आश्रय हमें सनाथ किए रहे, उनका आशीर्वचन हमें मिलता रहे—यही बहुत है।

माला

अब साधना क्रम में माला की आवश्यकता होगी। माला रीठा, जीवापोता, चन्दन, शंख, कमलगट्टे, मणि, मोती, स्फटिक कुशा की गांठ और रुद्राक्ष के मणियों की बनाई जाती है। एक तंत्र ग्रंथ के अनुसार सोने और चांदी के मणियों की माला उत्तम होती है, रुद्राक्ष की माला परम पवित्र रहती है। मंत्र एवं मत के अनुसार विष्णु के उपासक तुलसी की माला से जप करते हैं, गणपति मंत्र की उपासना के लिए मूँगे या हाथीदन्त की माला उपयुक्त रहती है, गायत्री मंत्र को जप करने के लिए स्फटिक याने बिल्लोर की माला उत्तम मानी गई है, सूर्य मंत्रों में लाल चन्दन की, शिव मंत्र के लिए रुद्राक्ष की, बगलामुखी के लिए हल्दी की माला अनुकूल रहती है।

सोने के तार में सभी मालाओं को पिरोया जा सकता है, चांदी और ताम्बे का तार भी अनुकूल रहता है। देवी मंत्र में उपासक रेशमी धागे में, विष्णु मंत्र के उपासक सूती या कमलतन्तु में और शिव के उपासक ऊनी धागे में माला पिरोवें।

माला को हमेशा गौमुखी में रखना चाहिए। जप करते समय अथवा जप के पश्चात् भी माला इस तरह छुपी या ढंकी रहनी चाहिए कि किसी को दिखाई न पड़े। एक प्रकार के मंत्र के लिए एक ही माला काम में ली जाए। साधना क्रम के अनुसार एक बार में एक ही परिवार की साधना की जाती है, इसलिए एक माला से ही जप कर लिया जाता है। न अपनी माला किसी और व्यक्ति को दे, न दूसरे की माला से स्वयं जप करें। यदि प्रवास में अथवा अन्य किसी कारण वश माला न मिले तो करमाला से जप कर लेना चाहिए।

करमाला अनामा के बीच के पोर से प्रारम्भ होती है और नीचे के पोर पर दो, कनिष्ठा अंगुलि के नीचे के पोर से ऊपर की तरफ चलते हुए तीन (दो और तीन पांच) अनामा का अग्र पोर फिर मध्यमा के अग्र पोर से नीचे की तरफ तीन पोर और दसवां तर्जनी अंगुली का नीचे वाला पोर इस प्रकार एक दहाई होती है। इन दहाइयों को बायें हाथ की अंगुलियों के पोर पर एक सौ आठ का गणना क्रम पूरा कर लें।

जप

मंत्र का जप करते समय माला के मणियों की आवाज नहीं आनी चाहिए, हाथ नहीं हिलना चाहिए, गौमुखी व माला को कम्पाना नहीं चाहिए। माला हाथ से छूटना अशुभ है, यदि छूट जाए तो आचमन करके इष्टदेव से क्षमा याचना करके फिर से आरम्भ करना चाहिए।

माला जपने के लिए माला को अनामिका पर रख कर मध्यमा और अंगुष्ठ से मणियों सरकाने चाहिए। अन्य विशिष्ट प्रयोगों में यदि किसी अन्य अंगुली का उपयोग करने के लिए निर्देश दिया गया हो तदनुसार जपे अन्यथा अनामा पर रख कर मध्यमा एवं अंगुष्ठ के योग से जपना सिद्धिप्रद रहता है।

जप तीन प्रकार का होता है—वाचिक, उपांशु और मानसिक। वेद का वाचन वाचिक होता है, स्तोत्रों और सहस्रनाम आदि का भी वाचिक स्तर पर ही करते हैं। वाचिक का अर्थ होता है श्रव्य। दूसरे लोग भी जिसे सुन सकें वह वाचिक कहलाता है। सप्तशती अथवा अन्य सहस्रनामादि प्रयोग जिनको मंत्रवत् शक्ति सम्पन्न माना जाता है, उनको मंत्र के रूप में प्रयोग करने पर मानसिक जप किया जाता है अन्यथा वाचिकही करते हैं। शास्त्र का निर्देश है कि स्तोत्र को मानसिक और मंत्र को वाचिक नहीं किया जाना चाहिए। उपांशु जप में ओंठ हिलते हैं और जीभ भी कुछ क्रियाशील रहती है। मानसिक जप बिल्कुल ओंठ व जीभ को बन्द करके किया जाता है। मानसिक जप के भी स्तर रहते हैं। यह व्यावहारिक विषय है और करने पर ही इसके परत खुलते जाते हैं। कल्पना अथवा इच्छा या चेष्टा यह रहनी चाहिए कि हम बिना जीभ हिलाये मंत्र की ध्वनि हृदय प्रवेश में सुनें।

जप में ध्वनि सुनने के साथ ही उसका अर्थ भी कल्पना में आता रहे क्योंकि जप के लिए कहा गया है कि “तज्जपस्तदर्थभावनम्” अर्थात् जप उसके अर्थ की भावना से ही यथार्थ होता है। जप की दूसरी परिभाषा है—जप “स्यादक्षरावृत्तिः” अर्थात् किसी भी मंत्र का बार-बार बोलना ही जप कहलाता है। इन दोनों परिभाषाओं का संयुक्त अर्थ हुआ कि मंत्र के अर्थ की भावना करते हुए बारम्बार उसकी आवृत्ति की जाए।

पुरश्चरण

पुरश्चरण से अर्थ होता है कि किसी भी मंत्र को सिद्ध करने के लिए नियत मात्रामें जप करना। यह मात्रा मंत्र के अनुसार निर्धारित की जाती है। कई मंत्र ऐसे हैं जिनका पुरश्चरण पचास बार बोलने पर ही हो जाता है और कई ऐसे होते हैं कि जितने अक्षर हैं उतने ही लाख जप करने पर पुरश्चरण सम्पन्न होता है। शास्त्र कहते हैं कि पुरश्चरण के लिए मंत्र जप की जो संख्या बताई गई है वह सत्युग की थी जो युगानुसार बढ़ती गई अर्थात् त्रेता में दुगुनी, द्वापर में तिगुनी और कलियुग में चार गुनी मात्रा में जप करने पर पुनश्चरण का स्तर प्राप्त होता है। यद्यपि यह शास्त्र वचन है पर इसका अर्थ सामान्य माना जाना चाहिए। यदि आज भी कोई व्यक्ति उत्तम पात्र है, निष्ठा, चरित्र और विधि श्रेष्ठ स्तर की हैं तो उसे उतनी ही मात्रा में जप करने पर सफलता मिल जाती है—यह बात पूरे विश्वास से कह सकता हूँ।

छोटे मंत्रों का पुरश्चरण अधिक मात्रा में जप करने पर होता है और बड़े मंत्रों का पुरश्चरण कम संख्या में करने पर हो जाता है—यह सामान्य नियम है।

पुरश्चरण के पश्चात् दशांश हवन और उसका दशमांश ब्राह्मण भोजन किया जाता है। अपवाद के रूप में यदि हवन न किया जा सके तो उसके एवज में जप करने की वैकल्पिक व्यवस्था शास्त्रों में दी गई है।

पुरश्चरण का समय—साधारण रूप में जितनी संख्या में पुरश्चरण करना होता है उसे सुविधानुसार समय से विभाजित करके नियत मात्रा में प्रतिदिन जप करने का क्रम निर्धारित कर लेते हैं। इस व्यवस्था में यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रतिदिन निश्चित मात्रा में ही जप किया जाए, यह नहीं कि आज पांच माला कर ली, कल सात, परसों तीन—इस प्रकार अव्यवस्थित रूप से नहीं करना चाहिए।

पुरश्चरण तीन तरह के होते हैं—कालिक, मात्रिक, और उभयात्मक। कालिक पुरश्चरण में उस समय में जितने जप हो जाएँ वही पुरश्चरण होता है। जैसे ग्रहण काल में जितने समय तक ग्रहण होता रहता है उतनेसमय तक जप करने पर पुरश्चरण सम्पन्न हो जाता है। एकाहिक पुरश्चरण एक दिन का होता है। सूर्योदय से प्रारम्भ करके अगले सूर्योदय तक किया गया जप एक दिन का पुरश्चरण कहलाता है। छः दिन का पुरश्चरण शरद् ऋतु—आश्विन कार्तिक—में शुक्ल पक्ष की चतुर्थी से नवमी तक किया जाता है। साप्ताहिक पुरश्चरण शुक्ल पक्ष की अष्टमी से चतुर्दशी तक का माना जाता है। ग्यारह दिन का पुरश्चरण—कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी से शुक्ल पक्ष की नवमी तक माना जाता है।

मासिक पुरश्चरण कृष्ण पक्ष की अष्टमी से शुक्ल पक्ष की अष्टमी तक किया जाता है। शिव मंत्रों के पुरश्चरण चतुर्दशी से चतुर्दशी पर्यन्त किये जाते हैं। वैष्णव मंत्रों के पुरश्चरण फाल्गुन, वैशाख वा कार्तिक मास में शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से एकादशी तक किये जाते हैं। गणेश मन्त्र के पुरश्चरण भाद्रपद, माघ, मार्गशीर्ष मास के प्रथम बुधवार अथवा शुक्ल पक्ष के प्रथम बुधवार से नौ दिन तक माने जाते हैं। इनसे भिन्न प्रकार के अनुष्ठान में, कुल मंत्र जप की संख्या को अपेक्षित दिनों का भाग देकर नित्य निश्चित मात्रा में जप कर लेना चाहिए।

विभिन्न देवताओं की विशेष पूजा करने की तिथियाँ

चैत्र शुक्ल चतुर्दशी को शिव, द्वादशी को नारायण, अष्टमी को शक्ति, सप्तमी को सूर्य, माघ कृष्ण चतुर्दशी को शिव, वैशाख कृष्ण चतुर्दशी को नरसिंह, भाद्रपद कृष्णा अष्टमी को कृष्ण एवं महालक्ष्मी, भाद्रपद चतुर्थी को गणपति, माघ शुक्ला सप्तमी को सूर्य, आश्विन कृष्णा में नौ दिन शक्ति की उपासना की जाती है। ये सारी तिथियाँ भारतीय हिन्दुओं के यहाँ पर्व उत्सव के रूप में मानी जाती हैं किन्तु आस्तिक गृहस्थ को इन दिनों निर्दिष्ट देवताओं की पूजा, उनका चरित्र श्रवण वा उपनिषद् आदि का पाठ करना कल्याणकारी होता है। ये लोग धन्य हैं जिनके घर में ये पर्व उल्लासपूर्वक मनाये जाते हैं। इष्ट एक ही होते हैं किन्तु हम लोग गृहस्थ हैं इसलिए सम्मान सभी का करना हमारा कर्तव्य है। हमारे द्वार पर आया साधु-सन्त भी अपेक्षा करता है, भिखारी भी हम से कुछ चाहता है, पशु-पक्षी का भरण-पोषण करना भी एक सद्गृहस्थ का यज्ञ है।

संकल्प

आसन पर बैठकर देवता के अभिमुख एवं दीपक की साक्षी में संकल्प करते हैं। संकल्प यद्यपि जल हाथ में लेकर किया जाता है किन्तु जल न हो तो हाथ की हथेली को थोड़ा गढ़ेनुमा करके अंगुलियों को सीधे रखते हुए, संकल्प बोलकर पानी नीचे छोड़ देना चाहिए। संकल्प में अधिक न बोल सके तो मास, पक्ष, तिथि, वार का उल्लेख करके अपने गोत्र व नाम का उच्चारण करके 'कर्म करिष्ये' बोल देना चाहिए। जैसे—

ओम् तत्सत् अद्य मासानां मासोत्तमे मासे—1. मासे 2. पक्षे 3. तिथौ 4. वासरे 5. गोत्रोत्पन्न 6. अहं 7. करिष्ये।

इन खाली स्थानों में क्रमशः 1 में मास का नाम, 2 में पक्ष (शुक्ल या कृष्ण) 3 में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया आदि तिथि, 4 में वार, 5 में गोत्र, गोत्र याद न हो तो काश्यप

गोत्रोत्पन्न, 6 में स्वयं का नाम, 7 में जिस देवता का मंत्र जप करना हो या पूजन करना हो उसका नाम लेना चाहिए।

विनियोग में भी यही मुद्रा होती है। विनियोग की भाषा प्रयोगो में दे दी जाती है।

पूजा

पांच से लेकर अड़तीस उपचारों से की जाती है। ये उपचार वे सामग्रियाँ हैं जिनको हम हमारे दैनिक जीवन में व्यवहारते हैं और इनका क्रम भी वही है जो हमारे व्यवहार में रहता है। सर्वोत्तम पूजा मानसी होती है पर वह हमारे बस की बात नहीं है। इसके बाद मंत्रमयी पूजा होती है, फिर मुद्रामयी और फिर उपचारवती पूजा होती है। हम सभी उपचारवती पूजा के ही स्तर के व्यक्ति हैं इसलिए उपचारों से ही पूजा करनी चाहिए।

सामान्य व्यवस्था यह है कि गंध, पुष्प और आभूषण सामने रखे जाते हैं, पुष्प देवता के मस्तक पर और गंध ललाट पर चढ़ाई जाती है। दीपक घी का अपने बायें हाथ और तेल का अपने दाहिने हाथ रखा जाता है, धूप अथवा अगरबत्ती अपने दाहिने हाथ, प्रसाद सामने अर्पित किया जाता है। उपचार में पंचोपचार अत्यन्त संक्षिप्त विधि में माने जाते हैं। ये पंचोपचार स्थूल प्रपंच के प्रतीक हैं। त्रिगुणात्मक यह जगत् अन्ततः पांच में पर्यवसित होता है। उपासना चूँकि अन्तःकरण से की जाएगी इसलिए स्थूल जगत् के प्रतीक इन स्तरों से ऊपर उठने के लिए प्रतीक पदार्थ इनके समर्पित करते हैं। जैसे हम किसी सामन्त से मिलने जाते हैं और उसके अन्तःप्रासाद तक जाने के लिए पांच द्वारों को पार करके जाना होता है उसी प्रकार देवता के दिव्यत्व को प्राप्त करने के लिए स्थूल जगत् से ऊपर उठने की यह प्रक्रिया पंचोपचारवती पूजा कहलाती है। पंचोपचार में गंध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आते हैं।

सर्वप्रथम हम देवता का आवाहन करते हैं। ध्यान आवाहन का ही प्रतीक है। आवाहन का अर्थ होता है—बुलाना। देवता के आगमन के पश्चात् आसन दिया जाता है।

अर्घ्य

अर्घ्य जल का होता है और यह देवता के हाथ में अर्पित किया जाता है। छः प्रसंगों में अर्घ्य दिया जाता है यानि हाथ धोने की क्रिया छः बार होती है। आते ही, आसन पर बैठने पर, स्नान करते समय, पूजा में, पूजा के अन्त में और विदा करते समय।

पाद्य

पाद्य का अर्थ पैर धोने के जल से है।

आचमन

कुल्ला करने के जल को आचमनीय कहते हैं। इस जल में जायफल, लोंग, इलायची, कपूर और कंकोल मिलाए जाते हैं।

स्नान

पंचामृत से, नारियल के जल से, गन्ने के रस से, तालफल के पानी से, सामान्य जल में कपूर मिलाकर किया जाता है। पंचामृत में दूध, दही, घी शक्कर और शहद माने जाते हैं।

वस्त्र

रेशम का हो तो उत्तम, विष्णु को पीले रंग का रेशमी वस्त्र पहनाया अथवा अर्पित किया जाता है। शिव और सरस्वती को सफेद रंग का, गणेश, शक्ति, सूर्य, मंगल और भैरव को लाल रंग का, काली को काला और राहु को नीले रंग का चढ़ाया जाता है। आसन के लिए जिस प्रकार के वस्त्र का विवरण दिया गया है वैसा ही यहाँ भी मान लेना चाहिए। यहाँ दूषित वस्त्र अर्पण करने से क्या दोष लगता है—इसका परिचय दे देते हैं। चिकटे वस्त्र से रोग, छिदे, रंग-रंगीले और मांगे हुए वस्त्रों से दरिद्रता, पुरानेसे आयुक्षय, जले हुए वस्त्र विपत्ति, सूई छिदे-सिले हुए से फोड़े-फुन्सी, गन्दे से तेजः क्षय, बाल लगे वस्त्र से पुत्रहानि जैसे कुफल मिलते हैं।

गंध

पांच प्रकार का माना जाता है। स्नान के पश्चात् वस्त्र धारण किए जाते हैं, तत्पश्चात् सुगन्धित द्रव्य लगाने को गंधार्पण कहते हैं। सामान्य व्यवहार में हम इसे टीका लगाना कहते हैं और उसमें कुंकुम या रोली का प्रयोग करते हैं। पांच प्रकार के गंध में चूर्ण, घृष्ट, धूमसार, सम्मर्द और प्राणिज माने जाते हैं। चूर्ण जिस गंध में चूरा करके, बारीक पीसकर काम में ली जाती है वह चूर्ण होती है। सुगन्धित पत्तों को चूर्ण करके यह बनाई जाती है। घृष्ट का अर्थ घिसने से है। जो गंध घिसकर लगाई जाती है वह घृष्ट कहलाती है। इसमें—चन्दन, अगर, देवदार और कदम्ब काम में आते हैं।

धूमसार अर्क को कहते हैं। इसमें कांच की कूपी से इनका सत्व निकाला जाता है। अगर, चन्दन, देवदार, नागरमोथा, शतमूली, शिलाजीत, वारिवाह, सेवन्ती और असगंध धूमसार काम में आते हैं।

सम्मर्द का अर्थ मसलने से होता है। जिन द्रव्यों को मसलकर गंध के उपयोग का बनाया जाता है, वह सम्मर्द कहा जाता है। इसमें—कस्तूरी, नागरमोथा, इलायची, जटामांसी, वच, कूठ और शिलाजीत आते हैं। प्राणिज में कस्तूरी और औकरस माने जाते हैं।

पुष्प

पांच प्रकार के पुष्प बताये गए हैं। पर, अपर, उत्तम, मध्यम और हीन। पर पुष्प सुवर्ण का बना होता है, अपर पुष्प चांदी या तांबे का होता है। उत्तम तुलसी (मंजरी), केतकी, कमल, कनेर, मालती के फूल माने जाते हैं। मध्यम में बेला, कुन्द, मन्दार, मौलसिरी, अर्जुन, पलास, पारिजात, अशोक, बिल्व और चम्पा ये दस फूल माने जाते हैं। इनके अलावा अधम माने जाते हैं। किन्तु शिव के लिए धतूरे के फूल उत्तम रहते हैं। निषिद्ध पुष्पों में धरती पर गिरे हुए, गर्म, कीड़ों से खाये हुए, शरीर पर लगाये हुए, मुझाये हुए, किसी के द्वारा सूंघे गए, गंधहीन, तीव्रगंध वाले और बुसे हुए पुष्प माने जाते हैं। तुलसी, बिल्व, चम्पक, कमल, बकुल और अगस्त्य के फूल बासी नहीं माने जाते अर्थात् पहले के दिन के भी काम में लिए जा सकते हैं। माला बनाने वाले के घर से लिए गए फूल भी बासी नहीं माने जाते। प्रातःकाल की पूजा के लिए फूल बिना स्थान किए ही लाए जाते हैं। वामाचारी पद्धति में प्रथम बार हुई रजस्वला का रज स्वयंभू कुसुम कहा जाता है और कामाख्या जैसे पीठ पर उसे रूई में लेकर चढ़ाने को बहुत प्रभावशाली बताया गया है। पुष्प देवता के सिर पर चढ़ाया जाता है तथा ऊपर मुंह किया ही चढ़ाया जाता है किन्तु पुष्पांजलि में यह विचार नहीं किया जाता।

नैवेद्य

नैवेद्य में यथासंभव शुद्ध घी, मावे या ऐसी ही प्राकृत खाद्य वस्तु प्रसाद के रूप में समर्पित करनी चाहिए।

दीपक

दीपक के विषय में कह चुके हैं कि घी का दीपक हो तो देवता के दाहिने यानि साधक के बायें और तेल का हो तो देवता के बायें यानि साधक के दाहिने हाथ की तरफ रखना चाहिये।

धूप

देवता के बायें अर्थात् साधक के दाहिनी तरफ धूप स्थापित करें।

शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार यंत्र उत्तम रहता है क्योंकि यन्त्र उस सूक्ष्म के स्थूल होने की प्रथम अवस्था है। इसके बाद मूर्ति आती है फिर चित्र आते हैं। आजकल देवताओं के चित्रों के कलैण्डर छापे जाते हैं और हम लोग उन्हीं को कांच में जड़ाकर पूजागृह में रख लेते हैं। इस प्रकार के चित्र अन्ततोगत्वा फट-फटा कर कूड़े के ढेर में चले जाते हैं। जिस चित्र को हमने पूजा था उसकी यह दुर्गति अत्यन्त अशोभन रहती है और इससे हमें दोष भी लगता है। अधिक अच्छा तो यह रहे कि ऐसे चित्रों को हम किसी समुद्रगामिनी नदी में डाल दें, ऐसा संभव न हो तो किसी अन्य जलाशय में विसर्जित कर आवें।

उत्कीलन

प्रायः मंत्र कीलित होते हैं। कीलित दो प्रकार से होते हैं एक स्वभावतः कीलयुक्त और दूसरे अन्य द्वारा कीलित। जैसे हम फर्नीचर की लकड़ी में देखते हैं—उसमें स्वाभाविक कील भी होती है और आवश्यकतानुसार खाती भी कील ठोक देता है। कील का पारिभाषिक अर्थ किया गया है—दूषित वर्ण। मंत्र में जो दूषित वर्ण होता है वह कीलक कहा जाता है। कई मंत्रों में कीलक का स्पष्ट निर्देश किया रहता है। दूसरे प्रकार का कील होता है कि किसी मंत्र विशेष को तपस्वी ऋषियों ने कीलित कर रखा है वह भी कीलित कहलाता है। इन दोनों प्रकार के कीलों से मुक्त करने के लिए उत्कीलन किया जाता है। जिन मंत्रों के उत्कीलन करने की विधि निर्दिष्ट नहीं की गई है उनके लिए ये दो दो विधियाँ प्रयोग में लाई जा सकती हैं—

(1) जिस मंत्र का जप करना हो, उस मंत्र से पहले और बाद में एक माला “ओम् ह्रीं ओम्” इस त्र्यक्षरी मंत्र का जप कर लेना चाहिए। जैसे हमें पुरश्चरण करना है और पुरश्चरण के लिए ग्यारह माला रोज जपनी है तो इस त्र्यक्षरी मंत्र की एक माला मूल मंत्र की मालाओं से पहले और एक माला बाद में जप लेनी चाहिए। ऐसा प्रतिदिन करना अच्छे परिणाम देता है।

(2) जिस मंत्र को जपना है उसको एक सौ आठ बार अष्टगंध से भोजपत्र पर लिखकर उनका पूजना करें, यथाशक्ति ब्राह्मण भोजन कराकर उनसे आशीर्वाद ले फिर ताम्रपात्र में रखकर उस पात्र को जल से भर दे और किसी नदी में जाकर विसर्जित कर आवे।

मूर्ति

मंत्र के साथ ही यन्त्र की आवश्यकता शास्त्रसम्मत है। यन्त्र न मिले तो मूर्ति स्थापित करने की परम्परा है। मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा करने पर ही वह देवत्व को प्राप्त होती है। मूर्तियाँ—काठ, सोना, चांदी, तांबा, रूपा, कांसी, पत्थर, स्फटिक और मिट्टी की होती है।

काठ की मूर्तियाँ चन्दन की श्रेष्ठ होती हैं किन्तु गणपति की हरिद्रा, श्वेतार्क, नीम आदि की प्रयोजनानुसार बनाई जाती है। अर्क की मूर्तियों में घुन लग जाता करता है इसलिए उनको चन्दन या अन्य सुगन्धित तेलों से चुपड़कर सिन्दूर लगा दिया जाता है। इससे उनमें किसी तरह के विकार नहीं होते अन्यथा वे तड़क जाती हैं, घुन जाती हैं और ऐसे ही अन्य विकार हो जाते हैं। चिकनाई लगाने के बाद इनको स्नान कराने में भी कोई आपत्ति नहीं किन्तु ध्यान रहे कि पानी की नमी इनके भीतर पहुँचे इससे पहले ही उसे पोंछकर फिर से तेल लगा दिया जाए।

विभिन्न मूर्तियों के फल कथन करते हुए शास्त्र कहते हैं—

दारुजा कामदा प्रोक्ता सौवर्णी भुक्ति मुक्तिदा ।

राजती स्वर्गराज्यदा ताम्री ह्यायुर्विवर्धिनी ।

कांस्याः बह्व्यापदं हन्ति रैतकी शत्रुनाशिनी ।

सर्वभोगप्रदाशैली स्फाटिकी दीप्तिकारिका ।

महाभोगप्रदा ख्याता मृण्मयी खलुशोभना ॥

अर्थात् काठ की मूर्ति कामना पूर्ण करने वाली, सोने की मूर्ति भुक्ति और मुक्ति देने वाली, चांदी की स्वर्ग और राज्य देने वाली, तांबे की आयु बढ़ाने वाली, कांसी की आपत्ति नष्ट करने वाली, पारे की शत्रुनाश करने वाली, पत्थर, की सब प्रकार के भोगों को देने वाली, स्फटिक की यश और वर्चस्व बढ़ाने वाली और मिट्टी की अत्यन्त भोग देने वाली होती है।

मिट्टी की मूर्ति कच्ची ही रहे, आग में पकाई हुई मूर्ति वर्जित है। काठ की मूर्ति यदि शीर्ण या विकृत हो जाए तो उसे अग्नि के समर्पित कर दिया जाए शेष को समुद्र में मिलने वाली नदी, समुद्र या फिर किसी तीर्थ स्थल में विसर्जित कर दिया जाए।

मूर्ति टेढ़ी-मेढ़ी, आगे या पीछे की तरफ झुकी हुई, कम या अधिक अंग वाली न हो, उसकी आंखें भी इधर-उधर दृष्टि वाली न रहें।

मूर्ति की लम्बाई अधिकतम अंगूठे के प्रथम पर्व से लेकर बलिष्ठ तक की हो सकती है यानि नौ-दस इंच। इससे अधिक बड़ी मूर्ति गृहस्थ के घर में उपयुक्त नहीं रहती। छोटपेन में अंगुष्ठ के पहले पोर जितनी हो सकती है।

गृहस्थ व्यक्ति को एक ही पूजा स्थान में दो गणपति की मूर्तियाँ, दो शिवलिंग, तीन देवी की मूर्तियाँ, दो शंख, दो सूर्य, दो शालिग्राम शिला, दो चक्र नहीं रखने चाहिए।

देवी की तीन मूर्तियों में भिन्न रूप हों जैसे महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, तो कोई आपत्ति नहीं। मेरी समझ में शास्त्रकार का यही मन्तव्य है कि एक ही स्वरूप की तीन प्रतिमा या दो प्रतिमा वर्जित हैं भिन्न, रूपों में यह निषेध नहीं रहता। गृहस्थ के घर में ऐसा होने से उद्वेग बढ़ता है।

हवन विधि

कहने की आवश्यकता नहीं कि यज्ञ अतिवैज्ञानिक विधि है। गीता में यज्ञ को इतना विस्तृत परिप्रेक्ष्य दिया गया है कि उसमें, सृष्टि के समस्त कर्म आ जाते हैं। गीता के वेदान्तीदर्शन के अनुसार आज भी जो भौतिक, रासायनिक एवं जैविक कार्य हो रहे हैं वे सब भी यज्ञ ही हैं। यह एक भिन्न बात है कि उनकी विधि विकृत है, इसलिए वे विकर्म कहलाते हैं और उनका कुफल भोगना पड़ रहा है। कुफल और विकृत इसलिए कि ये आज के वैज्ञानिक प्रकार साधर्म्य पर नहीं वैधर्म्य पर हो रहे हैं इसलिए इनका परिणाम सुखावह नहीं है।

गीता-दर्शन के अनुसार संसार पांच तत्वों और सूक्ष्म में तीन गुणों का रचना-विस्तार है किन्तु इसमें रासायनिक क्रिया होती है अग्नि के माध्यम से। यह अग्नि जब सौम्य होती है तो सोम कहलाती है, उग्र होने पर वह्नि और वैश्विक होने पर सूर्य कही जाती है। अग्नि का प्रकटीकरण विश्व में अद्भुत घटना थी, उसे आविष्कृत करने वाले ऋषि ने उससे साध्य कार्यों और उसकी शक्ति का अनुमान लगाकर ही उसे देवता कहा था। विश्व के आदि ज्ञान वेद की प्रथम ऋचा अग्नि का ही स्तवन है—

“अग्निमीले पुरोहितम् देवानां ऋत्विजम्”

यज्ञ को प्राकृत रूप देने के लिए इसके विधि-विधान हैं। हमारे पूर्वजों ने इसे सांगोपांग अतएव नियतफलप्रद बनाने के लिए इसके प्रत्येक पदक्षेप का सविस्तार वर्णन किया है और कोई भी स्थल ऐसा नहीं छोड़ा जो संदिग्ध या अस्पष्ट हो।

यद्यपि आज के व्यस्त जीवन में यज्ञ की सम्पूर्ण विधि निर्वाह करना कठिन है फिर भी हमारी व्यावसायिक व्यस्तता में यदि हम ऐसे अव्यावसायिक आयोजन कर पायें तो एक भिन्न संसार के दर्शन होंगे। इससे हमें एक सात्विक आनन्द की अनुभूति होगी। यज्ञ में होमे गए पदार्थों की धूम हमें तनाव और दबाव से मुक्त करके एक हल्केपन का अनुभव करायेगी।

किन्तु इस आनन्द को प्राप्त करने के लिए हमें हमारे देह और वातावरण को सुसंग्राही बनाना पड़ेगा। यज्ञ के प्रति जितना संवेदनशील और श्रद्धापूर्वक होना चाहिए, होना पड़ेगा—यह शर्त है। आहार-विचार और कार्य में हमें सात्विकता लानी ही पड़ेगी।

यज्ञ के तकनीकी कार्य में हमें प्रारम्भ में थोड़ी ऊब भी हो सकती है और क्रम में व्यक्तिक्रम और त्रुटि भी संभव हो सकती है किन्तु इससे घबराने की बात नहीं है। यह पुस्तक हमारा मार्गदर्शन करेगी। इसमें यथामति ऐसी चेष्टा की गई कि कोई भी प्रकरण रहस्यपूर्ण न रहे। यथार्थ में यज्ञ हमारे व्यक्तिगत लाभ के लिए ही नहीं होता इससे पर्यावरण और सामाजिक स्वास्थ्य भी शुद्ध रहता है इसलिए हमारे घर में किया गया यज्ञ एक मौन किन्तु प्रभावकारी समाज सेवा भी है।

किसी भी अनुष्ठान की सम्पूर्णता के लिए यज्ञ एक अनिवार्य आयोजन है। यद्यपि नित्य कर्म में इसकी अनिवार्यता शिथिल हो जाती है और जप ही यज्ञ का स्थानिक बन जाता है। किन्तु फिर भी अयन, विषुव, संक्रान्ति या अन्य पवित्र पर्वों पर यदि हम हमारे नित्य जप्य मंत्र से ही हवन कर लें तो अधिक उत्तम रहे। नैमित्तिक अनुष्ठान में तो हवन अनिवार्य होता ही है।

जब हम कोई भी विशिष्ट अनुष्ठान करते हैं तो किसी भी प्रकार का उद्वेग या आवेश नहीं करना चाहिए। क्रोध, ईर्ष्या, निन्दा, कामुक व्यवहार, झगड़ा, रोना जैसी बातें वर्जित हैं।

भोजन के सम्बन्ध में व्यवस्था है—एकाशी, नक्ताशी, हविष्याशी, रहने से हमारे वित्त में निर्मलता रहती है। अन्न के कारण होने वाले उपद्रव नहीं होते। आलस्य, उबासी अपानोत्सर्ग जैसी विकृतियाँ व्रतोत्सव की सात्विकता में रोधक बनती हैं। देवल ने कहा है—ब्रह्मचर्य, शुद्धता, सत्य निरामिष भोजन इन चार बातों से अनुष्ठान का बल व फल बढ़ता है।

एकाशी का अर्थ होता है—एक बार भोजन करना, नक्ताशी का अर्थ होता है—रात्रि को भोजन करना, हविष्याशी उसे कहते हैं जो हविष्यान्न खाता है।

हविष्यान्न में सत्तू, भुने हुए अनाज, जौ, लापसी, शाक दूध, दही, घी, कन्द वा जड़, फल और जल। गौतम के मतानुसार ये पदार्थ उत्तरोत्तर उत्तम माने जाते हैं अर्थात् सत्तू से उत्तम भुना अनाज, उसमें उत्तम जौ की लापसी इत्यादि।

स्कन्द के अनुसार—जल, जड़, फल, दूध, घी, गुरु की आज्ञा से भुक्त और औषधि इनसे व्रतभंग नहीं होता है।

अपना अनुष्ठान कर रहा व्यक्ति किसी दूसरे का अन्न या फल-शाक-दुग्ध आदि ग्रहण न करें—इससे उसके अनुष्ठान का आधा फल उस व्यक्ति को मिलता है जिसका अन्नादि है। देवता के पूजनादि की वस्तुएँ तो व्यक्ति को अपने ही व्यय से लेनी चाहिए।

जवाहरें—नवरात्र या अन्य अनुष्ठानों में धान्य बीज बोने की परम्परा है। ये हमारे अनुष्ठान के सफल-विफल या शुभाशुभ रहने के सूचक के रूप में उगाए जाते हैं। कहना न होगा कि ये सीधे, सुकोमल और सुन्दर रूप में उगते हैं तो हमारा अनुष्ठान सफल माना जाएगा। एक बार एक अनुष्ठान में इन अंकुरों का रंग काला हो गया। अनुष्ठान करने वाले पण्डित भयभीत हो गये। शास्त्र ने इस प्रकार के अंकुरों का फल अर्थनाश बताया है और जिस प्रकार परिवार में यह आयोजन किया गया उसके घोर अर्थनाश हुआ। यहाँ हम इन अंकुरों में सम्भावित विकृतियों और उनका फल लिख रहे हैं—

श्याम या काले रंग के अंकुरित हों तो अर्थनाश, टेढ़े-मेढ़े हों तो बीमारी, आकार में छोटे रहें तो दुःख, गलत-सलत उगने पर रोम, जले या मुचे हुए-से रहने से स्थान-देश की हानि सूचित करते हैं।

हवनकाष्ठ—जिस ईंधन में हवन करना है उसे समिधा कहते हैं। समिधा आक, ढाक, खेर, अपामार्ग, पीपल जांट (शमी) गूलर जैसे पेड़ की ली जाती है। चीड़, कीकर, फराश, इमली जैसे पेड़ वर्जित है। चन्दन, देवदार उत्तम माने जाते हैं। समिधा के लिए व्यवस्था तो यह है कि डाल ही हो और हमारे पहुँचे जितनी मोटी हो। इससे तात्पर्य यह है कि वनस्पति का अनावश्यक विनाश न किया जाए और आवश्यक शाखायें ही तोड़ी जावें किन्तु आज के शहरी जीवन में इस प्रकार की समिधा मिलना भी सुगम नहीं है इसलिए कुल्हाड़ी से या आरे से फाड़ी-काटी गई समिधायें ली जा सकती हैं।

समिधायें सूखी हों, घुनी, बांकी-टेढ़ी, विषैले वृक्षों की न हों। वे इतनी पतली न हों कि जल्दी ही जल जाएँ और हवन किया गया पदार्थ पके ही नहीं। इन समिधाओं का आकार वेदी से बाहर निकलने वाला न रहे। इस तरह लगाया जाए कि हवा के प्रवेश करने का स्थान बना रहे। आवश्यकता पड़ने पर समिधायें और भी रखी जा सकती है।

हवन करते समय यह सावधानीपूर्वक देखते रहना चाहिए कि अग्नि को अजीर्ण न हो, अग्नि का तेज और उसकी ज्वाला मन्द न हो। इसलिए कहा गया है कि “**समिद्धतमे अग्नौ**” अर्थात् अग्नि जब बहुत जोर से जलने लगे तभी हवन प्रारम्भ किया जाए।

शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार यदि हवन की अग्नि मन्द पड़ गई है या धुआं दे रही है तो उसे पंखे, कागज या किसी बर्तन से हवा न दी जाए, मुँह से ही फूँका जाए। एक

अन्य वचन के अनुसार मुँह से फूंक मारने का निषेध किया गया है किन्तु 'यज्जाग्रतो दूरमुदैति'—वाली ऋचा बोलते हुए अग्नि को फूँका जाए तो वह जल्दी जल उठती है—ऐसा देखने में आया है।

कुण्ड और वेदी

हवन करने के लिए कुण्ड बनाये जाते हैं। जो कुण्ड नहीं बना सकते वे स्थण्डिल या वेदी बनाते हैं। वेदी बनाने में सरल है किन्तु कुण्ड सुविधाजनक अधिक है। कारण कि एक तो उसमें दी गई आहुति छिटक कर बाहर नहीं आती दूसरे, उसमें बनाई गई योनि से सामग्री का दुरुपयोग नहीं होता।

अंगुल—कुण्ड और वेदी में अंगुल का नाप चलता है। अंगुल के नाप के लिए चार-पांच तरह की मान्यतायें प्रचलित हैं। एक मान्यता के अनुसार यज्ञ करने वाले की मध्यमा अंगुलि के बिचले पोर को अंगुलि का माप मानते हैं, दूसरी मान्यता के अनुसार मध्यमा अंगुलि के प्रथम और मध्यम पोर की लम्बाई को अंगुल माना जाता है यह **मात्रांगुल** कहलाता है। दूसरा होता है **मुष्ट्यंगुल**। मुष्ट्यंगुल का अर्थ होता है, बिना अंगूठे के मुट्ठी बांधकर अंगुलियों के पीछे की तरफ के पोर से नापा जाए उसका चौथा हिस्सा मुष्ट्यंगुल होगा। तीसरा होता है **देहांगुल** इसमें यज्ञ करने वाले व्यक्ति की सम्पूर्ण लम्बाई के दसवें भाग का बारहवां हिस्सा देहांगुल होता है। चौथा प्रकार **महामानांगुल** होता है जिसे देवास्थापन जैसे कार्यक्रमों में ही ग्रहण किया जाता है। फिर भी यहाँ प्रसंगवश एवं ज्ञान वृद्धि के लिए लिखा जा रहा है। इसमें स्थापित की जा रही मूर्ति की पूरी लम्बाई के दस भाग किए जाकर एक भाग का बारहवां हिस्सा महामानांगुल कहा जाता है। यह माप स्टैण्डर्ड नहीं है क्योंकि मूर्ति के आकार के अनुसार यह नाप घट-बढ़ जाता है।

हवन करने के लिए वेदी या स्थण्डिल एवं कुण्ड बनाने के विषय में शास्त्रों ने कुण्ड पर अधिक विचार किया है। संभव है वेदी प्रायः चौकोर ही बनाई जाती है इसलिए उसके विश्लेषण या रचना विधि में अधिक गुंजाइश नहीं है और कुण्ड अनेक विध बनाये जाते हैं इसलिए उनकी मीमांसा अधिक स्पष्ट और विस्तृत होनी चाहिए।

कुण्ड आठ प्रकार के होते हैं—चौकोर, योनि के आकार का, अर्धचन्द्रवत्, तिकोना, गोल, षट्कोणिक, कमल के आकार का और अठकोना।

इनका आकार जैसा इनका नाम है उसी तरह का होता है। प्रयोजनानुसार वर्गीकरण करते हुए शास्त्र कहते हैं—चौकोर कुण्ड—सर्व सिद्धिप्रद, योनि के आकार का—पुत्रप्रद,

अर्धचन्द्र के आकार का—शुभ, तिकोना—शत्रुनाशक, गोल—शान्तिकर, षट्कोण—छेदन मारण, कमलाकार—वृष्टिकर और अठकोना—आरोग्यप्रद होता है।

वर्णानुसार—कुण्डों की व्यवस्था है—ब्राह्मण—चौकोर, क्षत्रिय—गोल, वैश्य—अर्धचन्द्राकार और शूद्र—तिकोना यज्ञ कुण्ड बनावें।

माप—कुण्ड का निर्माण आहुतियों के अनुसार किया जाता है। पचास आहुतियाँ ही देनी हों तो मुष्टिमात्र, सौ आहुतियों के लिए बालिशतभर, एक हजार आहुतियों के लिए हाथ भर, दस हजार के लिए दो हाथ भर और एक लाख आहुतियों के लिए चार हाथ लम्बा चौड़ा कुण्ड बनाया जाता है।

मेखला—कुण्ड के चारों तरफ सीढ़ीनुमा वेदियाँ बनाई जाती हैं। उनको मेखला कहते हैं। सामान्यतया तीन मेखलाओं वाला कुण्ड बनाया जाता है। पहली मेखला मुख्य कुण्ड से बारह अंगुल चौड़ी और कुण्ड के चारों तरफ बनाई जाती है जिसकी ऊँचाई चार अंगुल होती है। दूसरी उसके ऊपर बनाई जाती है जो चार अंगुल ऊँची और आठ अंगुल चौड़ी होती है तीसरी चार अंगुल ऊँची और चार अंगुल चौड़ी होती है। ये तीनों मेखलायें कुण्ड के चारों तरफ होती हैं। ऊपर ही ऊपर की मेखला वेदी के सपाट भाग से—ऊपर से—जुड़ जाती है। इसके ऊपरी भाग में एक अंगुल छोड़ कर आवश्यकता के अनुसार कुण्ड बनाया जाए।

आशय यह कि वेदी का उपरिभाग भूपृष्ठ (धरती के तल) से बारह अंगुल ऊँचा रहना चाहिए। यज्ञ कुण्ड के बाहर चार अंगुल चारों तरफ की चौड़ाई रहे। यज्ञ कुण्ड की गहराई आवश्यकतानुसार की जा सकती है किन्तु वह भी एक हाथ ही रहे तो सर्वतोभद्र बन जाती है।

जहाँ एक ही मेखला रखी जाती है वहाँ छः अंगुल चौड़ी और चार या छः अंगुल ऊँची रखी जाए।

सुचि सुवा—हवन करने के लिए सुचि और सुवा होते हैं। सुचि पीपल के पत्ते के आकार की ओर सुवा गोल चम्मच जैसे होते हैं। ये लकड़ी के बने होते हैं। धार बांध कर घी होमने में सुचि और सामान्य आहुति सुवा से देते हैं।

हवन करने के लिए सुचि सुवा के स्थान पर चम्मच भी ले लेते हैं किन्तु ये चम्मच लोहे, सीसे या कांसी के नहीं हों।

अच्छा तो यह रहे कि सृचि सृवा न मिले तो पलाश के पत्ते को चम्मच जैसा बना कर उससे हवन कर लिया जाए। पलाश के पत्ते के अभाव में पीपल का पत्ता भी लिया जा सकता है।

अधमर्षण अथवा पापनाशन के लिए नीचे लिखी ऋचायें उत्तम हैं। इनसे हवन करते समय थोड़ा अंश जो स्वाभाविक रूप से बच जाता है वह कलश में डालना होता है। इस कलश के जल से हवन के अन्त में यजमान का अभिषेक कराया जाता है। यह हवन घी से किया जाता है।

- अग्निर्मन्वेति प्रथमस्य प्रचेतसोयं पांचजन्यं बहवः समिन्धते विश्वस्यां विशि प्रवीविशि वास्समीमहे स नो मुंचत्वंहसः। अग्नये स्वाहा (शेषांश को कलश में डालते समय) इदमग्नये न मम। 1।
- यस्येदं प्राण निमिषद्यदेजति यस्य जातं जनमानं च केवलं स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुंचत्वंहसः। अग्नये स्वाहा इदमग्नये न मम। 2।
- इन्द्रस्य मन्ये प्रथमस्य प्रचेतसो वृत्रघ्नः स्तोमामुपागुः योदाशुषः सुकृतो हवमुपगन्ता स नो मुंचत्वंहसः। अग्ने स्वाहा। इन्द्रमग्ने न मम। 3।
- यःसंग्रामं नयति संवशी युधे यः पृष्टानि संसृजति त्रयाणि स्तौभीन्द्रं नाथितो जोहवीमि स नो मुंचत्वंहसः। इन्द्राय स्वाहा। इदमिन्द्राय न मम। 4।
- मन्वेवां मित्रावरुणा तस्य वित्तं सत्यौजसा दृहणा यन्नुदेते। त्या राजानं सरथे पाथं उग्रतौ नो मुंचतमागसः। मित्रावरुणाभ्यां स्वाहा। इदं मित्रावरुणाभ्यां न मम। 5।
- यो वां रथः सजरश्मिः सत्यधर्मा मिथश्चरत्वां समुपयाति दूषयन् स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितौ जोहवीमि तौ नो मुंचतमागसः। मित्रावरुणाभ्यां स्वाहा। इदम् मित्रावरुणाभ्यां न मम्। 6।
- वायोस्सवितुर्वितथानि मन्महे यावात्मन् वद्विभृतौ यौ च रक्षतः यौ विश्वस्य परिभू बभूवतु स्तौ नो मुंचतमागसः। वायु सूर्याभ्यां स्वाहा। इदम् वायु सूर्याभ्यां न मम्। 7।
- उपश्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धर्मे अस्थिरन् स्तौमि वायुं सवितारं नाथितो जोहवीमि तौ नो मुंचतमागसः। वायु सूर्याभ्यां स्वाहा। इदम् वायु सूर्याभ्यां न मम्। 8।

- रथीतमौ रथीनामह ऊतये शुभं गमिष्ठौ सुयमेभिरश्वैः ययोर्वान्देवौ देवेष्वनिशितमोजस्तौ नो मुंचत मागसः । अश्विभ्यां स्वाहा । इदम् अश्विभ्यां न मम् । 9 ।
- यदयातं वहंतु सूर्यायास्त्रिचक्रे ण संसदमिच्छमानौ स्तौमि विश्वान्देवान्नाथितो जोहवीमि तौ नो मुंचतमागसः । अश्विभ्यां स्वाहा । इदमश्विभ्यां न मम् । 10 ।
- मरुतां मन्वे अधिनो ब्रुवन्तु प्रेमां वाचं विश्वामवन्तु विश्वे आसूहवे सुयमानूतये ते नो मुंचन्त्वेनसः । मरुद्भ्यः स्वाहा । इदम् मरुद्भ्यः न मम् । 11 ।
- तिग्भायुध व्रीडित सहस्वद्विव्यः सर्वः पृतनासु विष्णुः स्तौमि देवान्मरुतौ नाथितो जोहवीमि ते नो मुंचन्त्वेनसः । मरुद्भ्यः स्वाहा । इदम् मरुद्भ्यः न मम् । 12 ।
- देवानां मन्वे अधि नो ब्रुवन्तु प्रेमां वाचं विश्वामवन्तु विश्वे आसूहवे सुरामनूतये ते नो मुंचन्त्वेनसः । विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा । इदम् विश्वेभ्यः देवेभ्यः न मम् । 13 ।
- यदिदं माभिश्नोचति पौरुषेयेण दैव्येन स्तौमि विश्वान्देवान्नाथितो जोहवीमि ते नो मुंचन्त्वेनसः । विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा । इदम् विश्वेभ्यः देवेभ्यः न मम् । 14 ।
- अनुनोदयानुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मयः । अनुमत्यै हव्यवाहाग्नये स्वाहा । इदमनुमत्यै हव्यवाहाग्नये न मम् । 15 ।
- अन्विदनुमते त्वमनन्यासैशं च नः कृधि क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्राणाय प्रण आयूषि वारिषः । अनुमत्यै स्वाहा । इदमनुमत्यै न मम् । 16 ।
- वैश्वानरो न कृतं ये प्रयातु परावतः अग्निर्न सुष्ठुतेती रूषः । वैश्वानराय अग्नये स्वाहा । इदम् वैश्वानराय अग्नये न मम् । 17 ।
- पृष्ठो दिवि पृष्ठो अग्निः पृथिव्याः पृष्ठो विश्वा औषधीराविवेश वैश्वानरः सहसा पृष्ठो अग्निः स नो दिवा सरिषः पातु नक्तम् । वैश्वानराय अग्नये स्वाहा । इदम् वैश्वानराय अग्नये न मम् । 18 ।

- ये अप्रथेता अमितेभिरोजोभिर्ये प्रतिष्ठे अभवतां वसूनां स्तौमि द्यावापृथिवीं नाथितो जोहवीमि ते नो मुंचतमंहसः द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा । इदम् द्यावा पृथिवीभ्यां न मम् । 19 ।
- ऊर्वा रोदसि वरिवः कृणोत्तं क्षेत्रस्य पत्नी अधि नो ब्रूयात्तं स्तौमि द्यावापृथिवीं नाथितो जोहवीमि ते नो मुंचतमंहसः । द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा । इदम् द्यावापृथिवीभ्यां न मम् । 20 ।
- यत्ते वयं पुरुषत्रा यविष्ठा विद्वांसश्चकृमा कंचनागः कृधा स्वस्मानदितेरना गव्यांसि शिश्रथो विष्वगग्रे । अग्नये स्वाहा इदमग्नये न मम् । 21 ।
- यथाहताद्वसवो गौर्यचित्पदिषिता ममुंचता यजत्राः एवोष्वस्मन्मुंचतमंहः प्रातर्यगे प्रतरं न आयुः । अग्नये स्वाहा । इदमग्नये न मम् । 22 ।
- यावामिन्द्रावरुणा यतव्या तनूस्तये ममांहसो मुंचतम् । इन्द्रावरुणाभ्यां स्वाहा । इदमिन्द्रावरुणाभ्यां न मम् । 23 ।
- यावामिन्द्रावरुणा सहस्या तनूस्तये ममांहसो मुंचतम् । इन्द्रावरुणाभ्यां स्वाहा । इदमिन्द्रावरुणाभ्यां न मम् । 24 ।
- यावामिन्द्रावरुणा रक्षस्या तनूस्तये ममांहसो मुंचतम् । इन्द्रावरुणाभ्यां स्वाहा । इदमिन्द्रावरुणाभ्यां न मम् । 25 ।
- यावामिन्द्रावरुणा तेजस्या तनूस्तये ममांहसो मुंचतम् । इन्द्रावरुणाभ्यां स्वाहा । इदमिन्द्रावरुणाभ्यां न मम् । 26 ।
- यो वामिन्द्रावरुणावग्नौ स्वामस्तं वामे तेनावयजे । इन्द्रावरुणाभ्यां स्वाहा । इदमिन्द्रावरुणाभ्यां न मम् । 27 ।
- यो वामिन्द्रावरुणौ द्विपात्सु पशुषु स्नाम स्तं वामे तेनावयजे । इन्द्रावरुणाभ्यां स्वाहा । इदमिन्द्रावरुणाभ्यां न मम् । 28 ।
- यो वामिन्द्रावरुणौषधीषु स्नामस्तं वामे तेनावयजे । इन्द्रावरुणाभ्यां स्वाहा । इदमिन्द्रावरुणाभ्यां न मम् । 29 ।
- यो वामिन्द्रावरुणा वनस्पतिषु स्नामस्तं वामे तेनावयजे । इन्द्रावरुणाभ्यां स्वाहा । इदमिन्द्रावरुणाभ्यां न मम् । 30 ।
- पवमानः सोदय विचर्षणिः यः पोता स पुनातु मा । पावमानीभ्यः स्वाहा । इदं पावमानीभ्यः न मम् । 31 ।

- पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा । पावमानीभ्यः स्वाहा । इदम् पावमानीभ्यः न मम् । 32 ।
- जातवेदः पवित्रवत्पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देवदीव्यदग्ने क्रत्वा क्रतूरनु । अग्नये जातवेदसे स्वाहा । इदमग्नये जातवेदसे न मम् । 33 ।
- यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा ब्रह्म तेन पुनीहि नः । अग्नये जातवेदसे स्वाहा । इदमग्नये जातवेदसे न मम् । 34 ।
- उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेनच मां पुनीहि विश्वतःसवित्रे स्वाहा । इदं सवित्रे न मम् । 35 ।
- वैश्वदेवी पुनन्ती देव्यागादयस्यामि मां बह्वयस्तन्वो वीतपृष्ठाः तया मदन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम् । वैश्वदेव्यै स्वाहा । इदम् वैश्वदेव्यै न मम् । 36 ।
- वैश्वानरो रश्मिभिर्मा पुनातु वातः प्राणेनेषिरो मयोभूः द्यावापृथिवी पयसा पयोभिः शतावरी यज्ञिये मा पुनीतम् । द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा । इदम् द्यावापृथिवीभ्यां न मम् । 37 ।
- बृहदग्निः सवितुस्त्रिभिर्वर्षिष्ठैर्देव मन्मभिः अग्ने दक्षैः पुनीहि मा । सवित्रे अग्नये स्वाहा । इदम् सवित्रे अग्नये न मम् । 38 ।
- येन देवा अपुनन्त येनापो दिव्यंकशः तेन दिव्यं ब्रह्मणा इदं ब्रह्म पुनीहि मा । दिव्याय ब्रह्मणे स्वाहा । इदं दिव्याय ब्रह्मणे न मम् । 39 ।
- यः पावमानीरध्येतृषिभिः संभृतं रसम् सर्वं सपूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना । पावमानीभ्यः स्वाहा । इदम् पावमानीभ्यः न मम् । 40 ।
- पावमानीर्ये अध्येतृषिभिः संभृतम् रसम् तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् । पावमानीभ्यः स्वाहा । इदम् पावमानीभ्यः न मम् । 41 ।
- पावमानीः स्वत्स्ययनीः सुदुधा हि पयस्वतीः ऋषिभिः संभृतो रसो ब्राह्मणेष्वमृतं हितम् । पावमानीभ्यः स्वाहा । इदम् पावमानीभ्यः न मम् । 42 ।
- पावमानीर्दिशन्तु न इमं लोकमथो अमुम् कामान्समर्धयन्तु नो देवैर्देवीः समीहिता । पावमानीभ्यः स्वाहा । इदम् पावमानीभ्यः न मम् । 43 । 44 ।

- पावमानीः स्वस्त्ययनीः सुदुघा हि घृतश्व्युतः ऋषिभिः संभृतो रसो ब्रह्मणेष्वमृतं हितम् । पावमानीभ्य स्वाहा । इदम् पावमानीभ्यः न मम् । 45 ।
- येन देवाः पवित्रेण आत्मानं पुनते सदा तेन सहस्रधारेण पावमान्यः पुनन्तुमाम् । पावमानीभ्य स्वाहा । इदम् पावमानीभ्यः न मम् । 46 ।
- प्राजापत्यं शतोद्यामं हिरण्यमयम् तेन ब्रह्मविदो वयम् पूतं ब्रह्म पुनीमहे । प्राजापत्याय ब्रह्मणे स्वाहा । इदं प्राजापत्याय ब्रह्मणे न मम् । 47 ।
- इन्द्रः सुनीत्या सह मा पुनातु सोमः स्वस्त्या वरुणः समीच्या यमो राजा प्रमृणाभिः पुनातु मा जातवेद मोर्जयन्त्या पुनातु । सुनीत्या सहितेन्द्राय स्वाहा । इदम् सुनीत्या सहितेन्द्राय न मम् । 48 ।
- यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम् आदित्यास्तरमान्मा मुंचतर्तस्यर्तेन मामुतः । आदित्याय स्वाहा । इदम् आदित्याय न मम् । 49 ।
- देवा जीवनकाम्या यद्वाचानृतमूदिम अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुंचतु दुरिता यानि चकृम करोतु मामनेहसम् । अग्नये गार्हपत्याय स्वाहा । इदमग्नये गार्हपत्याय न मम् । 50 ।
- ऋतेन द्यावापृथिवी ऋतेन त्वं सरस्वती कृतात्रः पाह्येनसो यत्किंचानृतमूदिम । द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा । इदं द्यावापृथिवीभ्यां न मम् । 51 ।
- सजात शं सादुतजामिशं साज्याय सः शं सा दुत वा कनीयसः अनाज्ञातं देवकृतं यदेनस्तस्मात्वमस्माज्जातवेदो मुमुग्धि । अग्नये जातवेदसे स्वाहा । इदमग्नये जातवेदसे न मम् । 52 ।
- यद्वाचा यन्मनसा यद् बाहुभ्यामुरुभ्यामष्ठीवद्भ्यां शिश्नैर्यदनृतं चकृम वयम् अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुंचतु दुरिता यानि चकृम करोतु मामनेनसम् । अग्नये गार्हपत्याय स्वाहा । इदमग्नये गार्हपत्याय न मम् । 53 ।
- यद् हस्ताभ्यां चकर किल्बिषाण्यक्षाणां वसुमुपजिघ्रमानः दूरेपश्या च राष्ट्रभृच्च तान्यभरसावनुदात्ता मृणानि । राष्ट्रभृद्भ्यः स्वाहा । इदं राष्ट्रभृद्भ्यः न मम् । 54 ।

- अदीव्यन्तृणां यदहं चकार यद् वा दास्यं संजगाराजनेभ्यः अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुंचतु दुरिता यानि चकृम करोतु मामनेनसम्। अग्नये गार्हपत्याय स्वाहा। इदमग्नये गार्हपत्याय न मम्। 55।
- यन्माय माता गर्भे सत्येनश्चकार यत्पिता अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुंचतु दुरिता यानि चकृम करोतु मामनेनसम्। अग्नये गार्हपत्याय स्वाहा। इदमग्नये गार्हपत्याय न मम्। 56।
- यदा पिपेष मातरं पितरं पुत्रः प्रमुदितो धयन् अहिंसितौ पितरौ मया ततग्ने अनृणो भवाति। अग्नये स्वाहा। इदमग्नये न मम्। 57।
- यदन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरम् पितरं वा जिहिंसिम् अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुंचतु दुरिता यानि चकृम करोतु मामनेनसम्। अग्नये गार्हपत्याय स्वाहा। इदमग्नये गार्हपत्याय न मम्। 58।
- यदाशसा निशसा यत्पराशसा यदेनश्चकृमा नूतनं यत् पुराणम् अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुंचतु दुरिता यानि चकृम करोतु मामनेनसम्। अग्नये गार्हपत्याय स्वाहा। इदम् अग्नये गार्हपत्याय न मम्। 59।
- अतिक्रमामि दुरियं यदेनो जहामि रिप्रं परमे सधस्थे यत्र यान्ति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तमारोहामि सुकृतान् लोके त्रिते। अग्नये गार्हपत्याय स्वाहा। इदमग्नये गार्हपत्याय न मम्। 60।
- देवा अमृजतैस्तदेनस्त्रित एतन्मनुष्येषु मामृजे ततो मा यदि किंचिदानशोग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुंचतु दुरिता यानि चकृम करोतु मामनेनसम्। अग्नये गार्हपत्याय स्वाहा। इदमग्नये गार्हपत्याय न मम्। 61।
- दिवि जाता अप्सु जाता या जाता औषधीभ्यः अथो या अग्निजा आपस्ता नः शुन्धन्तु शुंधनीः। अद्भ्यः स्वाहा। इदम् अद्भ्यः न मम्। 62।
- यदापो नक्तं दुरितं चराम यद् वा दिवा नूतनं यत्पुराणम् हिरण्यवर्णास्तत उत्पुनीत नः। अद्भ्यः स्वाहा। इदमद्भ्यः न मम्। 63।
- इमम्मे वरुण श्रुधी हवमद्या चमूलय त्वामवस्थुरा चक्रे। वरुणाय स्वाहा। इदम् वरुणाय न मम्। 64।

- तत्त्वायामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः अहेडमानो वरुणोहबोध्युरुशंसमा न आयुः प्रमोषीः । वरुणाय स्वाहा । इदं वरुणाय न मम् । 65 ।
- त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडो अवयासिसीष्ठाः यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् । अग्निवरुणाभ्यां स्वाहा । इदमग्निवरुणाभ्यां न मम् । 66 ।
- सत्वन्नो अग्नेवमो भवोतीर्नेदिष्ठो अस्या उपसो व्युष्टौ अवयक्ष्व नो वरुणं रराणो व्रीहि मृडीकं सुहवो न एधि । अग्नि वरुणाभ्यां स्वाहा । इदमग्निवरुणाभ्यां न मम् । 67 ।
- त्वमग्ने अयास्ययासन्मनसा हितः अयासन्हव्यमूहिषे या नो धेहि भेषजम् । अग्नये स्वाहा । इदमग्नये न मम् । 68 ।
- वैश्वानरो न ऊतये वयातु परावतः अग्निर्नः सुष्ठुती रूप । वैश्वानराय अग्नये स्वाहा । इदम् वैश्वानराय अग्नये न मम् । 69 ।
- ऋतावानं वैश्वानर मृतस्य ज्योतिषस्पतिम् अजस्रं धर्ममीमहे वैश्वानराय अग्नये स्वाहा । इदम् वैश्वानराय अग्नये न मम् । 70 ।
- वैश्वानरस्य दंसनाभ्यो बृहदरिणादेकः स्वपश्यया कविः उभा पितरा महयन्नजायताग्निर्द्यावा पृथिवी भूरिरेतसा । वैश्वानराय अग्नये स्वाहा । इदम् वैश्वानराय अग्नये न मम् । 71 ।
- पृष्ठो दिवि पृष्ठो अग्निः पृथिव्यां पृष्ठो विश्वा औषधीराविवेश वैश्वानरः सहसा पृष्ठो अग्निः समो नो दिवा सरिपः पातु नक्तम् वैश्वानराय अग्नये स्वाहा । इदम् वैश्वानराय अग्नये न मम् । 72 ।
- जातो यदग्ने भुवना व्यख्यः पशुं न गोपा ईर्यः परिज्या वैश्वानर ब्रह्मणे विन्दगातुं यूयं यात स्वस्तिभिः सदा नः । वैश्वानराय अग्नये स्वाहा । इदम् वैश्वानराय अग्नये न मम् । 73 ।
- त्वमग्ने शोचिषा शोशुचान आरोदसी अपृणा जायमानः त्वं देवानभिशास्तेरमुचो वैश्वानर जातवेदो महित्वा । वैश्वानराय अग्नये स्वाहा । इदम् वैश्वानराय अग्नये न मम् । 74 ।

- अस्माकमग्ने मधवत्सुधारयानामिक्षत्रमजरं सुवीर्यम् वयं जयेम शतिनं सहस्रिणं वैश्वानर वाजमग्नो तवोतिभिः। वैश्वानराय अग्नये स्वाहा। इदम् वैश्वानराय अग्नये न मम्। 75।
- वैश्वानरस्य सुमनौस्यामराजाहिकं भुवनानामभिः श्रीः इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्याय। वैश्वानराय अग्नये स्वाहा। इदम् वैश्वानराय अग्नये न मम्। 76।
- यद्देवा देव हेडनं देवासश्चकृमा वयम् आदित्यास्तस्मान्मा मंचतर्तस्यर्तेन मा मुतः। देवेभ्यः आदित्येभ्यः स्वाहा। इदम् देवेभ्यः आदित्येभ्यः न मम्। 77।
- देवाः जीवनकाम्या यद्वाचानृतमूदिम तस्मान्न इह मुंचत विश्वे देवाः सजोषसः। विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा। इदम् विश्वेभ्यो देवेभ्यः न मम्। 78।
- ऋतेन द्यावापृथिवी ऋतेन त्वं सरस्वती कृतान्नः पाह्येनसो यत्किंचानृतमूदिम। द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा। इदम् द्यावापृथिवीभ्यां न मम्। 79।
- इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ सोमो धाता बृहस्पतिः ते नोमुंचन्त्वेनसो यत्किंचानृतमूदिम। इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा। इदमिन्द्राग्नीभ्यां न मम्। 80।

□ □ □

गणपति उपासना

गणपति का अथर्वशीर्ष राजवती विद्या है। तात्त्विक रूप में यह गणपति के रूप में अधिष्ठित शक्ति के व्यापारक्षेत्र और क्रियाविधि का निदर्शन है। यही विस्तार प्रस्तुत अथर्वशीर्ष में प्राक्कथन के पश्चात् वर्णित है और सुविधा के लिए इसे (क) से संकेतित कर दिया गया है।

(ख) के आगे उल्लिखित अंश गणपति के मूलमंत्र की निरूक्ति है जिसे कौष्ठक में उद्धारित रूप में लिख दिया गया है।

(ग) में मूलमंत्र के साथ गणपति गायत्री लिखी गई है।

(घ) में गणपति का ध्यान है।

(ङ) में गणपति का वेदमंत्र है और

(च) में फलश्रुति।

सामान्यतया उपासना में पहले ध्यान किया जाता है फिर गणपति के यंत्र अथवा विग्रह की अर्चा, फिर मूलमंत्र का जप और तदन्तर हवन। यह मंत्र की साधना है और विद्या के रूप में इसकी साधना इसी क्रम से पाठ करके की जाती है। मंत्र होता तो जप किया जाता पर यह विद्या है इसलिए सस्वर पठन की जाती है।

भगवान् गणपति की कृपा हो जाये और उनके क्रियामय वपु का दर्शन ज्ञानचक्षु से हो जाये तो व्यक्ति की साधना सफल और जीवन कृतार्थ हो सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ज्ञान के अनावृत हुए बिना, ज्ञानचक्षु के खुले बिना देवों का दिव्यत्व हमारे लिए अज्ञात बना रहता है। इस अथर्वशीर्ष के प्रारम्भ में ऋतं सत्यं वच्मि कह कर जिस तथ्य को संकेतित किया गया है वह गणपति की महिमा है और उनके क्रमिक विकास विस्तार का बुद्धिगम्य इतिवृत्त है। गणपति को मूलाधार में अवस्थित बताकर आनन्दमय कहा गया है फिर उन्हें ब्रह्ममय बताया गया है फिर यह कहा गया है कि 'सर्व जगदिदं त्वत्तौ जायते' (यह सारा संसार तुम्हारे से उत्पन्न होता है। यह सब गणपति का रूप निदर्शन

है।) इसकी ज्ञानमय प्रतीति हमें भवमुक्त करती ही है किन्तु हम हमारे जागतिक जीवन में उनकी सत्ता को भी अनुभव कर सकते हैं। आप या मैं या आपके घर में आने वाला कोई भी व्यक्ति शून्य से आता है अर्थात् जीवात्मा देह धारण करने से पहले सूक्ष्म वा कारण देह धरे रहता है वह जब पाञ्च भौतिक कलेवर धारण करता है तो हमारे उपस्थ में से निर्गत होता है यही उसकी आनन्दमयता है, इसी को 'मूलाधार स्थितोऽसि नित्यम्' कहा जाता है। यही जीव जब अर्भक से पुरुष का पूर्णकलेवर धारण करने की क्षमता प्राप्त करता है तो बृंहणधर्मा होने के कारण ब्रह्ममय कहा जाता है। इस समय प्रक्रिया में कुछ भी जुगुप्सित नहीं है यह तो क्रिया का स्थूलाश्रय है अन्यथा विश्व प्रकृति में भी ऐसा ही घट रहा है। यह क्रिया ही गणपति है, यही प्रणव है।

दक्षिण में गणपति का एकाधिकार है। मेरा अपना अनुभव रहा है कि दक्षिणात्यों को गणपति अधिक सुकर रहे हैं वैसे गणपति का ही स्वरूप ऐसा है जो सभी आम्नायों में समान रूप से आदरणीय है और इनकी उपासना इतनी विचित्र एवं व्यापक है कि वामाचार के उपकरणों से भी इनकी पूजा होती है तो ज्ञानमार्गी उज्ज्वल उपाचारों से भी। उनकी मूर्ति विद्रुम से भी बनती है तो विष्टा की भी, शुद्ध पवित्र होकर भी उनको पूजते हैं तो जूटे मुंह से भी—और वे सभी अवस्था में सिद्धिप्रद हैं, प्रसन्न हो जाते हैं।

□□□

गणपति अथर्व शीर्षम्

(क) ओम् नमस्ते गणपतये । त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि । त्वमेव केवलं कर्तासि त्वमेव केवलं धर्तासि । त्वमेव केवलं हर्तासि । त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि । त्वं साक्षादात्मासि नित्यम् । ऋतं वच्मि, सत्यं वच्मि । अव त्वं माम् । अव वक्तारं, अव श्रोतारं । अव दातारं, अव धातारम्, अव अनूचानम् अव शिष्यम्, अव पुरस्तात्, अव पश्चात्तात्, अव उत्तरात्तात्, अव दक्षिणात्तात्, अव चोर्ध्वात्तात्, अवाधरात्तात्, सर्वतो मां पाहि पाहि समन्तात् । त्वं वाङ्मयः त्वम् चिन्मयः, त्वमानन्दमयः, त्वं ब्रह्ममयः, त्वं सच्चिदानन्दद्वितीयोसि । त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वं ज्ञानमयो विज्ञानमयोसि । सर्वं जगदिदं त्वत्तो जायते, सर्वं जगदिदं त्वत्तः तिष्ठति, सर्वं जगदिदं त्वयि लयमेष्यति । सर्वं जगदिदं त्वयि प्रत्येति । त्वं भूमिरापोनलोनिलो नभः । त्वं चत्वारिवाक्पदानि । त्वं गुणत्रयातीतः, त्वं देहत्रयातीतः, त्वं कालत्रयातीतः, त्वं अवस्थात्रयातीतः । त्वं मूलाधारस्थितोसि नित्यम् । त्वं शक्तित्रयात्मकः । त्वां योगिनो ध्यायन्ति नित्यम् । त्वं ब्रह्मा, त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रः त्वमिन्द्रस्त्वमग्निः त्वं वायुस्त्वं सूर्यः त्वं चन्द्रमाः त्वम् ब्रह्मभूर्भुवः स्वः ओम् ।

(ख) (ओं गं गणपतये नमः) गणादीन् पूर्वमुच्चार्य वर्णादींस्तदनन्तरम्, अनुस्वारः परतरः अर्धेन्दु लसितम्, तारेण रुद्धम् एतत्तव मनुस्वरूपम् । गकारः पूर्वरूपम्, अकारो मध्यम रूपम्, अनुस्वारश्चान्तरूपम्, बिन्दुरूतरूपम्, नादः संधानम् संहिता संधिः सैषा गणेश विद्या । गणकऋषिः निचृद्गायत्री छन्दः गणपतिर्देवता ।

(ग) “ओम् गं गणपतये नमः । एकदन्ताय विद्महे, वक्रतुण्डाय धीमहि तन्नो दन्ती प्रचोदयात् ।”

(घ) एकदन्तं चतुर्हस्तं पाशमंकुश धारिणम्,

रदं च वरदं हस्तैर्विभ्राणं मूषकध्वजम् ।

रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं रक्तवाससम्,

रक्तगंधानुलिप्तांगं रक्तपुष्पैः सुपूजितम्।

भक्तानुकम्पिनं देवं जगत्कारणमच्युतम्,

आविर्भूतं च सृष्ट्यादौ प्रकृतेः पुरुषात्परम्।

एवं ध्यायति यो नित्यं स योगी योगिना वरः॥

(ङ) नमो व्रातपतये, नमो गणपतये, नमः प्रमथपतये नमोस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्ननाशिने शिवसुताय श्रीवरदमूर्तये नमः।

(च) एतदथर्वशीर्षं योधीते सः ब्रह्मभूयाय कल्पते। स सर्वविघ्नैर्न बाध्यते। स सर्वतः सुखमेधते। स पंचमहापापात् प्रमुच्यते। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति, प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति, सायं प्रातः प्रयुंजानो अपापो भवति। सर्वत्राधीयानः अपविघ्नो भवति। धर्ममर्थं कामम् मोक्षं च विन्दति। इदमथर्वशीर्षं अशिष्याय न देयम्। यो यदि मोहात् दास्यति स पापीयान् भवति। सहस्रावर्तानात् यं यं कामम् अधीते तं तमनेन साधयेत्। अनेन गणपतिमभिर्षिचति व वाग्मी भवति। चतुर्थ्यामनश्नन् जपति स विद्यावान् भवति। इत्यथर्वण वाक्यम्। ब्रह्माद्यावरणं विद्यात् न विभेति कदाचन। यो दूर्वाकुरैर्यजति सः वैश्रवणोपमो भवति। यो लाजैर्यजति स यशोवान् भवति, स मेधावान् भवति। यो मोदकसहस्रेण यजति स वाञ्छित फलमवाप्नोति यः साज्य समिदिभिर्यजति सः सर्वं लभते, सः सर्वं लभते अष्टौ ब्राह्मणान् सम्यक् ग्राहयित्वा सूर्यवर्चस्वी भवति। सूर्यग्रहे महानद्यां प्रतिमासन्निधौ वा जप्त्वा सिद्धमंत्रो भवति। महाविघ्नात्प्रमुच्यते, महादोषात्, मुच्यते, महाप्रत्यवायात्प्रमुच्यते। स सर्वविद् भवति, स सर्वविद् भवति। य एवं वेद इत्युपनिषत्। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

□□□

देव्युपनिषद्

सर्वे वै देवाः देवीमुपतस्थुः । कासि त्वं महादेवी । साब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी ।
मत्तः प्रकृति पुरुषात्मकं जगत् । शून्यं चाशून्यं च अहमानन्दानन्दौ अहं विज्ञानाविज्ञाने
अहं ब्रह्माब्रह्मणी द्वे ब्राह्मणी वेदितव्ये । इति वाथर्वणी श्रुतिः । अहं पंचभूतानि अहं
पंचतन्मात्राणि अहमखिलं जगत् वेदोहमवेदोहम् विद्याहमविद्याहं । अजाहमनजाहम् ।
अधश्चोर्ध्वं च तीर्यक् चाहम् । अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि अहमादित्यैरुतदेवैः । अहं
मित्रावरुणौ विभर्मि अहमिन्द्राग्नी अहमश्विना उभा अहं त्वष्टारं पूषणं भगं दधामि
अहं विष्णुमुरुक्रमम् ब्रह्माणमुत् प्रजापतिं दधामि अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये
यजमानाय सुव्रते अहं राज्ञीसंगमनी वसूनाम् चिकीतुषी प्रथमा यज्ञियानाम् अहं सुवे
पितरमस्य मूर्धन्मम योनिः अप्सवन्तः समुद्रे य एवं वेद स दैवीं सम्पदमाप्नोति ते देवाः
अब्रुवन् ।

नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः ।

नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम् ॥

तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम् । दुर्गा देवीं शरणं
प्रपद्यामहेऽसुरान्नाशयित्र्ये ते नमः ।

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति । सा नो मन्द्रेषमूर्जं
दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्ठुतैतु ।

कालरात्रीं ब्रह्मस्तुतां वैष्णवीं स्कन्दमातरम् ।

सरस्वतीमदितिं दक्ष दुहितरं नमामः पावनां शिवाम् महालक्ष्म्यै च विद्महे
सर्वशक्त्यै च धीमहि तन्नो देवी प्रचोदयात् ।

अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्षया दुहिता तव ।

तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥

कामे योनिः कमला वज्रपाणिर्गहाहंसा मातलिश्चाभ्रमिन्द्रः । पुनर्गुहा सकला
मायया चापृथक् क्लेशा विश्वमातादिविद्या ।

एषात्मशक्तिः । एषा विश्वमोहिनी पाशांकुशधनुर्बाणधरा । एषा श्रीमहाविद्या ।
य एवं वेद स शोकं तरति । नमस्ते भगवति मातरस्मान्याहि सर्वतः । सैषा वैष्णवां
वसवः सैव एकादशरुद्राः सैषा द्वादशादित्याः सैषा विश्वेदेवाः सोमपा असोमपाश्च
सैषा यातुधाना असुराः रक्षांसि पिशाचयक्षसिद्धाः सैषा सत्वरजस्तमांसि सैषा
ब्रह्मविष्णुरुदरूपिणी । सैषा प्रजापतिन्दमनन्वः सैषा ग्रहनक्षत्र
ज्योतिष्कलाकाष्ठादिविश्वरूपिणी तामहं प्रणौमि नित्यम् ।

पापापहारिणी देवी भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी ।

अनन्तां विजयां शुद्धां शरण्यां सर्वदा शिवाम् ॥

(मंत्र स्वरूप) वियदाकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम् ।

अर्धेन्दु लसितं देव्या बीजं सर्वार्थसाधकम् ।

एवमेकाक्षरं मंत्रं यतयः शुद्धचेतसः ।

ध्यायन्ति परमानन्दमया ज्ञानाम्बुराशयः ॥

वाङ्मया ब्रह्मभूस्तस्माद् षष्ठवक्त्रसमन्वितम् ।

सूर्यो वामश्रोत्रबिन्दु संयुक्ताष्ट तृतीयकम् ।

नारायणेन संयुक्तो वायुश्चाधार युवतयः ।

विच्चे नवार्णकोस्य महानानन्ददायकः ॥

(ध्यान) हृत्पुण्डरीकमध्यस्थां प्रातः सूर्यसमप्रभाम् ।

पाशांकुशधरां सौम्यां वरदाभयहस्तकाम् ॥

त्रिनेत्रां रक्तवसनां भक्तकामदुर्हं भजे ।

भजामि त्वां महादेवि महाभयविनाशिनि ॥

महादारिद्र्यशमनी महाकारुण्यरूपिणी ।

यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यते अज्ञेया । यस्याः अन्तो नोपलभ्यते
तस्मादुच्यते अनन्ता । यस्याः लक्षं नोपलक्ष्यते तस्मादुच्यते अलक्षा । यस्याः जननं
नोपलक्ष्यते तस्मादुच्यते अजा । एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यते एका । एकैव
विश्वरूपिणी तस्मादुच्यते अनेका । अत एव उच्यते अज्ञेयानन्ता लक्षाजैकानेका ।

मंत्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी ।

ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी ।

यस्याः परतरं नास्तिसैषा दुर्गा प्रकीर्तिता ।

तां दुर्गां दुर्गमां देवीं दुराचारविधातिनीम् ।

नमामि भवभीतोहं संसारार्णवतारिणीम् ॥

(फलश्रुति) इदं अथर्वशीर्षं योधीते स पञ्चाथर्वशीर्षफलमवाप्नोति ।
इदमथर्वशीर्षमज्ञात्वा योर्चान् स्थापयति शतलक्षं प्रजप्तापि नार्चाशुद्धिं च
विन्दति । शतमष्टोत्तरं चास्य पुरश्चर्याविधिः स्मृतः । दशवारं पठेत् यस्तु सद्यः
पापैः प्रमुच्यते । महादुर्गाणि तरति महादेव्याः प्रसादतः । सायमधीयानो दिवसकृतं
पापं नाशयति प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति । सायं प्रातः प्रयुञ्जानो अपापो
भवति । निशीथे तुरीयसंध्यायां जप्त्वा वाक्सिद्धिं भवति । नूतनायां प्रतिमायां
जप्त्वा देवता सान्निध्यं भवति । भौमाश्विन्यां महादेवी सन्निधौ जप्त्वा महामृत्युं
तरति, स महामृत्यं तरति ।

□ □ □

नारायणाथर्वशीर्ष

अथ पुरुषो हवै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति । नारायणात्प्राणो जायते । मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी । नारायणाद् ब्रह्मा जायते । नारायणाद् विष्णुर्जायते । नारायणाद् रुद्रो जायते । नारायणादिन्द्रो जायते । नारायणात्प्रजापतिः प्रजायते । नारायणाद् द्वादशादित्याः रुद्राः वसवः सर्वाणि छन्दांसि । नारायणाद् देवाः समुत्पद्यन्ते । नारायणात्प्रवर्तन्ते । नारायणे प्रलीयन्ते । अथादित्यो नारायणः ब्रह्मा नारायणः । शिवश्च नारायणः । शक्रश्च नारायणः । कालश्च नारायणः । दिशश्च नारायणः । ऊर्ध्वं च नारायणः । अधश्च नारायणः । अन्तर्बहिश्च नारायणः । नारायण एवेदं सर्वं यद् भूतम् यच्च भाव्यम् । निष्कलो निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित् । य एवं वेद स विष्णुरेव भवति स विष्णुरेव भवति ।

(मंत्र स्वरूप) ओम् इत्यग्रे व्याहरेत् । नम इति पश्चात् । नारायणायेत्युपरिष्ठात् । ओम् इत्येकाक्षरं । नम इति द्वे अक्षरे । नारायणायेति पञ्चाक्षराणि । एतद् वै नारायणस्य अष्टाक्षरं पदम् । यो ह वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदमध्येति अनुपव्रतः सर्वमायुरेति । विन्दते प्रजां पत्यं रायस्पोषं गौपत्यम् । ततोऽमृतत्वमश्नुते ततोऽमृतत्वमश्नुते इति ।

प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषम् । प्रणवस्वरूपम् अकार उकारो मकार इति तानेकधा संयोज्य तदेव तदोमित्य मुक्तवा मुच्यते योगी जन्म संसार बन्धनात् ।

ओम् नमो नारायणायेति मंत्रोपासकः वैकुण्ठभुवनं गच्छति । तदिदं परमं पुण्डरीकं विज्ञानघनम् । तस्मत्तडिदाभमात्रं ।

ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः ।

(फलश्रुति) सर्वभूतस्थमेकं वै नारायणम् । कारणरूपं परब्रह्मकम् । एतदथर्वशीर्षं योधीते । सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति । प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति । सायं प्रातःप्रयुजानः अपापः भवति । मध्यन्दिनमादित्याभिमुख अधीयानो सद्यः पञ्च महापातकोपपातकेभ्यः प्रमुच्यते । सः सर्ववेदपारायणपुण्यं लभते । नारायणसायुज्यमवाप्नोति ।

लक्ष्मी-उपासना

मां का लक्ष्मी स्वरूप अहन्ताहीन नहीं हो सकता। उसके सारस्वत में जो 'अहम्' विश्वास का आवरण पहनता है वही लक्ष्मी के क्षेत्र में अहंकार हो जाता है। मकरवाहिनी, जल निवासिनी लक्ष्मी मां सरस्वती के निकटवर्तिनी रहती हैं तो उनका अहम् आत्म विश्वास में समाहित हुआ रहता है किन्तु जैसे ही वे उस सहवार से छिटक कर आत्म विस्तार करती हैं तो स्थल विहारणी कहलाती है। गज उनका वाहन बनता है। यह गज एक प्रतीक है, अहंकार ही गजरूप है किन्तु मां उस पर अधिष्ठित है इसलिए वह स्वेच्छाचारी नहीं हो पाता।

गज को अहंकार का प्रतीक माना गया। इस अहंकार की अभिव्यक्ति मद के रूप में होती है। मद उन्माद की पूर्वपीठिका है। शब्दशास्त्रियों ने इस सघन स्वेद को मद इसीलिए कहा कि वह अहंकार की प्रसृति है, अन्यथा मद तो मानसिक अवस्था है, उसका भौतिक रूप क्या हो सकता है? हम इस मद के आधार पर ही अहंकार के सात्त्विक, राजस और तामस प्रभावों को देखते हैं। पशुओं में तीन ही पशुओं के मदस्राव या मदाभिव्यक्ति होती है। एक होता है मृगमद जिसे कस्तूरी कहते हैं। अतिशीत प्रदेश में देवाधिदेव शंकर की लीलास्थली में विचरण करने वाले सौम्य सात्त्विक पशु कस्तूरी मृगमें यह मद उत्पन्न होता है। उसके प्रभाव से कस्तूरी मृग आत्मविस्मृत, गन्धलुब्ध बना विचरण करता रहता है, किसी को क्षति नहीं पहुंचाता, उसका मद क्रोध का आवाहन नहीं करता और कस्तूरी? वह तो प्राणदायिनी औषधि है, शीत के कारण हो रही जड़ता का अमोघ वारण है, खान, पान, लेप, तिलक सभी विधियों में उसका उपयोग होता है।

यही अहंकार जब राजस क्षेत्र में प्रकट होता है तो गजमद कहलाता है। अहंकारभूतगज की उच्छृंखलता का प्रकट लक्षण होता है—यह मद। मद स्राव के दिनों में हाथी किसी को कुछ नहीं समझता, तनिक-सा अवरोध या विघ्न उसे उत्तेजित कर सकता है और उत्तेजना में वह किसी भी मर्यादा या शिष्टाचार को नहीं मानता। अहंकार का सहचर क्रोध उसका निकटवर्ती रहता है, अनाहूत आ जाता है।

अहंकार के तामस स्वरूप का प्रतीक होता है ऊँट! सर्दी के दिनों में ऊँट के मद प्रकट होता है। जिन लोगों ने ऊँट को देखा है वे जानते हैं कि सर्दी में ऊँट कितना विकट हो जाता है। दो गुना भार चार गुना दूरी तक ले जाने में उसे कोई कष्ट नहीं होता अर्थात् उसका पशुबल सम्पूर्ण रूप से प्रकट हुआ रहता है। ऐसे समय में यदि वह किसी कारण से उत्तेजित हो जाता है तो कठोरतम नियंत्रण और गुरुतरदण्ड के बिना मानता नहीं। उसका यह मद उन्मादन के प्रयोगों में ही काम आता है।

आशय यह है कि जिस प्रकार ये तीनों गुण परस्पर अन्तःस्यूत रहते हैं वैसे ही इनके भाव भी रहते हैं। अहंकार रजोगुणी वृत्ति है यही विभिन्न गुण क्षेत्रों में जाकर किस तरह, किन भावों के रूप में प्रकट होता है—यही इस विवेचन का लक्ष्य रहा है।

गज और नक्र का जो उपाख्यान हम पढ़ते हैं वे शक्ति के मूल पदक्षेपों या प्रतीतियों में नहीं हैं। जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं ये दोनों ही शक्ति के वाहन हैं। शक्ति के राजस रूप में गज है और सात्विक में नक्र। नक्र जलचरों में सर्वाधिक तेजस्वी होता है। मां के तामस स्वरूप का वहन करता है उलूक। दिवान्ध ही नहीं होता, उलूक एकाचारी भी होता है। व्यवहार में वह निर्जनता का सूचक माना जाता है।

यों हमारे देह में हमारा मूर्धा सत्वगुण प्रधान होता है। मेरुदण्ड रजोगुण का आधार और मेरुपुच्छ जहाँ सुषुम्णा त्रिपुरा के रूप में बद्ध रहती है तमोगुण का क्षेत्र होता है। भगवान् गणपति का रूप निरूपण करते हुए 'त्वम् मूलाधार स्थितोऽसि नित्यम्' करते हैं। मूलाधार पृथ्वी तत्त्व का क्षेत्र है और पृथ्वी तमोगुण का मूर्त रूप होती है इसलिए मेरुपुच्छ तमोगुण का लीलाक्षेत्र होता है, वही चिरकुमारी सुषुम्णा विराजमान रहती है।

व्यवहार में भी हम देखते हैं कि ज्ञान को स्थूल आहार की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान की उच्च भूमिका में रमने वाले प्रज्ञापुरुषों को स्थूलाहार न आवश्यक होता है न प्रिय। मलक्षय उनके सहज दैहिक क्रिया के रूप में हो जाता है। हमारा मूर्धा भी हमारे देह द्वारा किये गये स्थूल आहार का आसवभूत अंश प्राणवायु का ही भोजन करता है अन्यथा समग्र देह के तर्पण-प्रीणन से ही वह तृप्त-प्रोत रहता है। उसके बल-वर्चस् के लिए न स्थूल देह आवश्यक होता है न पंचप्रस्थ भोजन।

गुणात्मक सृष्टि में जहाँ रजोगुण को मध्यम कहा गया है वहाँ उसका तात्पर्य चाञ्चल्य से है। क्रिया की समग्र त्वरा इसी स्थान पर व्यक्त होती है। एक दृष्टि से यही क्रिया चाञ्चल्य सृष्टि का लक्षण है, आधार है, जैसे हमारे देह में मेरुदण्ड देह को प्रवृत्त

रखने का आधार बना रहता है। आज के ही नहीं विगत युगों में भी व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओं का आधार अर्थ ही होता आया है। यही हमारे जीवन का व्यावहारिक मेरुदण्ड होता है।

मां का यह स्वरूप तीन स्तरों पर तीन नामों से जाना जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं ये स्तर हमारे दार्शनिक चिन्तन में सत्त्व, रज और तम कहे जाते हैं और ये परस्परश्रित रहते हैं। सात्त्विक स्तर पर वह 'श्री' होती है। राजस स्तर पर वह 'लक्ष्मी' और तामस स्तरपर वह 'अलक्ष्मी' होती है। श्री उसका दिव्य स्वरूप है, लक्ष्मी उसका अद्वितीय सुन्दर और विपलुता का आगार है, अलक्ष्मी में वह भयातुर अथवा विभीषण बन जाती है।

सत्त्व अथवा सरस्वती की उपासना करने वालेके लिए राज आकर्षण खो बैठता है जैसे समाधि मग्न व्यक्ति का मेरुदण्ड क्रिया चांचल्य से शून्य हो जाता है। वहाँ श्री के रूप में अधिष्ठित लक्ष्मी में किसी प्रकार का वैरूप्य या द्वैरूप्य नहीं रहता, उस क्षेत्र में उसे लक्ष्मी चिह्नवती—कहने का कोई आधार या कारण भी नहीं होता। श्री स्वरूपा वह लक्ष्मी भोग्य नहीं होती, उसके चिह्न लक्ष्य विभ्रम बन कर बांधते नहीं, उसकी अभिव्यक्ति पदार्थों वा कामनाओं में नहीं होती। वह अपने संस्पर्श से हमारी अनुभूति की सुकुमारता को दोलित करती है, वहाँ भोगों के विराम का आह्लाद रहता है, क्रिया चाञ्चल्य का उसमें लेश भी नहीं रहता।

प्रासंगिक रूप में अलक्ष्मी का भी परिचय प्राप्त कर लें। शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार अलक्ष्मी का अर्थ होता है चिह्न से रहित। डाकुओं या लोभ सैरिभ के पास सञ्चय का जो लक्ष्य (चिह्न) रहता है वही जब अपने अति पर पहुँचता है तो शक्ति का उद्रेक उसे अलक्ष्मी बना देता है। अर्थात् उस संग्रह के ढेर में से ही कालिका का वैभव प्रकट होता है और वह उस लक्ष्य को अस्तित्वहीन कर देती है, उस कलंक को लील जाती है। कालिका को भी अलक्ष्मी कहने में कोई तात्त्विक आपत्ति नहीं है क्योंकि उस कृष्णा के कोई लक्ष्य, कोई चिह्न लग ही नहीं सकता, उसका सघन कृष्णवर्ण अपने आपमें चिह्न से परे है। कोश के अनुसार—

“कलंकांकौ लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्”—

कलंक, अंक, लाञ्छन, चिह्न लक्ष्म और लक्षण से पर्याय है।

लक्ष्मी मां जगद्धात्री हैं। अन्नपूर्णा, ऋतम्भरा, ऋद्धि आदि उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं। कैलाश के शुभ्र शिखर पर छाये अनुर्वर विस्तार में वे उमा को अन्नपूर्णा का स्वरूप

देती हैं अन्यथा यथार्थरूप में उस समाधिस्थ शिव को वस्तुगत आकांक्षा होती ही कहाँ है ? किन्तु उसके परिकरभूत इस जगती को तो सभी कुछ चाहिए इसलिए उमा का वात्सल्य गंगा की तरलता में ऋतुंभर रूप धारण करता बहता रहता है। यही उमा के रमा बन जाने का इतिहास है।

लक्ष्मी का ऋतुंभरात्व और अन्नपूर्णात्व इसी गंगा में स्थूल रूप से प्रकट होते हैं। आज का दर्शन यदि पराम्बा के लक्ष्मी रूप को यथार्थ समझ ले तो पारस्परिक विग्रह-अशांति और लोभ का विनाशक ताण्डव देखने को नहीं मिले। वह यह समझ ले कि संसार में जितने भी वैभव के चिह्न हैं वे सब लक्ष्मी के स्वरूप हैं और फिर उनमें गंगास्नान जितना ही रमना है। ये लक्ष्य, ये सम्पन्नता के प्रतीक हमको गंगास्नानवत् पवित्र-निर्मल कर सकें यही उनकी सब से बड़ी उपयोगिता है। लक्ष्मी को समेटने का मोह हमें खा जाता है, संग्रह का सैरिभ हमें अपना दास बना लेता है। हम इन क्रूर उपादानों के वाहक क्यों बनते हैं ? लोभ, मोह, अहंकार, दम्भ, छल जैसे पामर भाव हमारी उदात्तता को धूलिसात् क्यों करते हैं ? पर यही उस कालिका का बल है। हम सीधे मां के कृपाश्रय में जा सकते हैं उसकी दया दृष्टि हो जाए तो हम गंगाधर हो सकते हैं, गंगा के शरण्य सागर हो सकते हैं, रमा के प्रेम-भाजन विष्णु हो सकते हैं पर उसके लिए मां के तात्त्विक रूप को देखने की योग्यता भी आनी चाहिए, उनके कृपाभाजन बनने की पात्रता भी अर्जित कर लेनी चाहिए।



‘श्री सूक्त’

श्री सूक्त लक्ष्मी साधना के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध एवं प्रचलित वैदिक प्रयोग है। इसमें पन्द्रह ऋचायें हैं। फलश्रुति जैसी बात इस प्रयोग (ऋचा समूह) में नहीं जोड़ी गई है। इन ऋचाओं को मन्त्रों का महत्त्व प्राप्त है। मंत्र में जिस तरह मुनि, छन्द, देवता, बीज, शक्ति और कीलक होते हैं वैसे ही इनमें भी हैं।

मुनि—पहली ऋचा की मुनि लक्ष्मी है, शेष के ईशान, आनन्द, कर्दम और चिक्लीत हैं। ये चारों लक्ष्मी पुत्र हैं।

छन्द—पहली तीन ऋचाओं में अनुष्टुप्, चौथी में बृहती, पांचवीं और छठी ऋचा में त्रिष्टुप्, सातवीं से चौदहवीं तक की ऋचा में अनुष्टुप् और अन्तिम में पंक्ति छन्द है।

देवता—इन सारी ऋचाओं के देवता श्रीविभावसू हैं।

बीज—व्यंजन, शक्ति—स्वर, कीलक—बिन्दु हैं।

इन छः विवरणों का प्रयोग विनियोग और न्यास में होता है। यह विनियोग सारे सूक्त का भी हो सकता है और किसी ऋचा-विशेष का भी हो सकता है। जैसे—अस्य श्रीसूक्तस्य लक्ष्मीशानानन्दकर्दमचिक्लीताः मुनयः अनुष्टुप्बृहतीत्रिष्टुबनुष्टुर्पंक्तयः छन्दांसि श्रीविभावसूदेवते व्यंजनानि बीजानि स्वराः शक्तयः बिन्दुः कीलकम्श्री विभावसू प्रीतये जपे विनियोगः।

इसी के अनुसार न्यास होगा—लक्ष्मीशानानन्दकर्दमचिक्लीत मुनिभ्यो नमः शिरसि, अनुष्टुब् बृहती त्रिष्टुबनुष्टुव् पंक्तिछन्दोभ्यो नमः मुखे, श्री विभावसू देवताभ्यां नमः, हृदये व्यंजनबीजाय नमः गुह्ये, स्वरशक्तयेनमः पादयोः बिन्दु कीलकाय नमः नाभौः।

पूजा विधि :

एक षट्कोण बनाकर उसके चारों ओर अष्टदलकमल बना लिया जाए। यह आकृति भोजपत्र पर अष्टगंध या चन्दन से लिख कर पूजन में रख दी जाए। इसके षट्कोण में लक्ष्मी के अंगभूत रूपों का पूजन किया जाए।

षट्कोण के दाहिने हाथ वाले कोने में स्थित कोण में हृदय, उससे नीचे वाले में शिर, बायें हाथ वाले (तरफ) के नीचे के कोण में शिखा, उससे ऊपर के कोण में कवच, सामने के नीचे वाले कोण में नेत्रत्रय, सामने ऊपर के कोण में अस्त्र माना जाता है।

इसकी पूजा इस प्रकार होगी—हिरण्यायै नमः हृदयाय नमः हृदय श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, चन्द्रायै नमः शिरसे स्वाहा शिरः श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, रजतप्रभायै नमः शिखायै वषट् शिखा श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, हिरण्यस्रजायै नमः कवचाय हुम् कवच श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, हिरण्याक्ष्यै नमः नेत्रत्रयाय वौषट् नेत्रत्रय श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः हिरण्यवर्णिकायै नमः अस्त्राय फट् अस्त्र श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

इस आवरण पूजा के पश्चात् अष्टदल कमल में सामने वाले पत्र से दक्षिणावर्त क्रम से पद्मासनायै नमः पद्मासन श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। श्री पादुकां वाला वाक्य आगे भी जोड़ दिया जाए। दूसरे पत्र में पद्मवर्णायै नमः पद्मवर्णा श्री., तीसरे में पद्मस्थायै नमः पद्मस्था श्री., चौथे में पद्मलोचनायै नमः पद्म लोचना श्री., पांचवें में तर्पयन्त्यै नमः तर्पयन्ती श्री., छठे में तृप्त्यै नमः तृप्ति श्री., सातवें में ज्वलन्त्यै नमः ज्वलन्ती श्री., आठवें में स्वर्ण प्राकारायै नमः स्वर्ण प्रकारा श्री.।

इससे आगे के आवरण में इन्द्रादि दश दिक्पालों और उनके आयुधों का पूजन करना चाहिए। सुविधा के लिए इनके आगे चतुष्कोण बनाया जा सकता है।

मध्य में श्री लक्ष्मी का पूजन किया जाता है। पूजन में पन्द्रह उपचार होते हैं जिनमें आवाहन, आसन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, मुधपर्क, अभिषेक, वस्त्र, अलंकार, चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, प्रसाद उद्घासन माने जाते हैं।

आवाहन

“ओम् हिरण्यवर्णा हरिणीं सुवर्णरजतस्रजां चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह” लक्ष्मीम् आवाहयामि स्थापयामि।

आसनं

“तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम्” लक्ष्म्यै नमः आसनं समर्पयामि।

पादयं

“कांसोस्मि तां हिरण्यप्रकारामार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम् पद्मेस्थितां पद्मवर्णां तामिहो पाह्वये श्रियम्” लक्ष्म्यै नमः पादयोः पाद्यंसमर्पयामि।

अर्घ्यं

“अश्वपूर्वा रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम् श्रियं देवीमुपाह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम्
लक्ष्म्यै नमः हस्तयोः अर्घ्यं समर्पयामि।

आचमन

“चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्तीं श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम् तां पद्मनेमिं
शरणं प्रपद्ये अलक्ष्मीर्मे नश्यतां त्वां वृणोमि” लक्ष्म्यै नमः मुखे आचमनीयकं
समर्पयामि।

मधुपर्क

“आदित्यवर्णो तपसोधिजातो वनस्पतिस्तववृक्षोऽथ बिल्वः तस्य फलानि तपसा
नुदन्तु मायान्तरायाश्च बाह्या अलक्ष्मीः” लक्ष्म्यै नमः मधुपर्कं समर्पयामि।

अभिषेक

“उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह प्रादुर्भूतः सुराष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिम् ऋद्धिं
ददातु मे।” लक्ष्म्यै नमः अभिषिञ्चामि।

वस्त्र

“क्षुत्पिपासामला ज्येष्ठां अलक्ष्मीर्नाशयाम्यहम्। अभूतिमसमृद्धिं च सर्वान्निर्गुदं
मे गृहात्” लक्ष्म्यै नमः वस्त्राणि समर्पयामि।

चन्दन

“गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये
श्रियम्” लक्ष्म्यै नमः चन्दनं विलेपयामि।

अलंकार

“मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां
यशः” लक्ष्म्यै नमः अलंकारं समर्पयामि।

पुष्प

“कर्दमेन प्रजा भूता मयि संभ्रम कर्दम श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम्”
लक्ष्म्यै नमः पुष्पाणि समर्पयामि।

धूप

“आपः सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे निच देवीं मातरं श्रियंवासय मे कुले” लक्ष्म्यै नमः धूपमाघ्रापयामि।

दीप

“आर्द्रा पुष्करिणीं पुष्टिम् सुवर्णां हेममालिनीम् सूर्या हिरण्यमयीं लक्ष्मीं जातवेदो ममावह” लक्ष्म्यै नमः दीपमर्शयामि।

नैवेद्य

“आर्द्रा यः करिणीं यष्टिं पिंगलां पद्ममालिनीम् चन्द्रां हिरण्यमयीं लक्ष्मीं जातवेदो ममावह” लक्ष्म्यै नमः नैवेद्यं निवेदयामि।

उद्गासन

“तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् यस्यां हिरण्यं प्रभूतं गातोश्वान्विन्देयं पुरुषानहम्” लक्ष्म्यै नमः मम हृदये उद्गासयामि।

इसके पश्चात् फल, ताम्बूल समर्पित करके लक्ष्मी मां को अपने हृदय में स्थापित कर लें।

लक्ष्मी का पूजन करके उसकी बत्तीस शक्तियों का जल से तर्पण करें।

तर्पण विधि—ओम् श्रियै नमः श्रीस्तुष्यतु, ओम् लक्ष्म्यै नमः लक्ष्मीस्तुष्यतु, ओम् वरदायै नमः वरदा तुष्यतु, ओम् विष्णुपत्न्यै नमः विष्णुपत्नी तुष्यतु, ओम् वसुधायै नमः वसुधा तुष्यतु, ओम् वसुरूपायै नमः वसुरूपा तुष्यतु, ओम् हिरण्यायै नमः हिरण्यायै तुष्यतु, ओम् मालिन्यै नमः मालिनी तुष्यतु, ओम् रमायै नमः रमा तुष्यतु, ओम् रजत्प्रभायै नमः रजत्प्रभा तुष्यतु, ओम् सुवर्णायै नमः सुवर्णा तुष्यतु, ओम् प्रग्रहायै नमः प्रग्रहा तुष्यतु, ओम् स्वर्णप्राकारायै नमः स्वर्णप्राकारा तुष्यतु, ओम् पद्ममालिन्यै नमः पद्ममालिनी तुष्यतु, ओम् इन्द्रायै नमः इन्द्रा तुष्यतु, ओम् विश्वप्रियायै नमः विश्वप्रिया तुष्यतु, ओम् ईश्वर्यै नमः ईश्वरी तुष्यतु, भुक्त्यै नमः भुक्तिस्तुष्यतु, ओम् प्रभुक्त्यै नमः प्रभुक्तिस्तुष्यतु, ओम् विशुद्धायै नमः विशुद्धा तुष्यतु, ओम् ऋद्धायै नमः ऋद्धा तुष्यतु, ओम् समृद्ध्यै नमः समृद्धिस्तुष्यतु, ओम् तुष्ट्यै नमः तुष्टिस्तुष्यतु, ओम् पुष्ट्यै नमः पुष्टिस्तुष्यतु, ओम् धनायै नमः धना तुष्यतु, ओम् भुवनेश्वर्यै नमः भुवनेशी तुष्यतु, ओम् शुद्धायै नमः शुद्धा तुष्यतु, ओम् भोगिन्यै नमः भोगिनी तुष्यतु, ओम् भोगदायै नमः भोगदा तुष्यतु, ओम् धात्र्यै नमः धात्री तुष्यतु, ओम् विधात्र्यै नमः विधात्री तुष्यतु।

न्यास

करन्यास—हिरण्यां अंगुष्ठाभ्यां नमः, चन्द्रां तर्जनीभ्यां नमः, रजतप्रभां मध्यमाभ्यां नमः, हिरण्यस्रजां अनामिकाभ्यां नमः हिरण्याक्षीं कनिष्ठिकाभ्यां नमः, हिरण्यवर्णिकां करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

हृदयादि न्यास—हिरण्यां हृदयाय नमः, चन्द्रां शिरसे स्वाहा, रजत प्रभां शिखायै वषट्, हिरण्यस्रजां कवचाय हुम्, हिरण्याक्षीं नेत्रत्रयाय वौषट्, हिरण्यवर्णिकां अस्त्राय फट् ।

व्यापक न्यास

“हिरण्यवर्णा हरिणीं सुवर्णरजतस्रजां चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह” मुदिञ्च । शिर पर दाहिने हाथ की अंगुलियों से स्पर्श करें ।

“तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम्” अक्ष्णोः । अंगुलियों से आंखें छुयें ।

“अश्वपूर्वा रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम् श्रियं देवीमुपाह्वये श्री मां देवी जुषताम्” कर्णयोः । कानो को छुये ।

“कांसोस्मि तां हिरण्यप्रकारामार्द्रां ज्वलन्तीम् तृप्तां तर्पयन्तीं पद्मे स्थितां पद्मवर्णां तामिहोपाह्वये श्रियम्” नासयोः । नासिका का स्पर्श करें ।

“चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्तीं श्रियं लोके देव जुष्टामुदाराम् तां पद्मनेमिं शरणं प्रपद्ये अलक्ष्मीं मे नश्यतां त्वां वृणोमि” मुखे । अंगुष्ठ समेत अंगुलियों को मुख के सामने ले जाए ।

“आदित्यवर्णो तपसोधिजातो वनस्पतिस्तव वृक्षो थ बिल्वः तस्य फलानि तपसा नुदन्तु मायान्तरायाश्च बाह्या अलक्ष्मीः” कंठे । गला छुये ।

“उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह प्रादुर्भूतः सुराष्ट्रेस्मिन् कीर्तिम् ऋद्धिं ददातु मे” बाह्योः । दाहिनी अंगुलियों से बाईं भुजा, बाईं अंगुलियों से दाहिनी भुजा छुये ।

“क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठा अलक्ष्मीर्नाशयाम्यहम् अभूतिमसमृद्धिं च सर्वान् निर्णुद मे गृहात्” हस्तयौः । दोनों हाथों को परस्पर छुये ।

“गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपाह्वये श्रियम्” नाभौ । अंगूठे समेत अंगुलियों से नाभि स्पर्श करें ।

“मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः” गुदे । मल द्वार के आगे हाथ ले जाए ।

“कर्दमेन प्रजाः भूताः मयि सम्भ्रम कर्दम श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम्” उपस्थे । मूत्रेन्द्रिय के आगे हाथ को ले जाए ।

“आपः सृजन्तु भूतानि चिक्लीत वस में गृहे नि च देवीं मातरं श्रियं वासय मे कुले” ऊर्वो । जांघों को स्पर्श करे ।

“आर्द्रा पुष्करिणीं पुष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम् सूर्यां हिरण्यमयीं लक्ष्मीं जातवेदो ममावह” जान्वोः । दोनों घुटने छुये ।

“आर्द्रा यः करिणीं यष्टिं पिंगलां पद्ममालिनीम् चन्द्रां हिरण्यमयीं लक्ष्मीं जातवेदो ममावह” जंघयोः । पिण्डलियों का स्पर्श करें ।

“तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् यस्यां हिरण्यं प्रभूतं गावोऽश्वान्विन्देयं पुरुषानहम्” पादयोः । पैरों को दूर से छुये ।

यद्यपि इतनी बैठक एक साथ नहीं हो सकती, शास्त्रों ने जो प्रयोग विधि दी है वह प्राचीनकाल की बात हो गई । संभव है उस समय का वातावरण और व्यक्ति की क्षमता इसके अनुरूप रहे होंगे । मेरी ऐसी मान्यता है कि युग के अनुसार इस व्यवस्था में कालगत परिवर्तन किया जा सकता है । शास्त्र की व्यवस्था ग्यारह दिन में बारह हजार पाठ करने की है और किसी भी मास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ करके द्वादशी को पूर्णाहुति करने की है किन्तु एक दिन में ग्यारह सौ पाठ हो पाना अत्यन्त कठिन है इसलिए इकतालीस दिन में पाठ करके बयालीसवें दिन पूर्णाहुति कर लेनी चाहिए । अर्थात् एक मास की शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ करके अगले मास की शुक्ल पक्ष की द्वादशी को विसर्जन कर देना चाहिए । एक सौ आठ आहुतियों का यज्ञ रोज करते रहना चाहिए ।

लक्ष्मी की उपासना में कमल और बिल्वफल का हवन अधिक उपयोगी और सिद्धिप्रद माना जाता है । कमल का हवन करने के लिए लाल कमल को पूर्ण खिलने से पहले ही लेआया जाए, उसके गर्भ में घी भरकर फिर घी में डुबो ले या उस पर घी सींच कर खूब प्रज्वलित अग्नि में होम दें । ऐसे एक माला का हवन करने से लक्ष्मी प्रसन्न होती है । इसके साथ ही “कांसोस्मि तां” इस ऋचा से ग्यारह आहुतियां घी से देनी चाहिए ।

बिल्व पत्र के हवन के लिए कहा गया है कि किसी बिल्व वृक्ष के नीचे ही रहे, बिल्व के काष्ठ की समिधा में बिल्व के फल का ही हवन करें और बिल्वपत्र ही भोजन

करें तो लक्ष्मी शीघ्र प्रसन्न होती है यह प्रयोग इक्कीस रात्रि पर्यन्त करने से सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

घी, कमल और बिल्वफल का हवन करने से साधक की मनोकामना पूर्ण होती है।

श्री सूक्त की उपासना करने वाला व्यक्ति कमल, केवड़ा, नन्दावर्त, चमेली, चम्पा, लालकमल और कल्हार (कमल की ही जाति का फूल) को पैर से न छुये, लांघे नहीं, इनका अपमान न करें क्योंकि ये लक्ष्मी को अत्यन्त प्रिय हैं।

श्री सूक्त का साधक यदि राजा है तो “उपैतु मां” की ऋचा से जल को पवित्र करके, स्नान करते समय भी इसी ऋचा का पाठ करता रहे, पशु अथवा वाहन की कामना करने वाला “मनसः काममाकूतिं” ऋचा से स्नान करें। सन्तान प्राप्ति की कामना से श्री सूक्त की उपासना करने वाला “कांसोस्मि तां” वाली ऋचा से स्नान करें। राज्यपद अथवा वाहनसुख की कामना करने वाला व्यक्ति “अश्वपूर्णा” वाली ऋचा से स्नान करें तो लाभ होता है।

इन्हीं प्रयोजनों के लिए यदि इन्हीं ऋचाओं का मन्त्र की तरह जप करता रहे तो उत्तम फल प्राप्त होता है।

श्रीसूक्त में वर्णित लक्ष्मी का ध्यान

अरुणनलिनसंस्था तद्रजः पुंजवर्णा, करकमलधृतेष्टाभीति युग्माम्बुजाच
मणिमुकुटविचित्रालंकृताकल्प जालैर्भवतु भुवनमाता सन्ततं श्रीः श्रीये नः।

इसका अर्थ है—लालकमल पर विराजमान और उस कमल के केसर के समान शरीर की आभावाली, हाथ में कमल और अभय मुद्रा धारण किए हुए, विचित्रमणि जटित मुकुट से शोभित संसार की माता लक्ष्मी हमारी, समृद्धि के लिए हो।



महालक्ष्मी प्रयोग

लक्ष्मी मंत्रों में यह सताईस अक्षर वाला मंत्र बहुत प्रचलित है, शारदातिलक में इसकी बहुत प्रशंसा की गई है।

मंत्र

“ओम् श्रीं ह्रीं श्रीं कमले कमलालये प्रसीद प्रसीद श्रीं ह्रीं श्रीं महालक्ष्म्यै नमः”

संकल्प

अस्य सप्तविंशत्यक्षरमहालक्ष्मीमंत्रस्य ब्रह्मा ऋषिः गायत्री छन्दः श्री महालक्ष्मीः देवता श्रीं बीजम् नमः शक्ति मम सर्वेष्ट जपे विनियोगः।

न्यास

ब्रह्मर्षये नमः शिरसि, गायत्री छन्दसे नमः मुखे, महालक्ष्मी देवतायै नमः हृदये, श्रीं बीजाय नमः गुह्ये, नमः शक्तये नमः पादयोः विनियोगाय नमः सर्वांगे।

करन्यास

ओम् श्रीं ह्रीं श्रीं कमले श्रीं ह्रीं श्रीं अंगुष्ठाभ्यां नमः। श्रीं ह्रीं श्रीं कमलालये श्रीं ह्रीं श्रीं तर्जनीभ्यां नमः। श्रीं ह्रीं श्रीं प्रसीद श्रीं ह्रीं श्रीं मध्यमाभ्यां नमः। श्रीं ह्रीं श्रीं प्रसीद श्रीं ह्रीं श्रीं अनामिकाभ्यां नमः। श्रीं ह्रीं श्रीं महालक्ष्म्यै नमः श्रीं ह्रीं श्रीं कनिष्ठिकाभ्यां नमः।

हृदयादि न्यास

ओम् श्रीं ह्रीं श्रीं कमले श्रीं ह्रीं श्रीं हृदयाय नमः। श्रीं ह्रीं श्रीं कमलालये श्रीं ह्रीं श्रीं शिरसे स्वाहा। श्रीं ह्रीं श्रीं प्रसीद श्रीं ह्रीं श्रीं शिखायै वषट्। श्रीं ह्रीं श्रीं प्रसीद श्रीं ह्रीं श्रीं कवचाय हुम्। श्रीं ह्रीं श्रीं महालक्ष्म्यै नमः श्रीं ह्रीं श्रीं अस्त्राय फट्।

ध्यान

सिन्दूरारुणकान्तिमब्जवसतिं सौन्दर्यवारांनिधिम्,
कोटीरांगदहारकुण्डलकटी सूत्रादिभिर्भूषिताम्।
हस्ताब्जैर्वसुपत्रमब्जयुगलादर्शौ वहन्तीं पराम्,
आवीतां परिचारिकाभिरनिशं ध्यायेत्प्रियां शार्ङ्गिणः॥

यंत्र पूजा

यंत्र में दिए गए एकादि क्रम से पूजन करनी चाहिए। भगवती महालक्ष्मी के पूजन में ही सारे उपचारों का प्रयोग होता है शेष में उपचार तो होते हैं किन्तु पहले एक-एक का आवाहन करके अन्य उपचार सबके सामूहिक रूप से चढ़ाने चाहिए। यहाँ एक से पांच तक के अंकों पर नमः का उच्चारण करके गंधाक्षत पुष्प अलग-अलग केसरों पर चढ़ाते हैं अन्य उपचार सामूहिक रूप से अर्पित किए जाएंगे।

षट्कोण वाला प्रथम आवरण है। इसमें महालक्ष्मी के पंचांग स्थापित किए जाते हैं। मंत्र और क्रम इस प्रकार हैं—

1. ओम् श्रीं ह्रीं श्रीं कमले श्रीं ह्रीं श्रीं हृदयाय नमः। 2. श्रीं ह्रीं श्रीं कमले श्रीं ह्रीं श्रीं शिरसे स्वाहा। 3. श्रीं ह्रीं श्रीं कमलालये श्रीं ह्रीं श्रीं शिखायै वषट्। 4. श्रीं ह्रीं श्रीं प्रसीद श्रीं ह्रीं श्रीं कवचाय हुम्। 5. श्रीं ह्रीं श्रीं महालक्ष्म्यै नमः श्रीं ह्रीं श्रीं अस्त्राय फट्।

इन पदों का उच्चारण करते हुए 1, 2, 3, 4, 5 के अंक लिखे कोणों में गंधाक्षत पुष्प चढ़ा दे। धूप, दीप, नैवेद्य आदि उपकरण सबको एकत्र अर्पित करे। आशय यह है कि उपचार सर्वांग पूर्ण अतएव समग्र अथवा सपरिवार के एक साथ अर्पित किए जाते हैं।

प्रथम आवरण की पूजा करने के पश्चात् हाथ में पुष्प लेकर—

अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सले।

भक्त्या समर्पये तुभ्यं प्रथमावरणार्चनम्॥ यह बोलकर अर्पित कर दें।

अगला आवरण छः अंक से प्रारम्भ होता है।

6. श्रीधराय नमः श्रीधर श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। (श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः आगे भी जोड़ देने चाहिए) 7. हृषीकेशाय नमः हृषीकेश। 8. वैकुण्ठाय नमः वैकुण्ठ। 9. विश्वरूपाय नमः विश्वरूप। 10. वासुदेवाय नमः वासुदेव। 11. संकर्षणाय नमः संकर्षण। 12. प्रद्युम्नाय नमः प्रद्युम्न। 13. अनिरुद्धाय नमः अनिरुद्ध।

अभीष्टसिद्धिं ये देहि शरणागतवत्सले।

भक्त्या समर्पये तुभ्यं द्वितीयावरणार्चनम्॥

बोलकर पुष्पांजलि अर्पित कर दें।

इन्हीं पत्रों में इसी क्रम से—

14. भारत्यै नमः भारती श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। (श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः आगे के पदों में भी जोड़ दिया जाएगा)। 15. पार्वत्यै नमः पार्वती। 16.

चान्द्रये नमः चान्द्री. 17. शच्चै नमः शची. 18. दमकायै नमः दमका. 19. सलिलायै नमः सलिला. 20. गुग्गुलवे नमः गुग्गुलु. 21. कुरण्टकाय नमः कुरण्टक. पूजन करके

अभीष्टसिद्धिं ये देहि शरणागतवत्सले ।

भक्त्या समर्पये तुभ्यं तृतीयावरणार्चनम् ॥

चौथे आवरण की पूजा पत्तों के अग्रभाग में की जाती है। अग्र भाग का अर्थ पत्रों की अग्ररेखा से है। चित्र में अंक पत्ते के अंक क्रम में आगे लिखे गए हैं। यदि पत्ते के बाहर की तरफ भी पूजा जाता है तो कोई आपत्ति नहीं। क्रम वही रहेगा।

22. अनुरागाय महालक्ष्मीबाणाय नमः । 23. संवादाय महालक्ष्मीबाणाय नमः । 24. विजयाय महालक्ष्मीबाणाय नमः । 25. वल्लभाय महालक्ष्मीबाणाय नमः । 26. मदाय महालक्ष्मीबाणाय नमः । 27. हर्षाय महालक्ष्मीबाणाय नमः । 28. बलाय महालक्ष्मीबाणाय नमः । 29. तेजसे महालक्ष्मीबाणाय नमः ।

अभीष्ट सिद्धिं मे देहि शरणागत वत्सले ।

भक्त्या समर्पये तुभ्यं चतुर्थावरणार्चनम् ।

इसके बाद चतुष्कोण में क्रमशः इन्द्रादि दश दिक्पालों और उनके आयुधों का पूजन करें।

इसका पुरश्चरण एक लाख जप से सम्पन्न होता है। पुरश्चरण करने पर सामान्यतया मंत्र सिद्ध हो जाता है। स्वाभाविक है—लक्ष्मी प्राप्ति के लिए यह प्रयोग किया जाता है इसलिए हवन में बिल्वफल के टुकड़े करके शहद में डुबोकर (संभव नहीं हो तो शहद लगाकर) हवन किया जाता है।

लक्ष्मी की उपासना करने वाला व्यक्ति पश्चिम की तरफ मुख करके भोजन करे, मधुर भाषण करे, यथा संभव सत्य बोले, (आज के व्यापार में सत्य का दर्शन नहीं होता और सत्य व व्यापार परस्पर विरोधी हो गए हैं इसलिए व्यावसायिक चरित्र के लिए नाटक कर रहे नट की तरह जो कुछ भी करना या बोलना पड़ता है उसके लिए भगवती से क्षमा याचना करने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है इसलिए यथा सम्भव लिखा है अन्यथा शास्त्र तो सत्य बोलने के लिए ही कहते हैं वैसे भी आज लक्ष्मी का दर्शन अपवाद स्वरूप ही होता है अन्यथा अलक्ष्मी ही राज्य कर रही है। सुन्दर, स्वच्छ वस्त्र पहने, इत्र आदि सुगन्धित द्रव्यों का उपयोग करें, सुन्दर साफ सुथरे पलंग पर सोये, अपने से अधिक उम्र की—कुरुप स्त्री के साथ शयन न करें, नंगा होकर स्नान न करे, तेल लगाकर भोजन न करे, गन्दी अवस्था में शयन न करे, मुंह पर हल्दी का लेप न करे, बुसाई या अन्य खराब वस्तुयें न खाये, कमल, बिल्व और द्रोण को पैरों से न लांघे, केवल नमक और तेल न खाये, सहदेयी, श्री वल्ली, कमल और मूंगा शिर पर धारण करे।

महालक्ष्मी का स्वरूप

बालार्कद्युतिमिन्दुखण्डविलसत्कोटीरहारोज्ज्वलाम्,
 रत्नाकल्पविभूषितां कुचनतां शालैः करैर्मजरीम् ।
 पद्मं कौस्तुभरत्नमप्यविरतं संबिभ्रतीं सस्मिताम्,
 फुल्लांभोजविलोचनत्रययुतां ध्यायेत्परां देवताम् ॥
 सिंजन्मंजीरसंशोभिपदांभोजविराजिताम् ।
 नवरत्नगणाकीर्णां कांचीदामविभूषिताम् ॥
 मुक्तामाणिक्यवैदूर्यसम्बद्धोदरबंधनाम् ।
 विभ्राजमानां मध्येन वलित्रितयशोभिताम् ।
 जाह्नवीसरिदावर्तं शोभिनाभिविभूषिताम् ।
 पाटीरपंककूर्परकुंकुमालंकृतस्तनीम् ॥
 वारिवाहविनिर्मुक्त मुक्तादामगरीयसीम् ।
 वहन्तीमुत्तरासंगदुकूलपरिकल्पिताम् ॥
 तप्तकांचनसन्नद्धवैदूर्यांगदभूषणाम् ।
 पद्मरागस्फुरद्वर्णकंकणाढ्यकरांबुजाम् ॥
 माणिक्यशकलाबद्धमुद्रिकाभिरलंकृताम् ।
 तप्तहाटकसंकलृप्त मालाग्रैवेयशोभिताम् ॥
 विचित्रविबुधाकल्पकंबुसंकाशकंधराम् ।
 उद्यद्दिनकराकारमणिताटकमण्डिताम् ॥
 रत्नांकितलसत्स्वर्णकर्णपूरोपशोभिताम् ।
 जपाविद्रुमलावण्यललिताधरपल्लवाम् ॥
 दाडिमीफलबीजाभदन्तपंक्ति विभूषिताम् ।
 कलंककाश्यनिर्मुक्तशरच्चन्द्रनिभाननाम् ।
 पुण्डरीकदलाकारनयनत्रयसुन्दरीम् ।
 भूलताजितकन्दर्पकरकार्मुक विभ्रमाम् ॥
 विलसत्तिलपुष्पश्री विजयोद्यतनासिकाम् ।
 ललाटकान्ति विभव विजितार्धसुधाकराम् ॥



धनदायक्षिणी प्रयोग

कृतयुग में उत्सर्ग प्रधानवृत्ति थी इसलिए वह श्री पूजा का समय था। त्रेता में मां महालक्ष्मी के अखण्ड वैभव में कोई व्यक्ति दीन-हीन नहीं था, राक्षस के पास भी स्वर्ण नगरी थी, राक्षस भी रावण सरीखा तपोनिष्ठ था, उत्सर्ग का तेजस् उस युग में भी क्षीण नहीं हुआ था, उस समय मां गजारूढ़ थी। द्वापर में लक्ष्मी भोगप्रवण हो गई, राक्षस भी कंस जैसा आत्मरत हो गया। इस समय यक्षराज कुबेर धनाध्यक्ष बन गया और अनर्गल उपभोग इस युग का परिचय हो गया। इसीलिए द्वापर में स्वर्ण प्रासाद की जगह मय के मायावी महल बन गये।

आज तो स्थिति ही विपरीत है। श्री और लक्ष्मी के वे दिव्यरूप तिरोहित हो गए, अलक्ष्मी का साम्राज्य हो गया, क्योंकि सुकृत अर्थहीन रह गया, जो कुछ रहा वह स्वार्थकृत रहा, त्यागहीन लक्ष्मी अपने दिव्यत्व को छोड़ उलूकवाहिनी अतएव निर्घृण-निष्कृप हो गई। युगानुसार ही लक्ष्मी के अनुष्ठान बदलते गए। श्रीचक्र के रूप में उपास्य त्रिपुर सुन्दरी और उसका सूक्त कालान्तर में पौराणिक और फिर बीज मंत्रों के रूप में परिवर्तित हो गया, आज उसका श्रेयस्कारी स्वरूप कल्पना अथवा ध्यान का विषय रह गया है इसलिए उसकी सीधी उपासना करने की परम्परा क्षीण हो गई है फिर भी मेरा अपना विश्वास है कि उसकी यक्षिणी के रूप में की गई उपासना युगानुरूप रहेगी।

रूद्रयामल कहता है—

यह धनदा यक्षिणी पाप नष्ट करने वाली और दारिद्र्य को दूर करके सम्पत्ति प्रदान करने वाली है। यह विद्या ब्रह्मा के कुबेर को बताई थी। शिव कहते हैं—पार्वती वह यक्षिणी स्वरूपा तू ही है। इस विद्या की उपासना करके व्यक्ति गंधर्वस्वरूप हो जाता है।

मंत्र

“ओं रं श्रीं ह्रीं धनदे रतिप्रिये स्वाहा”

संकल्प

अस्य श्रीधनदेश्वरी मंत्रस्य कुबेर ऋषिः पंक्तिश्छन्दः श्री धनदेश्वरी देवता धं बीजम् स्वाहा शक्तिः श्रीं कीलकम् श्रीधनदेश्वरी प्रसाद सिद्धये समस्त दारिद्र्यनाशाय श्रीधनदेश्वरी मंत्रजपे विनियोगः।

न्यास

कुबेर ऋषये नमः शिरसि, पंक्तिश्छन्दसे नमः मुखे, श्री धनदेश्वरी-देवतायै नमः हृदये धं बीजाय नमः गुह्ये, स्वाहा शक्तये नमः, पादयोः श्रीं कीलकाय नमः नाभौ विनियोगाय नमः सर्वांगे ।

करन्यास

श्रां अंगुष्ठाभ्यां नमः, श्रीं तर्जनीभ्यां नमः, श्रूं मध्यमाभ्यां नमः, श्रैं अनामिकाभ्यां नमः, श्रीं कनिष्ठिकाभ्यां नमः, श्रः अस्त्राय फट् ।

हृदयादि न्यास

श्रां हृदयाय नमः, श्रीं शिरसे स्वाहा, श्रूं शिखायै वषट्, श्रैं कवचाय हुम्, श्रीं नेत्रत्रयाय वौषट्, श्रः अस्त्राय फट् ।

मंत्रवर्ण न्यास

ओम् नमः शिरसि, रं नमः मुखे, श्रीं नमो दक्षिण नेत्रे, ह्रीं नमो वामनेत्रे, धं नमो दक्षिणकर्णे, धं नमो वामकर्णे, नं नमो दक्षिण नासापुटे, दें नमो वामनासापुटे, रं नमो हृदये, तिं नमो दक्षिणस्तने, प्रिं नमो वामस्तने, येँ नमो नाभौ, स्वां नमो गुह्ये, हां नमः पादयोः ।

पदन्यास

ओं नमः मस्तके, रं नमो मुखे, श्रीं नमः हृदये, ह्रीं नमः कट्याय, नः नमः हस्तयोः धनदे नमः गुदे, रतिप्रिये नमः लिंगे स्वाहा नमः पादयोः ।

कवचन्यास

धनदायै नमः शिरसि मंगलायै नमः ललाटै, दुर्गायै नमः भूमध्ये, त्रिनेत्रायै नमः दक्षिण नेत्रे, चंचलायै नमः वामनेत्रे, त्वरितायै नमः दक्षिण कर्णे, मंजुघोषायै नमः वामकर्णे, सुगंधायै नमः दक्षिण नासापुटे, पद्मायै नमः वामनासापुटे, वराह्यै नमः ऊर्ध्वोष्ठे, महामायायै नमः अधरोष्ठे करालभैरव्यै नमः मुखे, सुन्दर्यै नमो दन्तजाले, सरस्वत्यै नमो जिह्वायाम्, रुद्रायै नमः चिबुके, चामर्यै नमः कण्ठे, वज्रायै नमः कण्ठपृष्ठे, हरिप्रियायै नमः दक्षिणस्कन्धे, कमलायै नमः वामस्कन्धे, वरदायै नमः दक्षिणहस्ते, अभयायै नमः वामहस्ते, सुपट्टिकायै नमः दक्षिणांगुलीषु, उमायै नमः वामांगुलीषु, महालक्ष्म्यै नमः हृदये, कामदायै नमः स्तनयोः, क्षुधायै नमः उदरे, महाबलायै नमः कट्याय, धनुर्धरायै नमः पृष्ठे, काम प्रियायै नमः लिंगे, गुह्येश्वर्यै नमो गुदे, चपलायै नमः ऊर्वोः, लीलायै नमः जानुनोः, सर्वशक्त्यै नमः जंघयोः, भ्रामर्यै नमः पादयोः सर्वेश्वर्यै नमः सर्वांगे ।

दिङ्-न्यास

ब्राह्म्यै नमः पूर्वे, माहेश्वर्यै नमः दक्षिणे, कौमार्यै नमः पश्चिमे, वैष्णव्यै नमः उत्तरे, वाराह्यै नमः ईशान्याय चामुण्डायै नमः आग्नेय्याय, कौबेर्यै नमः नैऋत्ये, वायव्यै, नमः वायव्याय, ब्रह्मायै नमः ऊर्ध्वम्, अनन्तायै नमः अधः ।

ध्यान

हेमप्रकारमध्ये सुरविटपितटे रक्तपीठाधिरूढां
ध्यायेत्तां यक्षिणीं वै परिमलकुसुमोद्भासिधम्मिल्ल भाराम् ।
पीनोत्तुंगस्तनाद्यां कुवलयनयनां रत्नकांची कराभ्यां
भ्राम्यद्रक्तोत्पलाभ्यां नवरविवसनां रक्तभूषांगरागाम् ।

ध्यान करके यंत्र की आवरण पूजा करें।

यंत्र पूजा विधि

निर्मित यंत्र को चावल आदि से सर्वतोभद्र मंडल बनाकर उसमें स्थापित करके प्राण प्रतिष्ठा करें तब आवरण पूजा करें। सुविधा के लिए यन्त्र में एकादि क्रम से क्रम लिख दे। 1. पर श्रां हृदयाय नमः हृदय श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः (श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। यह पद आगे भी बोलना है।) 2. श्रीं शिरसे स्वाहा शिरः श्री. 3. श्रीं शिखायै वषट् शिखा श्री., 4. श्रीं कवयाय हुम् कवच श्री. 5. श्रीं नैत्रत्रयाय वौषट् नेत्रत्रय श्री. 6. श्रीः अस्त्राय फट् अस्त्र श्री.।

हाथ में पुष्कर लेकर—

अभीष्ट सिद्धिं मे देहि शरणागत वत्सले

भक्तया समर्पये तुभ्यं प्रथमावरणार्चनम्॥

दूसरे आवरण मं दश पत्र हैं। उनमें क्रमानुसार अंकित पत्रों में पूजन करें। 7 के अंक पर महालक्ष्म्यै नमः महालक्ष्मी श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि (पादुकां पूजयामि तर्जयामि नमः। यह पद आगे भी जोड़ा जाएगा) 8. पद्मायै नमः पद्मा श्री., 9. श्रियै नमः श्री., 10. हरिप्रियायै नमः हरिप्रिया श्री., 11. हरायै नमः हरश्री. 12. पद्मप्रियायै नमः पद्मप्रिया श्री., 13. कमलायै नमः कमला श्री., 14. अब्जायै नमः अब्जा श्री., 15. चंचलायै नमः चंचला श्री., 16. लोलायै नमः लोला श्री.।

हाथ में पुष्प लेकर—

अभीष्ट सिद्धिं मे देहि शरणागत वत्सले।

भक्तया समर्पये तुभ्यं द्वितीयावरणार्चनम्।

फिर चतुष्कोण में इन्द्रादि दश दिक्पालों और उनके आयुधों का पूजन कर लेना चाहिए।

सवा लाख जप करने पर इसका पुरश्चरण सम्पन्न होता है। लाल मूंगे की माला से यह जप करना उत्तम रहता है। साधक स्वयं भी लाल रेशमी कपड़े पहन कर यह जप करें और आसन भी लाल रंग का ऊनी या रेशमी अथवा ऊनी पर रेशमी बिछाकर बैठे तो अच्छा तारतम्य बैठ जाता है। शहद और घी मिले गन्ने के टुकड़ों का हवन करना चाहिए।

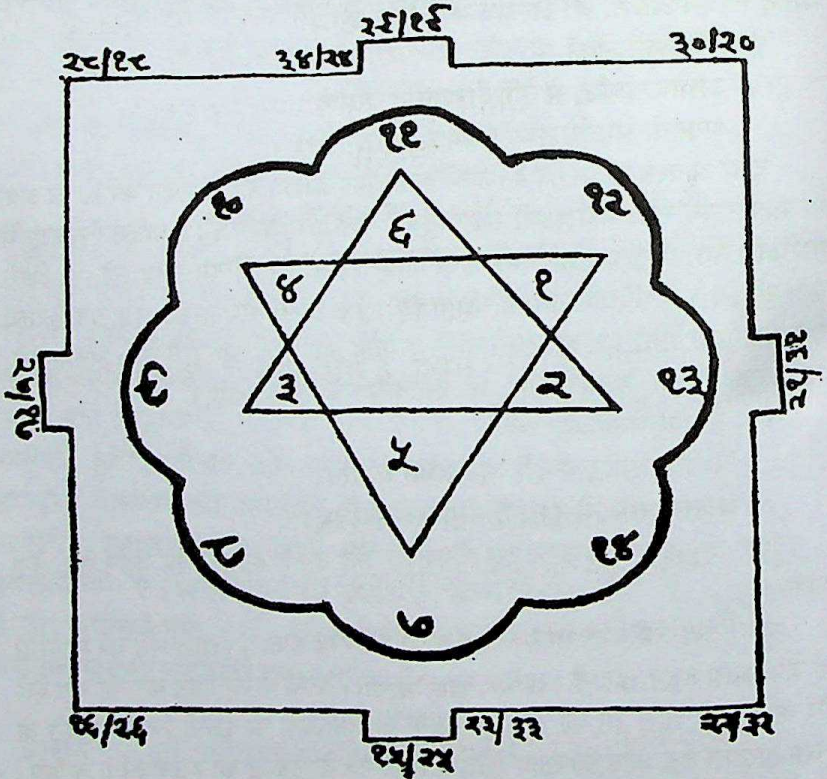
शास्त्र का कहना है कि सात दिन तक आठ हजार जप करने से भी पुरश्चरण जैसी लघु क्रिया सम्पन्न होती है। इस जप के साथ ही प्रतिदिन, साप्ताहिक पुरश्चरण करने तक, कामदेव का जप करना चाहिए।

तन्त्र शास्त्र का कथन है कि यदि साधक पूर्ण निष्ठा और मनोयोग पूर्वक स्वच्छ पवित्र होकर यह पुरश्चरण करता है तो धनदा यक्षिणी स्वयं आती है। साधक के भाग्यवश यदि यक्षिणी स्वयं आ जाए तो उसे चन्दन का उद्धर्तन और खीर का प्रसाद अर्पित करें।

धनदा यक्षिणी सर्वांग में आभूषण पहन कर आती है और साधक को सारे आभूषण उतार कर दे जाती है।

किंकणी तंत्र का मत है कि यदि एक माला भी इस मंत्र की जपी जाती है तो व्यक्ति दरिद्र नहीं रहता है। सम्पत्ति व ऐश्वर्यवान् होने के लिए चन्द्र या सूर्य ग्रहण के समय इस मन्त्र का जप करने से बहुत लाभ होता है। कहते हैं कि श्रद्धा एवं विधि पूर्वक जो इसका जप करता है उसके घर में दरिद्रता नहीं रहती।

यंत्र का सामान्य स्वरूप



धनदायक्षिणी कवच

विनियोग

अस्य श्री धनदा यक्षिणी कवचस्य कुबेर ऋषिः पंक्तिश्छन्दः श्री धनदा देवता
रं बीजम् श्रीं शक्तिः ह्रीं कीलकम् श्रीधनदेश्वरी प्रसाद सिद्धये मम दारिद्र्यनाशाय
श्रीधनदा कवच पाठे विनियोगः ।

न्यास

ओम् ह्रां कुबेर ऋषये नमः शिरसि, ह्रीं पंक्तिश्छन्दसे नमः मुखे, हूं धनदा
देवतायै नमः हृदये, ह्रैं रं बीजाय नमः गुह्यै, ह्रौं श्री शक्तये नमः पादयोः, हः ह्रौं
कीलकाय नमः नाभौः, ह्रां ह्रौं हूं ह्रैं ह्रौं हः विनियोगाय नमः सर्वांगे ।

करन्यास

ह्रां अंगुष्ठाभ्यां नमः, ह्रौं तर्जनीभ्यां नमः, हूं मध्यमाभ्यां नमः, ह्रैं अनामिकाभ्यां
नमः, ह्रौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः, हः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

हृदयादि न्यास

ह्रां हृदयाय नमः, ह्रौं शिरसे स्वाहा, हूं शिखायै वषट्, ह्रैं कवचाय हुम्, ह्रौं
नेत्रत्रयाय वौषट्, हः अस्त्राय फट् ।

ध्यान

कंकुमोदरगर्भाभां किंचिदयौवनशालिनीम् ।

मृणालकोमलभुजां केयूरांगदभूषिताम् ॥

नीलोत्पलदृशं किंचिदुद्यत्कुच विराजिताम् ।

भजेहं भ्राम्यकमलवराभय समन्विताम् ।

रक्तवस्त्रपरीधानां ताम्बूलाधरपल्लवाम् ।

हेमप्राकारमध्यस्थां रत्न सिंहासने स्थिताम् ।

कवच

तत्तुर्यं रक्षयेत्सर्वं शरीरं देवि सर्वतः ।
 माया चक्षुर्भुजौ पातु पदौ रक्षेदतिप्रिया ॥
 वह्निजाया पातु लिंगमत्र सर्वत्र रक्षतु ।
 धनदा सर्वदा रक्षेत्पथि दुर्गे यमालये ॥
 मंजुघोषा सदा पातु पृष्ठ जानुयुगे वलम् ।
 सुन्दरी दन्तजालं च कण्ठ जालं च चामरी ॥
 भ्रामरी भ्रमणं रक्षेद् दशदिक्षु सुपाठिका ।
 करालभैरवी पातु वदनं श्रुति नेत्रयोः ॥
 त्रिनेत्रा त्वरिता पातु मदंगं सर्वसंकटे ।
 ओष्ठाधरौ महामाया रसनां चोरुदण्डयोः ॥
 अंगुलीषु तथा शक्तिर्जघनं चैव चण्डिका ।
 इन्द्राणी पातु मे पूर्वे दक्षिणे तु महेश्वरी ॥
 कौमारी पश्चिमे पातु वैष्णवी चोत्तरेवतु ।
 ऐशान्यां पातु वाराही चामुण्डा वह्निकोणके ॥
 कौबेरी नैऋते पातु वायव्यां दुःखहारिणी ।
 ऊर्ध्वं ब्राह्मी सदा पातु अधो दुर्गा सदावतु ।
 ज्ञात्वा तु कवचं दिव्यं सुखेन सर्वसिद्धिकृत ।
 ध्यायेत्कल्पतरुर्मूले देवि त्वां धनदायिकाम् ॥
 रत्नपात्रद्वयं चाग्रे दायिनीं निधिवर्णिनीम् ।
 अन्नपूर्णावराहाभ्यां श्री भूमिं सहितां जपेत् ॥
 अन्यहस्तगतं छात्रं कुबेरश्चामरद्वयम् ।
 भविष्यति महादेव्याः मंत्रैः सर्वैः समृद्धिमान् ॥
 कदाचिदयः पठेद् धीमान् न वै रोगो भवेद् ध्रुवम् ।
 अपुत्रो लभते पुत्रं सर्वं विद्या सुशोभनम् ॥

धनदायक्षिणी स्तोत्र

देवी देवमुपागम्य नीलकण्ठं सदाशिवम् ।
कृपया पार्वती प्राह शंकरम् करुणाकरम् ॥

देवी उवाच

ब्रूहि वल्लभ साधूनां दरिद्राणां कुटुम्बिनाम् ।
दारिद्र्य दलनो पायमंजसैव धनप्रदम् ॥
पूजयन्पार्वतीवाक्यमिदमाह महेश्वरः ।
उचितं जगदंबासि तव प्रीत्यानुकम्पया ॥
अत्यन्तं सानुगं रामं सांजनेयमथानुगम् ।
प्रणम्य परमानन्दं वच्यहं स्तोत्रमुत्तमम् ॥
धनदा श्रद्धधानानां सद्यः सुलभसाधनम् ।
योग क्षेम करं प्रोक्तं सत्यं मे वचनं यथा ॥
पठेत् स्याग्रतो वापि ब्राह्मणो रसिकोत्तमः ।
धनलाभो भवेदाशु नाशयेत्तस्य निःस्वताम् ।

विनियोग

अस्य श्री धनदास्तोत्र मंत्रस्य कुबेर ऋषिः पंक्तिश्छन्दः श्री धनदेश्वरी देवता
धं बीजम् स्वाहा शक्तिः श्रीं कीलकम् श्री धनदेश्वरी प्रसाद सिद्धये मम
दारिद्र्यनाशाय स्तोत्र मंत्र जपे विनियोगः ।

न्यास

कुबेर ऋषये नमः शिरसि, पंक्तिश्छन्दसे नमः मुखे, श्रीधनदेश्वरी देवतायै
नमः हृदये धं बीजाय नमः गुह्ये स्वाहा शक्तये नमः पादयोः श्रीं कीलकाय नमः कर
सम्पुटे दारिद्र्यनाशाय विनियोगाय नमः सर्वांगे ।

करन्यास

श्रां अंगुष्ठाभ्यां नमः, श्रीं तर्जनीभ्यां नमः, श्रूं मध्यमाभ्यां नमः, श्रैं अनामिकाभ्यां नमः श्रीं कनिष्ठिकाभ्यां नमः, श्रः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

हृदयादि न्यास

श्रां हृदयाय नमः, श्रीं शिरसे स्वाहा, श्रूं शिखायै वषट्, श्रैं कवचाय हुम्, श्रीं नेत्रत्रयाय वौषट्, श्रः अस्त्राय फट् ।

ध्यान

हेम प्राकारमध्ये सुरविटपितले रत्नपीठाधिरूढां,
यक्षीं बालां स्मरामः परिमलकुसुमोद्भासिधम्मिलभाराम् ।
पीनोत्तुंगस्तनाढयां कुवलयनयनां रत्नकांची कराभ्याम् ।
भ्राम्यद् क्तोत्पलाभां नवरविवसनां रक्तभूषांगरागाम् ॥

मूलस्तोत्र

भूभवां संभवां भूत्यै पंक्तिकल्पलतां शुभाम् ।
प्रार्थयेत्तांस्तथाकामान् कामधेनुस्वरूपिणीम् ॥
धराभरप्रिये पुण्ये धन्ये धनदपूजिते ।
सुधनं धार्मिकं देहि यजनाय सुसत्त्वरम् ॥
धर्मदे धनदे देवि दानदे तु दयाकरे ।
त्वं प्रसीद महेशानि यदर्थं प्रार्थयाम्यहम् ॥
रम्ये रुद्रप्रिये रूपे रमारूपे रविप्रिये ।
शशिप्रभमनोमूर्ते प्रसीद प्रणते मयि ॥
आरक्त चरणांभोजे सिद्धसर्वांगभूषिते ॥
दिव्याम्बरधरे दिव्ये दिव्यमाल्योपशोभिते ॥
समस्तगुणसम्पन्ने सर्वलक्षणलक्षिते ।
जातरूपमणीन्द्रादि भूषिते भूमिभूषिते ॥
शरच्चन्द्रमुखे नीले नीलनीरजलोचने ।

चंचरीकं च भूवासं श्रीहारि कुटिलालके ॥
 मत्ते भगवति मातः कलकण्ठमुखामृते ।
 हासावलोकनैर्दिव्यैः भक्तचिन्तापहारिके ॥
 रूप लावण्यतारुण्ये कारुण्यामृतभाजने ।
 क्कणत्कंकणमंजीरे लसल्लीलाकराम्बुजे ॥
 रुद्र प्रकाशिते सत्त्वे धर्माधारे दयालये ।
 प्रयच्छ यजनायैव धनं धर्मैकशोधनम् ।
 मातर्मे मा विलम्बेन दिशस्व जगदम्बिके ।
 कृपया करुणासारे प्रार्थितं पूरयाशु मे ॥
 वसुधे वसुधारूपे वसुवासववन्दिते ।
 धनदे यजनायैव वरदे वरदा भव ॥
 ब्रह्मण्ये ब्राह्मणे पूज्ये पार्वती शिवशंकरे ।
 श्रीकरे शंकरे श्रीदे प्रसीद मयि किंकरे ॥
 स्तोत्रं दारिद्र्यदावार्तिशमनं च धनप्रदम् ।
 पार्वतीश प्रसादेन सुरेशशंकरोदितम् ।
 श्रद्धया ये पठिष्यन्ति पाठयिष्यन्ति भक्तिततः ।
 सहस्रमयतं लक्षं धनलाभो भवेद् ध्रुवम् ॥

□□□

श्री यंत्र

अनेक लोगों ने श्री यंत्र के सम्बन्ध में जिज्ञासा की है, करते रहते हैं। समझ में यह नहीं आता कि साधना शास्त्र के इतने विस्तार में केवल श्री यंत्र को ही इतना महत्त्व क्यों ? साधना के हिमगिरि में अनेक शिखर हैं, सभी अभ्रंकष हैं, सभी में उच्चता है, सभी शोभाधाम हैं इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं फिर श्री यंत्र को इतना अतिरिक्त सम्मान क्यों ? थोड़ा गहराई से अन्वेषण करने पर स्पष्ट होता है कि किसी विज्ञापन कुशल व्यक्ति ने श्री चक्र को श्री यंत्र के रूप में प्रचारित करके अपनी व्यवसाय साधना की थी, ऐसा ही प्रवाद कनक धारा यंत्र को लेकर प्रचारित किया गया अन्यथा यंत्रों की श्रेणी में ये भी यंत्र ही हैं।

यंत्रों या अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में एक तथ्य स्मरण रखना चाहिए कि केवल यंत्र को स्थापित रखना कोई अर्थ नहीं रखता। माना किसी विशिष्ट वस्तु से विशेष समय में कोई चीज बनाई जाती है तो उसमें कालिक और वस्तुगत सामर्थ्य तो आएगी ही किन्तु जब तक उन पर कार्य नहीं किया जाएगा, उनका बल नहीं बढ़ेगा उनकी आयुष्म क्षीण होती जाएगी। मेरा अनुभवसिद्ध विश्वास है कि वस्तुशक्ति कितनी ही प्रबल हो, उसे रक्षित, पोषित और सम्मानित नहीं किया जाएगा तो वह शनैः शनैः क्षीणबल और हतायु होती चली जाएगी इसलिए तैयार यंत्र खरीदने के मोह से उबर कर यंत्र निर्माण करके उसकी प्राणप्रतिष्ठा करना और उसे पूजा स्थान पर रख कर नियमित उपासना करना श्रेष्ठ रहता है।

श्री यंत्र के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक तथ्य संकलित किए जा रहे हैं। त्रिपुरतापिनी उपनिषद् में श्री चक्र की रचना और रहस्य प्रकट किए गए हैं। वहाँ भगवती त्रिपुर सुन्दरी के विकास-विस्तार का निदर्शन करने के लिए इसकी रचना विधि दी गई है। तन्त्र शास्त्र के अध्येता जानते हैं कि तीन और त्रिपुर कितने व्यापक आयाम हैं। समग्र संसार तीन के जाल में निगडित है, जितनी भी यह क्रिया विस्तृति है वह सृष्टि, स्थिति, संहार रूपिणी है, इसके विचित्र किन्तु अपने व्यापार के अनुरूप गति संचार के चित्र बनते हैं, यह विविध प्रकार ऐसा ही है जैसे हमारे शहर में पानी की पाइप लाइन, टेलीफोन की लाइन और

मोटरोँ के आवागमन के लिए रोड लाइन हैं। इन सारी लाइनों का एक स्वतंत्र रेखांकन होता है, ऐसा ही रेखांकन प्रकृति की व्यवस्थाओं का होता है—यही यंत्र कहलाता है, रसायन शास्त्र वाले इसे चक्र (साइकल) कहते हैं।

यद्यपि यह चक्र श्री चक्र किंवा महालक्ष्मी का विकास-विलास का चित्रण करता है फिर भी इससे केवल अर्थसिद्धि ही होती हो ऐसा नहीं है, प्रासंगिक रूप में अन्य प्रयोजनों का पूरक भी रहता है। इसका घर में रहना शुभ है पर तभी जब हम इसकी अर्चना व जप करते हैं।

रचना

इसकी रचना सृष्टि क्रम से की जाती है अर्थात् सबसे पहले भीतर का वृत्त बनाया जाता है फिर दूसरे चक्र बनाए जाते हैं। सबसे पहले एक वृत्त बनाया जाता है उसके आगे एक ऊर्ध्वशीर्ष त्रिकोण, इससे आगे चार त्रिकोण (त्रिभुज) ऊर्ध्व शीर्ष और इतने ही अधःशीर्ष बनाए जाते हैं। अर्थात् मध्य के ऊर्ध्वशिरा त्रिभुज को जिसके आध्यान्तर में एक वृत्त रहता है वह महामाया त्रिपुरा का प्राण है और शेष उसका विस्तार है। दूसरा आवरण अर्थात् पहला षट्कोण अन्तराल कहलाता है, तीसरे आवरण में अष्टयोनि बनती हैं। योनि का अर्थ त्रिकोण से बनने वाली आकृति का शीर्ष भाग अथवा मुख होता है। चौथे आवरण में दश योनियां और पांचवें आवरण में चौदह योनि बनती हैं। इन त्रिभुजों के कारण बनने वाली आकृतियों से आगे आठ कमल के पत्तों का वृत्त बनता है, उससे आगे सोलह पत्रों का वृत्त और इन सबको आवृत करता हुआ चतुष्कोण बनता है। इसमें यदि गर्भ अथवा केन्द्रस्थ वृत्त की स्वतंत्र गणना करते हैं तो नौ क्षेप किंवा आवरण हुए अन्यथा आठ आवरण हुए।

इन आवरणों के भिन्न-भिन्न स्वरूप वाली अधिष्ठात्री देवता हैं। उन स्वरूपों के अनुसार ही उनके कार्य व प्रभाव हैं। उन स्वरूपों की मुद्राएँ हैं, उपयोग हैं।

इनका परिचय सृष्टि क्रम से इस प्रकार हैं—भगवती त्रिपुरसुन्दरी के विशिष्ट रूप—प्रथम (प्राणभूत अतएव केन्द्रगत) आवरण में।

महात्रिपुरसुन्दरी, दूसरे आवरण में त्रिपुराम्बा, तीसरे में त्रिपुरसिद्ध, चौथे में त्रिपुर मालिनी, पांचवें में त्रिपुर महालक्ष्मी, छठे में त्रिपुर वासिनी, सातवें में त्रिपुर सुन्दरी, आठवें में त्रिपुरेश्वरी, नवें में त्रिपुरा।

इन आवरणों में मुद्रा—उपर्युक्त क्रम से—योनिमुद्रा, दूसरे में बीजमुद्रा, तीसरे में खेचरीमुद्रा, चौथे में अंकुशमुद्रा, पांचवें में उन्मादिनीमुद्रा, छठे में वशीकरिणी मुद्रा, सातवें में आकर्षिणी मुद्रा, आठवें में विद्राविणी मुद्रा, नौवें में संक्षोभिणी मुद्रा होती हैं।

विशेष—ये मुद्रायें पराम्बा त्रिपुरा की हैं अर्थात् वह एक ही ईश्वरी विभिन्न स्तरों पर विविध कार्य सम्पादन करने में क्षम होती हैं इसलिए कार्यानुसार उनकी मुद्राएँ भी भिन्न हैं। साधक का अपना जो प्रयोजन है तदनुसार मुद्रा करके उसे जपादि करने चाहिए।

कार्य विशेष—उसी क्रम से—आत्मलाभ, दूसरे आवरण में सर्वसिद्धि, तीसरे में सर्वरोगनाश, चौथे में रक्षा, पांचवें में सर्वार्थसिद्धि, छठे में सर्वसौभाग्य, सातवें में संक्षोभण, आठवें में आशापूर्ति, नवें में त्रैलोक्य मोहन रूप फल प्राप्त होते हैं।

इसका एक सौ आठ अक्षर का पूर्ण मंत्र है—

ओम् तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् परो रजसे सावदोम् जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः स नो पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम् पुष्टिवर्धनम् ऊर्वारुकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

विधि—इस यंत्र को उत्कीर्ण कराकर चांदी, सोने या ताम्र पत्र पर इन आवरणों में भगवती त्रिपुर सुन्दरी महालक्ष्मी का पूजन किया जाता है। जिन-जिन आवरणों में महामाया के जो स्वरूप दिए गए हैं उनका पूजन करके मध्य में त्र्यम्बक सहित त्रिपुरा का अर्चन होता है। मुख्य रूप से यह आकृति विश्वकुण्डलिनी की है जिसका बीज मन्त्र हल्लेखा अथवा 'हीं' कहा गया है। स्मरण रखने की बात है कि 'हीं' बीज देवाधिदेव शिव के साहचर्य से बनने वाले रूप में उपास्य रहता है। वैष्णवी रूप में श्री अथवा लक्ष्मी बीज प्रयुक्त होता है। सारस्वत स्वरूप में 'श्रीं' बीज अधिक उपयुक्त रहता है।

उपरिलिखित शताक्षरी—अष्टोत्तर—एक प्रकार से विद्या है और उसमें गायत्री छन्द में सूर्य का कामकला का और अन्त में मृत्युंजय भगवान् त्र्यम्बक का मंत्र आ गया है। ये सारे ही मंत्र वेदोक्त हैं। इन सबका सम्मिलित रूप जो दिया गया है, उसका जप करने का विधान है। जप के बाद दशांश हवन करने की सामान्य परम्परा है ही।

इसकी पूजाविधि के सम्बन्ध में त्रिपुरतापिनी उपनिषद् में कहा गया है कि इसकी नाभि में सूर्य और चन्द्रमा अग्निमण्डल में अवस्थित हैं अर्थात् मध्यवर्ती त्रिकोण अग्नि

और वृत्त सूर्य, चन्द्र का प्रतीक है उस वृत्त में ओंकार पीठ पर भगवती त्रिपुर सुन्दरी का पूजन करना चाहिए। उस वृत्त में माया और लक्ष्मी के मन्त्र से अथवा मायालक्ष्मी के स्वरूप का ध्यान करता हुआ दूध से उस यन्त्र को स्नान करा कर चन्दन का लेप करके बिल्व पत्र से पूजा करें।

पूजन के पश्चात् उपरिलिखित विद्या का जप करें अथवा 'ह्रीं श्रीं क्लीं ह्रीं महालक्ष्म्यै नमः' इस मंत्र का जप करें। जिन साधकों को 'ह्रीं' बीज अनुकूल नहीं रहता वे 'श्रीं' बीज को पहले कर लें तब मन्त्र का स्वरूप होगा—“श्रीं ह्रीं क्लीं श्रीं महालक्ष्म्यै नमः” इस प्रकार जप कर लें। श्री सूक्त का पाठ करना भी उपयुक्त रहता है।

जो लोग इस यन्त्र की उपासना लक्ष्मीप्राप्ति के लिए करना चाहते हैं वे बिल्वफल अथवा लाल कमल का हवन करें। आधार सामग्री के रूप में तिल, घी, शक्कर तो रहेंगे ही। अन्य कार्य भी इसके माध्यम से सम्पन्न किए जा सकते हैं जो इसके प्रत्येक आवरण में दर्शाये गये हैं तदर्थ उन कार्यों को साधित करने वाले द्रव्यों से हवन करना उत्तम रहता है।

□□□

शिवार्चन

शिव समाजवादी स्वरूप है, व्यक्ति ही नहीं समष्टि का भी तारक है। निर्दम्भ, निर्व्याज अतएव भोले औढरदानी के नाम से लोगों की श्रद्धा का एकमात्र अधिकारी है। शुकदेव मुनि जैसा स्पृहाशून्य समदर्शन त्र्यम्बक में है। वह वसतीश्वर है, महाकालेश्वर है और वनाधिति भी है। वैष्णवों का नमस्य और कौल-कापालिकों का परमाराध्य सर्वेश्वर सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक रूप में आदरणीय है। पर्वत के निर्माक्षिक एकान्त में, हिमानी को पहने वह दिगम्बर कूटस्थ बना हुआ है। उमा का साहचर्य उसको उद्वेलित नहीं करता, गिरिजा की श्रद्धा का सघनभाव ही उसे सरस बनाता है।

कलियुग में उसकी सर्वांगी प्रतिमा नहीं बनायी जाती, न उसके नीलकण्ठ स्वरूप की ही अराधना की जाती है। कारण कुछ भी रहा हो पर उसका—शिव के नाम का—एक परिप्रेक्ष्य है, इस परिकर का यथार्थ भी है। ध्यातव्य है कि परमार्थ, यथार्थ और शब्दार्थ अथवा प्रतीकार्थ के रूप में अर्थ की तीन अवस्थाएँ होती हैं और बुद्धि के प्रकर्ष के अनुसार ही व्यक्ति की गति होती है इन स्तरों तक पहुँचने की। आज शिव के एकाकी अथवा सपरिकर रूप की जो स्थापना की जाती है उसमें शिवलिंग केन्द्रस्थ रहता है उसके चतुर्दिक् रहते हैं—पार्वती, गणपति, कार्तिकेय और नन्दिकेश्वर। जिनकी, शब्दार्थ अथवा प्रतीकबोध वा पर्याय ज्ञान तक ही गति है उनके लिए पौराणिक आख्यान है, इनके समग्र परिवार की मनोरम-सुबोध मानवीय आकृतियाँ हैं और भक्ति के एकान्तिक भाव से ये विग्रह मानवीय आग्रहों से पूज्य और सेव्य हैं।

इनका यथार्थ, साधनालभ्य है और संवेदना की सुकोमलता तथा ज्ञान की परम विकसित अवस्था का विषय है। तदपि इसे समझने के लिए हम इस परिवार की स्थापना इसकी रूपरचना और शास्त्रों में निर्दिष्ट शब्दावली पर मनन करके उस सामंजस्यसूत्र का अनुसंधान करें जो यथा के मार्ग से हमें अर्थ के प्राकृत स्वरूप तक ले जाता है।

किसी भी शिव मन्दिर में हम देखें—शिव एक ऊर्ध्वमुखी लिंग के रूप में स्थापित रहते हैं। लिंग का अर्थ यदि हम शिश्न समझते हैं तो हम अत्यन्त स्थूल द्रष्टा हैं।

अण्डाकार पिण्ड को हम लिंगवत् समझते हैं पर उस लिंग को स्नायुचर्म-विनिर्मित प्राकृत-पुरुष-चिह्न का पर्याय मानने पर हम उसके वास्तविक को नहीं समझ पाएंगे। यद्यपि इस विधि से भी हम यथार्थ के निकट तो पहुँचते हैं पर वह अर्थबोध मानवीय

संकीर्णता अतएव बुद्धिमांश के आच्छन्न रहेगा इसलिए उसमें वह दिव्यता नहीं आ सकेगी।

लिंग का अर्थ होता है चिह्न, वह चिह्न जो उस व्यक्ति अथवा वस्तु के परिज्ञान का विशिष्ट प्रतीक होता है। पुरुष अथवा स्त्री को दिया गया यह प्रकृति चिह्न इतना परिचित हो गया कि इसका अर्थ केवल शिश्नदंड तक संकुचित हो गया अन्यथा यह शिवलिंग है अर्थात् शुभ मंगल या कल्याण का चिह्न है और उनका यह सारा परिवार इस सृष्टि के अथ इति का क्रमिक अभिलेख है, परमशिव के शिव स्वरूप चिह्न वा कल्याणकारक प्रतीक के रूप में व्यक्त होने का प्रकट कथात्मक काव्य है। इसके पूजन का सामान्य अर्थ किंवा फलित यह होता है कि पूजक उसके देह में स्थित इस क्रिया विस्तार का विनियोग शिवत्व की सिद्धि के लिए करें। साधक का शरीर ही यथार्थ में मन्दिर बनेगा और उसी में शिव सपरिवार प्रकट होंगे—यह हमारी पूजा का यथार्थ है अन्यथा बालवत् हम उन विग्रहों के गंधमाल्य अर्पित करके भक्ति मन्दाकिनी में अवगाहन करने की सात्विक अनुभूति तक ही पहुँच पाएंगे। वे शिव दर्शन को कैलाश शिखर की परिक्रमा करते हैं, उनके योगेश्वर्य को श्रद्धाचक्षु से देखकर गद्गद् हो लेते हैं, उनके आभ्यन्तर में प्रतिष्ठित शिव प्रकट नहीं होते।

शिव को अभिव्यक्त होने के लिए जिस वीर्य और ज्ञान की भूमा चाहिए उसे सिद्ध करने पर स्वप्रतिष्ठ शिव स्वतः प्रकट होते हैं, यही सायुज्यलाभ कहलाता है। आभासिक रूप में हम शिव परिवार का दिव्य दर्शन करें, उनके योगेश्वर्य की अलौकिक अनुभूति करें, उनके पार्थिव लिंग से विश्वलिंग का अनुमान करें—यही इस विवेचन का प्रयोजन है।

इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में विस्तारित विराट् का स्वरूप समष्टि रूप में ऐसा ही है। सम्यक् वर्तुल अथवा अन्य आकारों में यह अगण्य पिण्डों का समूह, इनका गतिक्रम अण्डाकार आकृति ही बनाता है और उन अनन्त ब्रह्माण्डों (ब्रह्माण्ड शब्द में प्रयुक्त अण्ड शब्द ही इसका अन्तः साक्ष्य है) का परिभ्रमणपथ दैर्ध्य-विस्तृत होने से अण्डाकार होता है—यह तथ्य किन्हीं उपकरणों से साध्य हो जाएगा—ऐसा संभव नहीं है क्योंकि वह उपकरण भी अभी साध्य—संभव नहीं है तो भी हमारी ज्ञानचक्षु अतिविकसित हो

जाए तो ऐसी ही आकृति बनेगी—यह आत्मविश्वास है। इस आत्म विश्वास का निर्द्वन्द्व आधार विश्वास है क्योंकि जिस ऋषि ने इस प्रतीक को स्थापित किया उसकी चेतना विश्वदर्शिनी रही थी।

शिव के रूप में मध्य में अवतरित शिव अलक्ष्य के लक्षित होने की मूल अवस्था है और उनके वाम भाग में स्थित पार्वती शिव के तेजस् को प्रकट करने वाली ही नहीं धारण और गुणित करने वाली गुणवती अभिव्यक्ति है। पार्वती सर्गप्रवण है, शिव को सृजनमुखी बनाने की मूल प्रेरणा उमा है यों भी कह सकते हैं कि शिव की सहज प्रेरणा ही ईश्वर की सक्रिय वृत्ति ही उमा है। उनके संहार कर्म, रुद्रभाव, को शिव-शंकर रूप में देखना ही शिवलिंग की ऊर्ध्वमुखी स्थापना का बोध्य है। सृष्टि अथवा उद्भव और समाहार तक की सहज अवस्थाओं की प्रतीति शिव-पार्वती तक प्रसृत है। गणपति उनका अनुग्रह और कार्तिकेय उनका निग्रह व्यापार है। शिव—परमशिव—के प्रकट होने की सारी विधियाँ और मुद्राएँ इस शिव परिवार में प्रकट होती हैं। यदि हम आख्यान की रूपक शैली और कथा की सरसता से मुक्त हो सकें तो शिव का यथार्थ दर्शन हमारे जीवन के वर्तनकाल में ही दृष्टिगत हो जाएगा। एक सूक्ष्मदेह जिस विधि से स्थूल आवरणों को धारण करता है वे विधियाँ ही गणपति हैं, जीव के रूप में जन्म ले रहे ये गण (घटक या इकाइयाँ) जिस व्यवस्था से परिचालित होते हैं वह व्यवस्था ही उनकी स्वामिनी होती है इस दृष्टि से यदि हम गणपति को उस व्यवस्था का मूल व केन्द्र भूत मान लेते हैं तो उनमें सहज स्वामित्व आ जाता है। विसर्ग किंवा मूर्त होने की क्रिया को पालित-पोषित-गुप्त रखने की जो सहवर्ती क्रिया है वह उमा, गौरी या पार्वती कही जाती है। यही क्रिया जब विजातीय को अनुशासित करती है तो स्कन्द कहलाती है। नन्दिकेश्वर इनका संवाहक है।

इस प्रकार इन पांच प्रतीकों का एक घटक है एक समग्रवर्ग है जिसका अपना व्यवहार है किन्तु वह स्वयं की ही विस्तृति के लिए इतर घटकों से अन्तःस्यूत है जिन्हें हम विष्णु और ब्रह्मा के नाम से जानते हैं।

शिव का यह यथार्थ स्वस्थ व्यक्ति के लिए है। जो लोग-सन्तापतप्त है अथवा अभावों से प्रताड़ित है उनके लिए शिव स्तुत्य हैं, उनका लिंगभूत विग्रह श्रद्धा से पूजनीय है।

रोगग्रस्त और आसन्नमृत्यु जनों के लिए शिव एकमेव शरण्य हैं। काल का कवल कर जाने वाले महाकाल की शरण में गया व्यक्ति मृत्युभय से मुक्त हो जाता है। धन

प्राप्ति के लिए शिव की उपासना तात्कालिक अथवा सीधे प्रभाव नहीं दिखाया करती किन्तु देवताओं का कोषाध्यक्ष यक्षराज कुबेर उनका आसन्नवर्ती है इसलिए धनप्राप्ति शिवोपासना का एक आनुषंगिक फल हो सकता है प्रमुख नहीं। पुत्र प्राप्ति के लिए भी शिव की आराधना करते हैं, यह आराधना व्यक्ति को पुत्रवान् बनाती भी है पर उनकी वास्तविक आराधना मुक्ति के लिए की जाती है। वे स्वयं दिगम्बर हैं पर संसार के समस्त वैभव उनके चरणों में बिखरे हैं, सृष्टि का ऐश्वर्य उनके संकेत का अनुगामी है इसलिए उनमें अज्ञात यौवना की-सी सरल मनोहरता है, ईशत्व उनका ही यथार्थ विशेषण है। आकांक्षापूर्ति और वासना विनाश दोनों में समर्थ है—त्र्यंबकेश्वर।

शिव अथर्वशीर्ष की फलश्रुति में इस विद्या की उपासना विधि सांकेतिक रूप में है पर उनकी आराधना से साधक में क्या परिवर्तन होगा—यह तथ्य विस्तार से समझाया गया है। शिवोपासक द्वादशी को विशेष महत्त्व देते हैं और उस दिन व्रत रख संध्या समय शिव का पूजन करके भोजन करते हैं। प्रायः शिव की आराधना करने वाले भांग-गांजे का सेवन शिव के प्रसाद के रूप में करते हैं किन्तु यह शिव की आराधना करने की शर्त नहीं है।



शिवाथर्व शीर्ष

ओम् देवा ह वै स्वर्गलोक मायंस्ते रुद्रमपृच्छान् को भवानिति सो ब्रवीदहमेकः
 प्रथममासोद्वर्तामि च भविष्यामि च नान्यः कश्चिन्मतौ व्यतिरिक्त इति । सोन्तरादन्तरं
 प्राविशद्दिशश्चान्तरं प्राविशत्सोहं नित्यानित्यो व्यक्ताव्यक्तो ब्रह्माब्रह्माहं प्रांचः प्रत्यंचोहं
 दक्षिणांच उदंचोहम् अघश्चोर्ध्वश्चाहं दिशश्च प्रतिदिशश्चाहं पुमानपुमान्, स्त्रियश्चाहं
 सावित्र्यहं गायत्र्यहं त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप् चाहं छान्दोहं सत्योहं गार्हपत्यो
 दक्षिणाग्निराहवनीयोहम् गौरहं गौर्यहम् ऋगहं यजुरहं सामाहं अथर्वागिरसोहम्
 ज्येष्ठोहम् श्रेष्ठोहम् वरिष्ठोहम् आपोहं तेजोहम् गुह्योहमरत्योहमक्षरमहं क्षरमहं पुष्करमहं
 पवित्र महं उग्रंच बलिश्च पुरस्ताज्ज्योति रित्यहमेव सर्वेभ्यो मामेव स सर्वः समो यो
 मां वेद स देवान्वेद स सर्वान् वेदान् सांगानपि ब्रह्म ब्राह्मणैश्चगां गोभिर्ब्राह्मणान्
 ब्राह्मणेन हविर्हविषा आयुरायुषा सत्यं सत्येन धर्मेण धर्मं तर्पयामि स्वेन तेजसा ।

ततो ह वै ते देवा रुद्रमपृच्छान् ते देवा रुद्रमपश्यन् ते देवा रुद्रमध्यायन् ते देवा
 ऊर्ध्वबाहवो रुद्रं स्तुवन्ति ।

ओम् यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः । यो वै रुद्रः स
 भगवान् यश्च विष्णुस्तस्मै वै नमो नमः । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च स्कन्दस्तस्मै वै
 नमो नमः । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च इन्द्रस्तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान्
 यश्चाग्निस्तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च वायुस्तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान्
 यश्च सूर्यस्तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च सोमस्तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान्
 येष्टौग्रहास्तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् ये चाष्टौ प्रतिग्रहास्तस्मै । यो वै रुद्रः स
 भगवान् यश्च भूस्तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च भुवस्तस्मै । यो वै रुद्रः स
 भगवान् यश्च स्वस्तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् महस्तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान्
 या च पृथिवी तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यच्चान्तरिक्षं तस्मै । यो वै रुद्रः स
 भगवान् या च द्यौस्तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् याश्चापः तस्मै । यो वै रुद्रः स
 भगवान् यश्च तेजस्तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च कालस्तस्मै । यो वै रुद्रः स

भगवान् यश्च यमस्तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च मृत्युस्तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यच्चामृतं तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्चकाशः तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च विश्व तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च स्थूलं तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च सूक्ष्मं तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च शुक्लं तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च कृष्णं तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च कृत्स्नं तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च सत्यं तस्मै । यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च सर्वं तस्मै ।

भूस्ते आदिर्मध्यम् भुवस्ते स्वस्ते शीर्षं विश्वरूपोसि ब्रह्मैकस्त्वम् द्विधा त्रिधा वृद्धिस्त्वम् शान्तिस्त्वम् पुष्टिस्त्वम्, हुतमहुतम् दत्तमदत्तं सर्वमसर्वं विश्वमविश्वं कृतमकृतं परमपरम् परायणश्चत्वम् अपामसोममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् । किम् नूनमस्मान् कृष्णवदराति किमु धूर्तिरमृतं मृतस्य सोमसूर्यं पुरस्तात् सूक्ष्मः पुरुषः सर्वं जगद्धितं वा एतदक्षरं प्राजापत्यं सौम्यं सूक्ष्मं पुरुषं ग्राह्यमग्राह्येण भावं भावेन सौम्यं सौम्येन सूक्ष्मं सूक्ष्मेण वायव्यं वायव्येन ग्रसति तस्मै महाग्रासाय वै नमो नमः हृदिस्थाः देवताः सर्वाः हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः । हृदि त्वमसि यो नित्यं तिस्रो मात्राः परस्तु सः । तस्योत्तरतः शिरो दक्षिणतः पादौ यः उत्तरतः स ओंकारः यः ओंकारः सः प्रणवः यः प्रणवः सः सर्वव्यापी यः सर्वव्यापी सोनन्तः योनन्तः तत्तारम् यत्तारम् तच्छुक्लम् यच्छुक्लं तत्सूक्ष्मं यत्सूक्ष्मम् तद् वैद्युतम् यद् वैद्युतम् तत्परं ब्रह्म यत्परं ब्रह्म स एकः य एकः स रुद्रः यो रुद्रः स ईशानः य ईशानः सः भगवान्महेश्वरः ।

अथ कस्मादुच्यते ओंकारः । यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वं उत्क्रामयति तस्मादुच्यते ओंकारः । अथ कस्मादुच्यते प्रणवः यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुःसामाथर्वागिरसं ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः । अथ कस्मादुच्यते सर्वव्यापी यस्मादुच्चार्यमाण एव यथा स्नेहेन पललपिण्डमिव शान्तरूपमोतप्रोतमनुप्राप्तो व्यतिषिक्तश्च तस्मादुच्यते सर्वव्यापी । अथ कस्मादुच्यते अनन्तः यस्मादुच्चार्यमाण एव तीर्यगूर्ध्वमधस्तात् च अस्यान्तो नोपलभ्यते तस्मादुच्यते अनन्तः । अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भं जन्मजरामरणव्याधिभयात् तारयति त्रायते च तस्मादुच्चार्यते तारम् । अथ कस्मादुच्यते शुक्लं यस्मादुच्चार्यमाण एव क्लन्दते क्लामयति च तस्मादुच्यते शुक्लं । अथ कस्मादुच्यते सूक्ष्मं यस्मादुच्चार्यमाण एव सूक्ष्मो भूत्वा शरीराण्यधितिष्ठति सर्वाणि चांगान्यभिमृश्यति तस्मादुच्यते सूक्ष्मम् । अथ कस्मादुच्यते वैद्युतं यस्मादुच्चार्यमाण एव व्यक्ते महति तमसि द्योतयाति तस्मादुच्यते वैद्युतम् । अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म यस्मादुच्चार्यमाण

एव परमपरं परायणंश्च बृहद् बृहत्याबृहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म । कस्मादुच्यते एकः यः सर्वान् प्राणान् संभक्ष्य संभक्षणेनाजः संसृजति विसृजति तीर्थमेके व्रजन्ति तीर्थमेके दक्षिणाः प्रत्यंचः उदंचः प्राचोपि व्रजन्त्येके तेषां सर्वेषामिह संगतिः साकं स एकोभूदन्तश्चरति प्रजानां तस्मादुच्यते एकः । अथ कस्मादुच्यते रुद्रः यस्मात् ऋषिभिः नान्यैर्भक्तैर्दुतमस्य रूपमुपलभ्यते तस्माद् उच्यते रुद्रः । अथ कस्मादुच्यते ईशानः यः सर्वान्देवानीशत ईशानीभिः जननीभिश्च शक्तिभिः अभित्वा शूर नोनुमो दुग्धा इव धेनवः ईशानमस्य जगतः स्वर्हंशमीशानमिदं तस्थुष इति तस्यादुच्यते ईशानः । अथ कस्मादुच्यते भगवान्महेश्वरः यस्माद् भक्तान् ज्ञानेन भजत्यनुगृह्णाति च वाचं संसृजति विसृजति च सर्वान् भावान् परित्यज्यात्मज्ञानेन योगैश्वर्येण महति महीयते च तस्मादुच्यते भगवान् महेश्वरः तदेतत् रुद्रचरितम् ।

एषो ह देवः प्रदिशोनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः । स इव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनाः तिष्ठति सर्वतोमुखः । एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्मै य इमान् । लोकान् ईशत ईशानीभिः । प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति चान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोप्ता । यो योनिमधितिष्ठत्येको येनेदं सर्वं विचरति सर्वम् । तमीशानं देवं वरमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति । समां हित्वा हेतुजालस्य मूलं बुद्ध्या संचितं स्थापयित्वा तु रुद्रे । रुद्रमेकत्वमाहुः शाश्वतं वै पुराण मीषमूर्जेण पशवोनुनामयन्तं मृत्युपाशान् । तदेतेनात्मनेतेनार्धचतुर्थेन मात्रेण शान्तिं संसृजति पशुपाशविमोक्षणं या सा प्रथमा मात्रा ब्रह्मदैवत्या रक्ता वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद् रुद्रपदम् । या सा द्वितीया मात्रा विष्णु दैवत्या कृष्णा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद् वैष्णवं पदम् । या सा तृतीया मात्रा ईशान दैवत्या कपिलावर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद् ऐशानं पदम् । या सार्धचतुर्थीमात्रा सर्वदैवत्याव्यक्तीभूता खं विचरति शुद्धा स्फटिक सन्निभा वर्णेन यस्तां ध्यायति नित्यं स गच्छेद् पदमनामयम् । तदेतदुपासीत मुनयो वाग्वदन्ति न तस्य ग्रहणमयं पन्था विहित उत्तरेण येन देवा यान्ति येन पितरो येन ऋषयः परमपरं परायणं चेति वालाग्रमात्रं हृदयस्य मध्ये विश्वं देवं जातरूपं वरेण्यं तमात्मस्थं येनु पश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः भवति नेतरेषाम् । यस्मिन् क्रोधं यां च तृष्णां क्षमां चाक्षमां हित्वा हेतुजालस्य मूलं बुद्ध्या संचितं स्थापयित्वा तु रुद्रे रुद्रमेकत्वमाहुः । रुद्रो हि शाश्वतेन वै पुराणेनेषमूर्जेण तपसा नियन्ताग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म व्योम इति भस्म सर्वं हवा इदं भस्म मन एतानि चक्षुषि यस्मादव्रतमिदं पाशुपतं यद्भस्म नांगानि संस्पृशेत् तस्माद्

ब्रह्म तेदतत्पाशुपतं पशुपाशविमोक्षणाय योग्नी रुद्रो योप्सु अन्तः यः
 औषधीर्वीरुधमाविवेश । य इमा विश्वाभुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय नमोस्तु अग्नये ।
 यो रुद्रो ग्नी यो रुद्रः अप्सु अन्तः यो रुद्रः औषधिर्विरुध आविवेश यो रुद्र इमा
 विश्वा भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय वै नमो नमः । यो रुद्रः अप्सु यो रुद्र औषधीषु
 यो रुद्रो वनस्पतिषु येन रुद्रेण जगदूर्ध्वं धारितं पृथिवी द्विधा त्रिधा धर्ता धारिता
 नागाः ये अन्तरिक्षं तस्मै रुद्राय वै नमो नमः मूर्धनिमस्य संसेव्याप्यथर्वा हृदयं च यत्
 मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रेरयत्यवमानोधिशीर्षतः तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोश समुज्झितः ।
 तत्प्राणोभिरक्षति शिरोन्तमथो मनः यस्मिन्निदं सर्वमोतप्रोतं तस्मादन्यः परं किञ्चिन्नास्ति
 न तस्मात्पूर्वं न परं तदस्ति न भूतं नोत भव्यं यदासीत् । सहस्रपादेक मूर्धा व्याप्तं स
 एवेदमावरीवर्ति भूतं । अक्षरात्संजायते कालः कालाद् व्यापक उच्यते व्यापको हि
 भगवान् रुद्रो भोगायमानो यदा रुद्रः शेते तदा संहार्यते प्रजाः । उच्छ्वसिते तपो
 भवति तमसः आपोश्चंगुल्या मथिते मथितं शिशिरे शिशिरं मथ्यमानं फेनं भवति
 फेनादण्डं भवत्यण्डाद् ब्रह्मा भवति ब्रह्मणो वायुः वायोरोंकार ओंकारात् सावित्री
 सावित्र्याः गायत्री गायत्र्याः लोकाः भवन्ति अर्चयन्ति तपः सत्यं मधु क्षरन्ति यद्
 ध्रुवम् । एतद्धि परं तपः । आपो ज्योति रसोमृतं ब्रह्म भूर्भुवःस्वरोम् नम इति ।

(फलश्रुति) य इदमथर्वशिरो ब्राह्मणोधीते अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति अनुपनीत
 उपनीतो भवति । सः अग्निपूतो भवति सः वायुपूतो भवति, सः सूर्यपूतो भवति, सः
 सोमपूतो भवति, सः सत्यपूतो भवति, सः सर्वे देवैः ज्ञातो भवति । सः सर्वे वेदैरनुध्यातो
 भवति, सः सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति । तेन सर्वैः ऋतुभिरिष्टं भवति ।
 गायत्र्याः षष्टिसहस्राणि जप्तानि भवन्ति । प्रणवानामयुतं जप्तं भवति च चक्षुषः पंक्ति
 पुनाति । आसप्तमात् पुरुषयुगान्पुनाती त्याह भगवानथर्वशिरः । सकृज्जप्त्वा एव शुचिः
 सः पूतः कर्मण्यो भवति द्वितीयं जप्त्वा गणाधिपत्यवाप्नोति तृतीयं जप्त्वा
 एवानुप्रविशति सत्यमोम् सत्यम् ओम् सत्यं ओम् सत्यम् ।

□□□

पक्षिराज प्रयोग

मैंने पहले कुछ पुस्तकों में पक्षिराज प्रयोग की चर्चा की थी। उस सम्बन्ध में अनेक जनों की जिज्ञासायें आईं किन्तु मैंने वह प्रयोग बताने में असमर्थता प्रकट कर दी थी। दो कारण थे एक तो उग्र होने के कारण इसका विधि-विधान सम्पन्न करने की योग्यता हरेक में नहीं हो सकती, दूसरे यदि चूक हो जाए तो साधक को अनेक प्रकार की विपत्तियाँ भोगनी पड़ती हैं कई बार ऐसे लोग पागल भी हो जाया करते हैं—ऐसी स्थिति में जिम्मेदार कौन हो ? दूसरा प्रमुख कारण यह भी था कि इस प्रयोग से शत्रुनिग्रह से लेकर उसके मारण तक की क्रिया सम्पादित की जाती है हम आवेशग्रस्त होकर यदि किसी व्यक्ति के लिए मारण प्रयोजन से ही यह प्रयोग कर डालें तो एक दण्डनीय कार्य होता है। माना, सरकार और कानून की निगाह में हम पर कोई दोषारोपण नहीं हो रहा किन्तु हमारे अपने अन्तःकरण में स्थित एक तटस्थ द्रष्टा की दृष्टि से हम नहीं बच सकते और व्यवस्था का अतिक्रमण करने का अपराध तो हम करते ही हैं, निश्चय से उस अपराध का दण्ड हमको भोगना पड़ेगा।

पूज्य स्वर्गत श्री हरि शास्त्री जी (जयपुर) इस प्रयोग की बहुत प्रशंसा किया करते थे। उनका कहना था कि सामान्य मारण प्रयोग जहाँ असमर्थ हो जाते हैं वहाँ यह अमोघ है। साध्य किसी भी स्थिति का हो, उसका कैसा भी रक्षा कवच हो इस अस्त्र से वह आहत होता ही है। जो लोग इस प्रयोग से प्रभावित नहीं हो सकते ऐसे व्यक्ति नहीं मिलते, विशेषकर आज के युग में। बहुत वर्ष पहले यहाँ के एक धर्म विप्लवी पर एक स्थानीय व्यक्ति ने मारण (मूठ) प्रयोग किया था और वह असफल रहा, इस पर उसने कहा था कि इस व्यक्तिकी आयुष्य बहुत है। आगे चलकर उसका कथन सत्य प्रमाणित हुआ। वह व्यक्ति सौ से अधिक वर्ष का होकर मरा। मेरा मानना है—पक्षिराज वहाँ अमोघ रहता।

अभी कुछ समय पहले मेरे विदेश प्रवास में एक विदेशी व्यक्ति का पुत्र राजद्रोह के अपराध में बन्दी बना लिया गया और कारागृह में डाल दिया गया। उसकी मुक्ति के लिए मैंने पचनेउरी-बस्ती निवासी राजदेव मिश्र को कहा। उनकी निष्ठा और योग्यता पर मुझे

भरोसा था और वे ही इस प्रयोग को कर सकते थे। उन्होंने किया, उतनी तीव्र गति से नहीं, सामान्य गति प्रमाण से किया। परिणाम शीघ्र ही सामने आया, वह मुक्त हो गया। उसके शेष साथी मार दिये गये।

आज की मानसिकता को देखते हुए लगता है कि द्वेष और असामाजिकता हमारी दिनचर्या हो गई है। किसी शरीफ व्यक्ति का जीना कठिन हो गया है। हमारे यहाँ का कानून अपनी जगह शुद्ध है किन्तु उसका अनुपालन इतना शिथिल मन्द गति है कि उसका भय समाप्त हो गया है फिर व्यक्ति का बुद्धि विकास इतना तीव्र हो चुका है कि उसके सामने कानून असहाय-अपंग-सा दिखता है। इससे अधिक अशोभन बात क्या होगी कि लोग न्यायालयों की निष्ठा पर अंगुलि उठाने लगे हैं। ऐसे वातावरण में शान्तिप्रिय अतएव एकाकी व्यक्ति को जीने का अधिकार नहीं है, वह सबके लिए यातना का पात्र है। इस दूषित वातावरण से पीड़ित सज्जन व्यक्ति ही अधिक हैं, दुष्टों के प्रताड़न के पात्र ये सज्जन व्यक्ति ही होते हैं। मैं अपने व्यक्तिगत जीवन में शान्ति की पूजा करता हूँ, आक्रामक न होना और धैर्य से सहन करना, यदि विषमतायें सहनशक्ति से आगे बढ़ जाएं तो भगवान् से प्रार्थना करने के सिवा इन अस्त्रों का प्रयोग करने का विचार भी नहीं आता। क्षणिक उत्तेजनावश यदि कभी आ भी गया तो थोड़े समय बाद वह लुप्त हो जाता है, इस दृष्टि से मैं अपने प्रति आश्वस्त हूँ कि मैं उस शास्त्रीय निर्देश का पालन कर रहा हूँ। किन्तु दुर्जनों की अनर्गल प्रवृत्ति के प्रभाव विस्तार को देखकर इन अस्त्रों का प्रयोग करने की सहमति देनी पड़ी है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह प्रयोग अमोघ है किन्तु यहाँ इसका जो विधान एवं विस्तार दिया गया है वह केवल शत्रु निग्रह तक सीमित है। अनेक बार ऐसा लगता है कि रामरक्षा, लांगूलास्त्र रिपुंजय, नारयणास्त्र, बगलामुखी, प्रत्यंगिरा जैसे प्रयोग भी हतवीर्य हो गए हैं। हतवीर्य इस अर्थ में कि आज के व्यस्त जीवन में इतना समय नहीं है कि हम पर्याप्त समय लगाकर उनके अनुष्ठान कर पाएँ इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि इन उत्कृष्ट प्रयोगों को करने लायक योग्यता हमारे में नहीं है। ऐसे अनेक कारण हैं जिनके कारण ये प्रयोग उतना प्रभाव नहीं दिखला पाते, ऐसी स्थिति में यही एकमात्र उपचार है कि उग्रतम प्रयोग किए जाएँ तो कम मात्रा में जपने पर भी पूरा काम कर सकें।

यद्यपि इस प्रयोग को स्पष्ट करने में मैंने अपनी तरफ से कोई भी प्रश्न या सन्देह शेष नहीं रहने दिया है, फिर भी मेरा आग्रह है कि करने से पहले इसका उपदेश किसी समर्थ व्यक्ति से ले लिया जाए और इसके रहस्यों वा क्रिया विवरणों को समझ लिया

जाए। हम खूब समझते हैं, हमारी योग्यता में कोई संशय नहीं फिर भी एक बार किसी विज्ञ व्यक्ति से इसे ग्रहण कर लेना हमारे लिए कल्याण कर ही होगा। विज्ञजन से सुनने पर हमें ज्ञात होगा कि हमारी योग्यता, हमारा उच्चारण और हमारी क्रियाविधि में कितना सुधार होना बाकी था।

इसी प्रयोग विवेचन में प्रायश्चित्त विधि भी लिख दी है, उसे सम्पन्न कर लिया जाए। यह संभव न हो तो भगवान् से प्रार्थना कर ली जाए कि यह काम्य प्रयोग में नहीं कर रहा—मुझे विवश किया जा रहा है।

पक्षिराज वास्तव में रौद्री का ही एक स्वरूप है। भगवान् रूद्र के शिवांश गणपति हैं, हनुमान, शिव और रुद्रांश के मिश्रित रूप हैं, स्कन्द में उनका विध्वंस प्रच्छन्न है किन्तु वीरभद्र व भैरव में उनका रौद्रभौव प्रखर है इसलिए इन स्वरूपों की साधना करने वाले व्यक्ति को शुद्ध-संयमी और साहस सम्पन्न होना ही चाहिए।

यह प्रयोग मंगल से रवि तक पांच दिन ही किया जाता है किन्तु शत्रुओं से पीड़ित रहने वाले व्यक्ति इसे नित्यकर्म के रूपमें ही स्वीकार कर लें तो कोई आपत्ति नहीं। ब्रह्मगायत्री जपने वाले इसे न करें क्योंकि इसके प्रभाव से वह प्रभाव अन्तर्हित हो जाएगा। इसके साथ ही इसे नरसिंह के मन्दिर में न किया जाए।

पक्षिराज के विविध प्रयोग भिन्न-भिन्न तन्त्र ग्रन्थों में दिए गए हैं। किसी में आकाश भैरव, किसी में शरभ, किसी में शालुव नाम से इसके प्रयोग वर्णित हैं। इनके अतिविकट, महाभीषण रूप की कल्पना करना भी एक साहस का काम है। जिस स्वरूप ने नरसिंह जैसे अवतार को पैरों में दबाकर उड़ान भरी थी वह कितना घोर स्वरूप रहा होगा—यह सहज अनुमान करने योग्य है। वास्तव में एक ही प्रकार के प्राणी की आकृति से यह संभव नहीं होता इसलिए गरुड़ जैसे पंख, वानर जैसी पूंछ, सिंह जैसे आठ पैर, आधा शरीर पशु जैसा, आधा पक्षी जैसा, तीन नेत्र, दो शिर सहस्रबाहु ऐसा विचित्र विभीषण आकार, साधना के लिए चुनना हमारी विवशता हो सकती है किन्तु यदि इसे स्वल्प रूप में भी साधित कर लिया तो शत्रु और उनका अवरोध कैसे टिक पायेगा ?

शास्त्रीय मर्यादा एवं व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक साधना में यंत्र की स्थापना आवश्यक रूप से की जाती है। स्वाभाविक है—इसकी साधना में भी यंत्र निर्माण किया जाता है। यंत्र रचना में ध्यान रखने की बात यह है कि पहले केन्द्र से चलेंगे फिर अगले-से-अगले को लिखते चले जायेंगे। लिखने का यह क्रम सृष्टिक्रम कहलाता है। बाहर वाले से प्रारम्भ करके भीतर की तरफ की आकृतियों को लिखना संहार क्रम कहलाता है। संहार

क्रम से सामान्यतया यंत्र नहीं लिखे जाते। पक्षिराज प्रयोग के लिए विभिन्न प्रकार के यंत्र निर्माण की विधियाँ दी गई हैं और उनमें यही सृष्टिक्रम व्यवहार में लाया जाता है। पूजन में भी सृष्टिक्रम से ही पूजन किया जाता है। यथार्थ में यंत्र उस मंत्र का विस्तृत विवरण है। बीज के अथवा नाभिक के रूप में वह मंत्र एक ही है और स्वतंत्र घटक है किन्तु उसके विस्तार में जितने आवरण होते चले जाते हैं उसकी शक्ति का माप भी वैसे ही बढ़ता चला जाता है।

इसकी विशिष्ट विधि से यह प्रकट हो जाएगा कि कितने शक्ति प्रतीक इसमें दाता बनते हैं। पूजा विधान में बहुत आडम्बर रचना न आवश्यक है न उपयोगी ही फिर भी इस सबसे साधक में एक प्रकार की आन्तरिक पवित्रता उदित होती है। जैसे बद्रीनाथ की यात्रा पर पैदल जाने वाले व्यक्ति के लिए बदरी विशाल के विग्रह का दर्शन करना जीवन की कृतार्थता बन जाता है वैसे ही इतने साधन सामग्री जुटाकर उन्हें देवता के पूजन का उपचार समझकर श्रद्धा-निष्ठापूर्वक अर्पित करना हमारे में देवत्व का उदय करता है।

यदि पांच दिन का ही प्रयोग किया जाता है तो शुद्ध सात्विक भोजन, भूमि शयन, ब्रह्मचर्य आदि का पालन किया जाए। इसके मंत्र, सहस्रनाम आदि को नित्यकर्म में जोड़ लिया जाता है तो व्यवस्थायें शिथिल हो जाती है।

पक्षिराज पंचांग में हृदय, सहस्रनाम, कवच, मंत्र और यंत्र माने जाते हैं। संक्षेप रूप में ये सब दे दिए गए हैं। विस्तार करने पर एक विशद विशाल ग्रन्थ इसी पद्धति के निरूपण में बन जाता है और अत्यन्त उग्र होने के कारण तकनीकी जटिलता भी उसमें रहती इसलिए एक ज्ञानवान् व्यक्ति जितना समझ सकता है उस स्तर पर इसका संकलन प्रस्तुत है।

ध्यान

अष्टाधिश्च सहस्रबाहुरनिलच्छायाशिरोयुग्मभृत,

द्वित्र्यक्षोतिजवो द्विपुच्छ उदितः साक्षान्सिंहापहा।

अर्धेनापि भगाकृतिः पुनरथोप्यर्धेन पक्ष्याकृतिः

श्री वीरः शरभः स पातु रुचिरं नीत्वा सदा नो हृदि॥

ओम नमो अष्टपादाय सहस्रबाहवे द्विशिरसे त्रिनेत्राय द्विपक्षाय अग्निवर्णाय
मृगविहंगमरूपाय वीर शरभेश्वराय हुं फट्।

अरुणमरुणमालालंकृतं शंकराग्रैः,

विधृतपरशु शक्तिं पुष्पबाणेषुचापम्।

विविधमणिफणीन्द्रैः भूषणैः भूषितांगम्,

शरभमखिलनाथं शालुवेशं नमामि ।।

सर्वप्रथम पक्षिराज गायत्री की एक माला जपे।

पक्षिराज गायत्री है-

“पक्षिराजाय विद्महे शरभेश्वराय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्”

आसन बिछा कर ‘ह्रीं आधारशक्ति कमलासनाय नमः।’ इस मंत्र से आसन को पवित्र करके नित्यकर्म, भूत शुद्धि, विध्न निरसनादि करके—

बायीं तरफ प्रणाम करते हुए अथवा बाएं कान का स्पर्श करते हुए—गुं गुरवे नमः बोलकर गुरु को प्रणाम निवेदन करें, दाहिनी तरफ हाथ जोड़कर या दाहिने कान का स्पर्श करते हुए—‘गं गणपतये नमः’ बोलकर गणपति को प्रणाम निवेदन करें। ‘क्षं क्षेत्रपालाय नमः’ बोलकर पीठ पीछे की तरफ स्पर्श करें और ‘श्री शरभेश्वराय नमः’ बोलकर सारे अंग का स्पर्श करें।

विनियोग

अस्य श्री शरभेश्वरमंत्रस्य कालाग्निरुद्र ऋषिः जगती छन्दः शरभदेवता खं बीजम् स्वाहा शक्तिः फट् कीलकम् स्वेष्टप्रयोगसिद्ध्यर्थं जपे विनियोगः ।

ऋष्यादि न्यास

कालाग्नि रुद्र ऋषये नमः शिरसि जगती छन्दसे नमः मुखे, भगवत्यै शरभदेवतायै नमः हृदये, खं बीजाय नमः गुह्ये, स्वाहा शक्तये नमः पादयोः, फट् कीलकाय नमः नाभौ, विनियोगाय नमः सर्वांगे ।

करन्यास

खें खां अं कं खं गं घं ङं आं अंगुष्ठाभ्यां नमः । खं फट्, इं चं छं जं झं जं ईं तर्जनीभ्याम् नमः प्राणग्रहासि प्राणग्रहासि हुम् फट् उं टं ठं डं ढं णं ऊं मध्यमाभ्याम् नमः । सर्व शत्रुसंहरणाय एं तं थं दं धं नं ऐं अनामिकाभ्यां नमः । शरभशालुवाय ओं पं फं बं भं मं औं कनिष्ठिकाभ्यां नमः । पक्षिराजाय हुम् फट् अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

हृदयादि न्यास

खें खां अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः । खं फट्, इं चं छं जं झं जं ईं शिरसे स्वाहा । प्राणग्रहासि हुम् फट् उं टं ठं डं ढं णं ऊं शिखायै वषट् । सर्व शत्रु संहरणाय

एं तं थं दं धं नं ऐं कवचाय हुम् । शरभशालुवाय ओं पं फं बं भं मं औं नेत्रत्रयाय
वौषट् । पक्षि राजाय हुं फट् स्वाहा अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अः अस्त्राय फट् ।

जप का मन्त्र

“ओम् खें खां खं फट् प्राणग्रहासि प्राणग्रहासि हुं फट् सर्वशत्रुसंहरणाय
शरभशालुवाय पक्षिराजाय हुं फट् स्वाहा” ।

यथा संख्याक जप करके यह जप पक्षिराज के ही समर्पित कर दे फिर शरभ
भगवान की स्तुति करें-

शरभस्तुति

देवाधिदेवाय जगन्मयाय शिवाय नालीकनिभाननाय,
शर्वाय भीमाय शराधिपाय नमोस्तु तुभ्यं शरभेश्वराय ॥
हराय भीमाय हरिप्रियाय भवाय शान्ताय परात्पराय ॥
मृडाय रुद्राय त्रिलोचनाय नमोस्तु तुभ्यं शरभेश्वराय ॥
शीतांशुचूडाय दिगम्बराय सृष्टिस्थितिः ध्वंसनकारणाय ।
जटाकलापाय जितेन्द्रियाय नमोस्तु तुभ्यं शरभेश्वराय ॥
कलंककण्ठाय भवान्तकाय कपालशूलाद्य कराम्बुजाय ।
भुजंगभूषाय पुरान्तकाय नमोस्तु तुभ्यं शरभेश्वराय ॥
शमादिषट्काय यमान्तकाय यमादि योगाष्टक सिद्धिदाय ।
उमाधिनाथाय पुरातनाय नमोस्तु तुभ्यं शरभेश्वराय ॥
घृणादिपाशाष्टक वर्जिताय लेखीकृतास्मिन् पथि पुंगवाय ।
गुणादिहीनाय गुणत्रयाय नमोस्तु तुभ्यं शरभेश्वराय ॥
कलादि वेदामृतकन्दलाय कल्याणकौतूहलकारणाय ।
स्थूलाय सूक्ष्माय सुरुपकाय नमोस्तु तुभ्यं शरभेश्वराय ॥
पंचाननायाखिल भासनाय पञ्चादशाणाय पराक्षराय ।
पंचाक्षरेशाय जगद्धिताय नमोस्तु तुभ्यं शरभेश्वराय ॥
नीलकण्ठाय रुद्राय शिवाय शशिमौलिने ।
भवाय भवनाशाय पक्षिराजाय ते नमः ॥
परात्पराय घोराय शंभवे परमात्मने ।
शर्वाय निर्मलांगाय शालुवाय नमो नमः ॥
गंगाधराय साम्बाय परमानन्द तेजसे ।

सर्वेश्वराय शान्ताय शरभाय नमो नमः ॥

वरदाय वरगंगाय वामदेवाय शूलिने ।

गिरिशाय गिरीशाय गिरजापतये नमः ।

कनक जठरकोदयदरक्तपानोन्मदेन,

प्रथित निखिलपीडा नारसिंहेन जाता ।

शरभ हर शिवेश त्राहि नः सर्वपापात्

अनिशमिह कृपालो शालुवेश प्रभो त्वम् ॥

शरभेश सर्वाधिक शान्तमूर्ते, कृतापराधानमरानपायान ।

विनीत विश्वद्विविधायतेन नमोस्तु तुभ्यं शरभेश्वराय ॥

दंष्ट्राननोग्रः शरभः सपक्षः चतुर्भुजश्चाष्टभुजश्चतुर्विधः ।

कोटीरांगेन्दुधरो नृसिंहः क्षोभाय ह्यस्मद्विपुहास्तु शंभुः ।

हुंकारी शरभेश्वरोऽष्टचरणः पक्षी चतुर्बाहुकः

पादाकृष्टनृसिंहविग्रहधरः कालाग्निकोटिदयुतिः ।

विश्वक्षोभहरः सहेतिरनिशं ब्रह्मेन्द्रमुख्यैः स्तुतो,

गंगाचन्द्रधरः पुरत्रयहरः सद्यो रिपुघ्नोस्तु नः ॥

मृगांगलांगूल सुचंचुपक्षो दंष्ट्राभिरष्टाङ्घ्रि भुजासहस्रः

त्रिनेत्र गंगेन्दुधरः प्रभाद्यः पायादपायाच्छरभेश्वरो नः ॥

नृसिंहमत्युग्रमदिव्यतेजः प्रकाशिनं दानवभंगदक्षम् ।

प्रशान्तिमन्तं विदधाति योमुं सोव्यादपायात् शरभेश्वरो नः ॥

यो भूत् सहस्रांशुशतप्रकाशः सपक्षि सिंहाकृतिरष्टपादः ।

नृसिंह संक्षोभ शमात्तरूप पायादपायात् शरभेश्वरो नः ॥

त्वां मन्युमन्तं प्रवदन्ति वेदाः त्वां शान्तिमन्तं मुनयो गृणन्ति ।

दष्टे नृसिंहे जगदीश्वरे ते सर्वापराधं शरभः क्षमस्व ।

करचरण कृतं वा कायजं कर्मजं वा

श्रवणनयनजं वा मानसं वापराधम् ।

विहितमविहितं वा सर्वमेतत् क्षमस्व,

शिव शिव करुणाब्धे श्री महादेव शंभो ॥

रुद्रः शंकर ईश्वरः पुरुरः स्थाणुः कपदी शिवो
 वागीशो वृषभध्वजः स्मरहरो भक्तिप्रियस्त्र्यंबकः ।
 भूतेशो जगदीश्वरश्च शरभो मृत्युञ्जयः श्रीपतिः
 अस्मान् कालगलोवतात् पशुपतिः शंभुः पिनाकीहरः ॥
 योस्मान्याहि भगवन्नः प्रसीद च पुनः पुनः ।
 इति स्तुतो महादेवः प्रसन्नो भक्तवत्सलः ॥
 यतो नृसिंह हरसे हर इत्युच्यते बुधेः ।
 यतो विभर्ति सकलं विभज्यत तमष्टधा ॥
 सुरानाह्लादयामास वरदानैरभीप्सितैः ।
 प्रसन्नोऽस्मि स्तवेनाहमनेन बिबुधेश्वराः ॥
 मयि रुद्रे महादेवे भजध्वं भक्तिपूरिताः ।
 ममांशोयम् नृसिंहोपि मयि भक्तितमोस्त्वह ॥
 इमं स्तवं पठेद्यस्तु शरभेशाष्टकं नरः ।
 तस्य नश्यन्ति पापानि रिपवश्च सुरोत्तमाः ॥
 नश्यन्ति सर्वरोगाणि क्षयरोगादिकानि च ।
 अशेष ग्रहभूतानि कृत्रिमाणि ज्वराणि च ॥
 सर्पं चौरादि शार्दूल राजपोत्रिमुखानि च ।
 अन्यानि च वनस्थानि नास्ति भीतिर्न संशयः ॥
 इत्युक्त्वान्तर्दधे देवि देवान्सर्वं स शालुवः ।
 ततस्तेपि स्वधामानि गताश्चाह्लादपूर्वकम् ॥
 एतत् शारभकं स्तोत्रं मंत्रभूतं जपेन्नरः ।
 सर्वान् कामानवाप्नोति शिवलोकं च गच्छति ।



दारुण सप्तक का विस्तृत प्रयोग

संकल्प

अद्य—मासे—पक्षे—तिथौ—वासरे—गोत्रोत्पन्न—अहं—रिपूणाम्। रिपोः
उच्चटन निग्रहार्थं दारुणसप्तकस्य—संख्याकं जपम् करिष्ये।'

विनियोग

अस्य श्री दारुण सप्तक महामन्त्रस्य वामदेव ऋषिः जगतीछन्दः शरभशालुव
कालाग्निरुद्रो देवता खं बीजम् ह्रीं शक्तिः हुम् फट् कीलकम् मम ये ये
प्रतिकूलकारिणः तेषां पलायनार्थं दारुण सप्तकमहं करिष्ये।

ऋष्यादि न्यास

वामदेव ऋषये नमः शिरसि, जगती छन्दसे नमः मुखे, शरभशालुव देवतायै
नमः हृदये, खं बीजाय नमः गुह्ये, ह्रीं शक्तये नमः पादयोः, हुम् फट् कीलकाय नमः
नाभौ, विनियोगाय नमः सर्वांगे।

करन्यास

ह्रं खां अंगुष्ठाभ्यां नमः, ह्रीं खीं तर्जनीभ्यां नमः, ह्रूं खूं मध्यमाभ्यां नमः ह्रैं खैं
अनामिकाभ्यां नमः, ह्रीं खीं कनिष्ठिकाभ्यां नमः ह्रः खः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः॥

हृदयादि न्यास

ह्रं खां हृदयाय नमः, ह्रीं खीं शिरसे स्वाहा, ह्रूं खूं शिखायै वषट्, ह्रैं खैं
कवचाय हुम्, ह्रीं खीं नेत्रत्रयाय वौषट् ह्रः खः अस्त्राय फट्।

ध्यान

चन्द्रकाग्निश्चिदृष्टिः कुलिशवरनखश्चंचलोत्पग्रजिह्वः

काली दुर्गा च पक्षी हृदयजठरगो भैरवो जाठराग्निः।

1. खाली स्थान में यथोचित मास पक्षादि बोल दे।

ऊरुस्थौ व्याधिमृत्यु शरभवरखगश्चण्डवातातिवेगः,

संहर्ता सर्वशत्रून् स जयति शरभः शालुवः पक्षिराजः ।

प्रयोग—खें खां घां घं हां हं फट् सर्वसंहरणाय शरभशालुवाय कालाग्निरुद्राय पक्षिराजाय हुं फट् स्वाहा ह्रीं—खीं—खीं—खं—नामानं शत्रुं नाशय ओं श्लीं पशु हुम् फट् घ्राण्येव हुम् फट् तं शीघ्रं नाशय स्वाहा सर्वज्ञ ओम् ह्रीं खें खें फट् घृणे हुम् फट् ।

कोपोद्रेकातिनिर्यन्निखिलपरिचरत् ताम्रभारप्रभूत

ज्वालामालाग्रदग्धस्मरतनु सकलं त्वामहं शालुवेश ।

याचे त्वत्पादपद्म प्रणिहितमनसो द्वेष्टि मां यः क्रियाभिः

तस्य प्राणाः प्रयाणं परशिव भवतः शूलभिन्नस्य तूर्णम् ॥

ओम् नमो भगवते वाडवानलभैरवाय ज्वल ज्वल वैरिकुलं दह दह वर्म वर्म ठः
ठः सर्वशत्रूणामुच्चाटनं कुरु कुरु हुम् फट् सर्वज्ञ ओम् ह्रीं खें खें फं घृणे हुम् फट् ।

“खें खां घां घं हां हं फट् सर्वशत्रुसंहारणाय शरभशालुवाय कालाग्निरुद्राय पक्षिराजाय हुं फट् स्वाहा ह्रीं—खीं—खीं—खं—नामानं शत्रुं नाशय ओं श्लीं पशु हुं फट् घ्राण्येव हुं फट् शीघ्रं नाशय स्वाहा सर्वज्ञ ओं ह्रीं खें खें फट् घृणे हुं फट्”
शम्भोस्त्वत्हस्त कुन्तक्षतरिपु हृदयान्निःस्रव ल्लोहितौघं पीत्वा पीत्वातिदीर्घां दिशि दिशि विचरास्त्वद्गणाश्चण्डमुखाः

गर्जन्तु क्षिप्रवेगाः निखिलजयकराः भीकराः खेललोलाः,

संन्रस्ताः प्रह्लादेवाः शरभ खगपते त्राहि नः शालुवेश ॥

ओम् नमो भगवते बाडवानलभैरवाय ज्वल ज्वल वैरिकुलं दह दह वर्म वर्म ठः
ठः सर्वशत्रूणामुच्चाटनं कुरु कुरु हुम् फट् सर्वज्ञ ओम् ह्रीं खें खें फं घृणे हुम् फट् ।

21

ओं खें खां घां घं हां हं फट् सर्वशत्रु संहरणाय शरभ शालुवाय कालाग्निरुद्राय पक्षिराजाय हुं फट् स्वाहा ह्रीं—खीं—खीं—खं—नामानं शत्रुं नाशय ओं श्लीं पशु हुम् फट् घ्राण्येव हुं फट् शीघ्रं नाशय स्वाहा सर्वज्ञ ओम् ह्रीं खें खें फट् घृणे हुम् फट् ।

सर्वादयं सर्वनिष्ठं सकल भयकरं त्वत्स्वरूपं हिरण्यम्
 याचेहं त्वाममोघं परिकरसहितं द्वेष्टि मां यः क्रियाभिः ।
 श्री शम्भोस्त्वत्कराब्जस्थित कुलिश कराघात वक्षः स्थलस्य
 प्राणाः प्रेतेशदूतग्रहगणपरिखाः क्रोशपूर्वं प्रयान्तु ।

ओम् नमो भगवते बाडवानलभैरवाय ज्वल ज्वल वैरिकुलं दह दह वर्म वर्म
 ठः ठः सर्वशत्रूणामुच्चाटनं कुरु कुरु हुम् फट् सर्वज्ञ ओम् ह्रीं खें खें फं घृणे हुम्
 फट् । 3 ।

ओं खें खां घ्रां घ्रं ह्रां हं फट् सर्वशत्रु संहरणाय शरभशालुवाय कालाग्निरुद्राय
 पक्षिराजाय हुं फट् स्वाहा ह्रीं—खीं—खीं—खं—नामानं शत्रुं नाशाय ओं श्लीं पशु
 हुम् फट् घ्राण्येव हुं फट् शीघ्रं नाशाय स्वाहा सर्वज्ञ ओम् ह्रीं खें खें फट् घृणे हुम्
 फट् ।

द्विष्मः क्षोण्यां वयं यन्तवपदकमलध्याननिर्धूतपापाः
 कृत्याकृत्यैर्विमुक्ताः विहगकुलपते खेलयाबद्धमूर्ते ।
 तूर्णत्वत्पादपद्म प्रभृति परशुना तुण्ड खण्डी कृतांगः
 स द्वेषी यातु याम्यं पुरमतिकलुषं कालपाशाग्रबद्धः ॥

ओम् नमो भगवते बाडवानलभैरवाय ज्वल ज्वल वैरिकुलं दह दह वर्म वर्म
 ठः ठः सर्वशत्रूणामुच्चाटनं कुरु कुरु हुम् फट् सर्वज्ञ ओम् ह्रीं खें खें फं घृणे हुम्
 फट् । 4 ।

ओं खें खां घ्रां घ्रं ह्रां हं फट् सर्वशत्रु संहरणाय शरभशालुवाय कालाग्निरुद्राय
 पक्षिराजाय हुं फट् स्वाहा ह्रीं—खीं—खीं—खं—नामानं शत्रुं नाशाय ओं
 श्लीं पशु हुम् फट् घ्राण्येव हुं फट् शीघ्रं नाशाय स्वाहा सर्वज्ञ ओम् ह्रीं खें खें फट् घृणे
 हुम् फट् ।

भीम! श्री शालुवेश प्रणतभयहर! प्राणजितदुर्मदानाम्,
 याचेहं चास्य गर्वप्रशमनमिहते स्वेच्छया बद्धमूर्तेः
 त्वामेवाशु त्वदंघ्रं यष्टक नख विगलद् ग्रीव जिह्वोदरस्य
 प्राणाः यान्तु प्रयाणं प्रकटित हृदयस्यायुरल्पायतेश ।

ओम् नमो भगवते बाडवानलभैरवाय ज्वल ज्वल वैरिकुलं दह दह वर्म वर्म
ठः ठः सर्वशत्रूणामुच्चाटनं कुरु कुरु हुम् फट् सर्वज्ञ ओम् ह्रीं खं खं फं घृणे हुम्
फट् । 5 ।

ओं खं खां घ्रां घ्रं ह्रां हं फट् सर्वशत्रु संहरणाय शरभशालुवाय कालाग्निरुद्राय
पक्षिराजाय हुं फट् स्वाहा ह्रीं—खीं—खीं—खं—नामानं शत्रुं नाशाय ओं श्लीं पशु
हुम् फट् ध्राण्येव हुं फट् शीघ्रं नाशाय स्वाहा सर्वज्ञ ओम् ह्रीं खं खं फं घृणे हुम्
फट् ।

श्री शूलं ते कराग्रस्थितमुसलगदार्वतवाताभिघाताद्
याता यातारियूथं त्वरित विघटनोद्धूत रक्तच्छाटाद् ।
संहृष्ट्वा योधनेज्यामखिल सुरगणाश्चाशु नन्दन्तु नाना
भूताः वेतालपूगः पिबन्तुतदखिलं प्रीतचित्तः प्रभक्तः

ओम् नमो भगवते बाडवानलभैरवाय ज्वल ज्वल वैरिकुलं दह दह वर्म वर्म
ठः ठः सर्वशत्रूणामुच्चाटनं कुरु कुरु हुम् फट् सर्वज्ञ ओम् ह्रीं खं खं फं घृणे हुम्
फट् । 6 ।

ओम् खं खां घ्रां घ्रं ह्रां हं फट् सर्वशत्रु संहरणाय शरभशालुवाय कालाग्निरुद्राय
पक्षिराजाय हुं फट् स्वाहा ह्रीं—खीं—खीं—खं—नामानं शत्रुं नाशाय ओम् श्लीं पशु
हुम् फट् ध्राण्येव हुं फट् शीघ्रं नाशाय स्वाहा सर्वज्ञ ओम् ह्रीं खं खं फं घृणे हुम् फट् ।

अल्पं दोदण्ड बाहु प्रकटित विनमच्चण्डकोदंडमुक्तैः

बाणैर्दिव्यैरनेकै शिथलितवपुषः क्षीणकोलाहलस्य

तस्य प्राणावसानं परशरभरियो हं त्वदिज्याप्रभावैः

तूर्णं पश्यामि यो मां परिहसति सदा त्वादिमध्यान्तहेतो ।

ओम् नमो भगवते बाडवानलभैरवाय ज्वल ज्वल वैरिकुलं दह दह वर्म वर्म
ठः ठः सर्वशत्रूणामुच्चाटनं कुरु कुरु हुम् फट् सर्वज्ञ ओम् ह्रीं खं खं फं घृणे हुम्
फट् । 2 ।

रविवार से प्रारम्भ करके मंगलवार तक यह प्रयोग करना होता है । इसमें ह्रीं, खीं,
खीं, खं इन बीजाक्षरों के बाद जो खाली स्थान छोड़ा गया है उसमें अभीष्ट व्यक्ति के नाम
के एक-एक अक्षर को बोलना है और अन्त में उसके नाम के अन्तिम अक्षर को नामनं ।

के साथ जोड़ देना है जैसे किसी का नाम महीधर है तो उसे हीं म, खीं ही खीं ध खं र नामानं बोला जाएगा यदि किसी का नाम दो अक्षर का है तो दो बार बुल जाएगा। जैसे प्रभु हीं प्र खीं भु खीं प्र खं भु नामानं तीन अक्षर का होगा तो तीन अक्षर तो ही जायेंगे। चौथे में उसके पूरे नाम को जोड़ दिया जाएगा, चार अक्षर से अधिक अक्षर का नाम रहने पर तीन अक्षर एक-एक करके जोड़ दिए जाएं और शेष अक्षरों को चौथे अक्षर के साथ जोड़कर नामानं बोल दिया जाए।

इस समग्र सम्पुटित स्तोत्र का पाठ दिन में दस बार करने की ही शास्त्रीय व्यवस्था है किन्तु प्रयोजन के अनुसार मात्रा अधिक कर लेनी चाहिए। यदि शत्रु प्रबल है अथवा पद स्थापित है तो एकाधिक व्यक्ति इस प्रयोग को करें। ऋषियों ने कलियुग में चार गुना मात्रा बताई है फिर भी यह अन्तिम नहीं है। ऋषियों का दिया हुआ वचन और शास्त्र का विश्वास है कि ये प्रयोग व्यक्ति को संकट से उबारने के लिए हैं और सिद्धि देने वाले हैं मात्रा की कमी के कारण विफलता नहीं मिलनी चाहिए। यह हमारा विवेक है।

□□□

पक्षिराज प्रयोग के अन्तर्गत दारुण सप्तक

विनियोग

अस्य श्री दारुण सप्तक मायामन्त्रस्य श्री सदा शिव ऋषिः बृहतीछन्दः श्री शरभो देवता मम वैरिविनाशनार्थं जपे विनियोगः ।

कोपोद्रेकातिनिर्यन्टिल परिचरत्तारभारप्रभूत

ज्वालामालाग्रताम्यत्स्मरतनु शलभं त्वामहं शालुवेश

याचेत्वत्पादपद्मप्रणिहितमनसं द्वेष्टि मां यः क्रियाभिः ।

तस्य प्राणप्रयाणं परशिव भवतः शूलभिन्नस्य तूर्णम् ।

शंभोस्त्वद् हस्तकुन्तक्षतरिपु हृदयानिः स्रवल्लोहितौघं पीत्वा पीत्वातिदीर्घा दशदिशि विसरास्त्वग्दणाश्चण्डमुख्याः गर्जन्तु क्षिप्रवेगाः निखिल जयकराः भीकराः खेललोलाः संत्रस्ताः ब्रह्मदेवाः शरभ खगपते त्राहि नः शालुवेश । सर्वादयं सर्वनिष्ठं सकलभयहरं त्वत्स्वरूपं शरण्यम्, याचेहं त्वाममोघं परिकरसहितं द्वेष्टि मां यः क्रियाभिः श्री शंभो त्वत्कराब्जस्थित हल कठिनाघातवक्षः स्थलस्य प्राणाः प्रेतेशदूतग्रहणपरिभवाः कोशपूर्वं प्रयान्तु । द्विष्मः क्षोण्यां वयं यन्तवपद कमलध्याननिर्धूतपापाः कृत्याकृत्यैर्विमुक्ताः विहगकुलपते खेलयाबद्धमूर्ते तूर्णं त्वत्पादपद्मप्रभृत परशुना तुण्डखण्डी कृतांगः स द्वेषी यातु याम्यं पुरमति कलुषं कालपाशाग्रबद्धः । भीम श्रीशालुवेश प्रणतभयहर प्राणजिदुर्मदानां याचेहं चास्य गर्वप्रशमन विहित स्वेच्छया बद्धमूर्ते त्वामेवाशु त्वदंघ्र्यष्टक नख विदलद्धीनजिह्वोदरस्य प्राणोत्क्रामप्रयाणं प्रदलित हृदयस्यायुरल्पायतां द्राक् । श्री शूलं कराग्रेस्थित मुसलगदावर्षवाताभिघाताद् यातायातारियूथ त्वरितविघटनोदधूत रक्तच्छाटार्द्रम् संहृष्ट्वा योधनेज्या मखिलसुरगणाश्चाभि नन्दन्तु नाना, भूताः वेतालपूगः पिबन्तु तदखिलं प्रीतचित्तः प्रमत्तः । त्वं हो हेलाग्र मुक्तप्रकटित विनमच्चण्ड

कोदण्डमुक्तैः बाणैर्दिव्यैरनेकैः शिथिलितखपुषः क्षीणकोलाहलस्य तस्य प्राणावसानं
परशरभरिपोर्यत्त्वदीज्याप्रभावैः तूर्णं ~~प्रेम~~मि यो मां परिहसति सदा त्वादिमध्यान्त
हेतो ।

विधि—शरभ शालुवेश का ध्यान करके रात्रि के समय दक्षिण दिशा की तरफ मुख
करके सरसों के तेल का दीपक जलाकर रविवार से मंगलवार तक—तीन दिन—दश पाठ
के क्रम से करें। यह शास्त्रीय व्यवस्था है किन्तु युग प्रभाव को देखते हुए चालीस पाठ
प्रतिदिन करें तो अधिक उत्तम रहे।

होने को यह स्तुति है इसलिए इसका श्रवणीय स्वर में पाठ किया जाता है किन्तु
माला मंत्र बतलाया गया है इसलिए मानस जप किया जाना चाहिए।

□ □ □

आत्मरक्षार्थ शरभ दिग्बंधन

यह प्रयोग अत्यन्त उग्र है, स्वाभाविक है। इसमें पूरी शुद्धता एवं विधि का निर्वाह किया जाए फिर भी आत्म-रक्षार्थ शरभ दिग्बंधन कर लिया जाए।

यह दिग्बंधन शत्रु अथवा शत्रुकृत दुष्प्रयोगों से बचाव करने के लिए उत्तम आत्मरक्षा है, केवल इसका प्रयोग भी अथवा प्रतिदिन करना भी लाभदायक रहता है वैसे पक्षिराज का प्रयोग करने वाले को तो यह दिग्बंधन करना ही चाहिए।

विनियोग

अस्य श्री शरभदिग्बंधन महामंत्रस्य वामदेव ऋषिः अतिजगती छन्दः शरभशालुव पक्षिराजो देवता खं बीजं स्वाहा शक्तिः क्रों कीलम् शरभशालुव प्रसाद सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः।

ऋष्यादि न्यास

वामदेव ऋषये नमः शिरसि, अति जगती छन्दसे नमः मुखे, शरभशालुव पक्षिराजदेवतायै नमः, हृदये, खं बीजाय नमः गुह्ये, स्वाहा शक्तये नमः पादयोः, क्रों कीलकाय नमः नाभौ, विनियोगाय नमः सर्वांगे।

कर न्यास

ओं खं खं वीर शरभाय अंगुष्ठाभ्यां नमः। खं फट् उग्रशरभाय तर्जनीभ्याम् नमः। प्राणग्रहासि प्राणग्रहासि हुम् फट् क्रूरशरभाय मध्यमाभ्यां नमः। सर्वशत्रु संहरणाय त्रिशूल शरभाय अनामिकाभ्यां नमः। शरभ शालुवेशाय आनन्दशरभाय कनिष्ठिकाभ्यां नमः। पक्षिराजाय हुम् फट् स्वाहा वज्रनख वज्रदंष्ट्रशरभाय करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

हृदयादि न्यास

ओम् खं खं वीरशरभाय हृदयाय नमः। खं फट् उग्रशरभाय शिरसे स्वाहा। प्राणग्रहासि प्राणग्रहासि हुम् फट् क्रूरशरभाय शिखायै वषट्। सर्वशत्रु संहरणाय

त्रिशूल शरभाय कवचाय हुम् । शरभ शालुवेशाय आनन्द शरभाय नेत्रत्रयाय वौषट् ।
पक्षिराजाय हुम् फट् स्वाहा वज्रनखवज्रदंष्ट्र शरभाय अस्त्राय फट् ।

ओम् लं वीर शरभाय पूर्वद्वारं बंधय बंधय माम् रक्ष रक्ष महायोगीश्वराय हुम्
फट् स्वाहा । ओम् रं अग्नि शरभाय आग्नेयद्वारं बंधय बंधय मां रक्ष रक्ष महायोगीश्वराय
हुम् फट् स्वाहा । ओम् हुम् प्रलयकालशरभाय दक्षिणद्वारं बंधय बंधय मां रक्ष रक्ष
महायोगीश्वराय हुम् फट् स्वाहा । ओम् शं आनन्दशरभाय नैऋतद्वारं बंधय बंधय मां
रक्ष रक्ष महायोगीश्वराय हुम् फट् स्वाहा । ओम् वं प्रचण्डशरभाय पश्चिम द्वारं
बंधय बंधय मां रक्ष रक्ष महायोगीश्वराय हुम् फट् स्वाहा । ओम् यं कपाल
चामुण्डशरभाय वायव्यद्वारं बंधय बंधय मां रक्ष रक्ष महायोगीश्वराय हुम् फट् स्वाहा ।
ओम् शं आनन्दशरभाय उत्तरद्वारं बंधय बंधय मां रक्ष रक्ष महायोगीश्वराय हुम् फट्
स्वाहा । ओम् शं उग्रशरभाय ईशान द्वारं बंधय बंधय मां रक्ष रक्ष महायोगीश्वराय
हुम् फट् स्वाहा । ओम् लं कल्याण शरभाय अन्तरिक्ष द्वारं बंधय बंधय मां रक्ष रक्ष
महायोगीश्वराय हुम् फट् स्वाहा । ओम् त्रं प्रलयकालमहाताण्डवशरभाय भूमि द्वारं
बंधय बंधय मां रक्ष रक्ष महायोगीश्वराय हुम् फट् स्वाहा । ओम् फंदक्षाध्वरध्वंसन
शरभाय सर्व दिग्द्वारं बंधय बंधय मां रक्ष रक्ष महायोगीश्वराय भूतप्रेतपिशाचो
च्चाटनाय महाशरभाय सालुवपक्षिराजाय हुम् फट् स्वाहा ।

पक्षिराज प्रयोग कुछ परिवारों के पास ही सुरक्षित रहा है । तांत्रिक वाङ्मय में
इस पर अनेक ग्रन्थ विस्तारित हैं किन्तु वे जटिल होने के कारण दुरूह हो गए हैं कि
उनका परिवारों तक सीमित रहना ही श्रेयस्कर रहा । एक युग था जब दश महाविद्याओं
तथा अन्य प्रयोगों के साधकों का परिवार हुआ करता था, उस परिवार में वह प्रयोग
वंशानुगत रूप में प्रतिष्ठित रहता था । वह परिवार संबद्ध प्रयोग के रहस्य का ज्ञाता
होता था इसलिए गोप्ता भी रहता था । विगत के अन्वेषण से यह तथ्य प्रकट हो जाएगा
कि प्रत्येक सामन्त के परिकर में विविध विद्याओं के निष्णात जन रहा करते थे उनके
भरण-पोषण का दायित्व राज्य की व्यवस्था में माना जाता था । सबसे बड़ी बात यह थी
कि वे लोग अपने चमत्कार का प्रदर्शन या आत्म-विज्ञापन नहीं करते थे इसलिए वे
गोप्ता थे और विद्या गुप्त रहती थी इस गोपन से विद्या का बल वीर्य बढ़ता था, आज
का युग विज्ञापन का युग है वर्णिक् युग है । वह श्रेष्ठी (सेठ), वह गुप्त, व्यवसाय

निपुण वणिक् हो गया और धन की वह प्रतिष्ठा और स्वबल क्षीण होता चला गया। विद्या जिनके पास थी वे भी हतवीर्य हो गये, विद्या ने अपने रहस्यों का संवरण कर लिया, न कोई सम्प्रदाय रहा, न परम्परा। और-तो-और जो संस्कृत तक नहीं जानते वे भी तांत्रिक हो गये और जिनको पंचांग देखना नहीं आता वे वराह मिहिर। मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि इन प्रयोगों को सरल-सुगम विधि से लिखकर मैंने उन रहस्यों को आप लोगों के त्राण के निमित्त एक प्रयास किया है किन्तु मात्र पुस्तक पढ़ कर इस प्रयोग को करने बैठना उचित नहीं होगा। जिन लोगों का संस्कृत का उच्चारण सुस्पष्ट है, उनको कर लेना चाहिए पर जो पूजा विधि या संस्कृत के उच्चारण में कुशल नहीं हैं उनको पहले ये सीख व समझ लेने चाहिए।

इस प्रयोग का विधि-विधान बहुत विस्तृत है किन्तु यहाँ उसका विवरण जान-बूझकर नहीं दिया गया क्योंकि उस विधान में जब तक हमारी गति नहीं है, न समझ में आ सकेगा न उसे निर्दोष रूप में कर पायेंगे। इतने कर्मकाण्ड की आवश्यकता तब होती है जब हम शत्रु का संहार करने का संकल्प करते हैं। संहार जैसे घोर कर्म से मुझे भय लगता रहा है इसलिए केवल वैरिनिग्रह तक ही सोच सका हूँ। यह निग्रह भी परपीड़न के लिए नहीं आत्मरक्षा के लिए और ऐसा निग्रह तो हम सभी करते रहते हैं—भले ही वह निग्रह प्रिय प्रकार का हो या अप्रीतिकर प्रकार का।

□ □ □

सूर्य उपासना

ज्योतिष ने सूर्य को विश्व लोचन और कालात्म कहा है। वेद इसको मित्र और पूषा कहता है, पुराणों में यह कवि सप्ताश्ववाहन कहा जाता है। विश्व प्रसिद्ध ब्रह्म गायत्री मंत्र वास्तव में सविता मंत्र हैं। सविता अर्थात् नवीन वस्तुओं को उत्पन्न करने वाला। उपनिषद् और जनश्रुति के अनुसार सूर्य ऐश्वर्य का दाता और भुवनस्य गोप्ता है। इसका प्रचण्ड तेजस दूरस्थ तारकों से आ रही अल्ट्रावायोलेट और कास्मिक किरणों से हमें बचाता है—इसीलिए ज्योतिष इसे क्षत्रिय मानता है। क्षत्रिय का अर्थ होता है क्षति से त्राण करने वाला।

इसका प्रभाव आंखों पर पड़ता है और अग्नि यानि पित्त एवं शिरारोगों का कारक होता है यह—निर्बल अवस्था में। सूर्य को अर्घ्य प्रिय होता है। अर्घ्य का अर्थ होता है एक पात्र से सम्बद्ध (जल) और हाथों में दिए जाने वाले जल को अर्घ्य कहते हैं। सूर्य के हाथ किरण ही होती हैं इसलिए उसे उद्देश्य करके दिया गया जल अर्घ्य कहलाता है। संध्या वन्दन करने वाले सूर्य का उपस्थान करते हैं। प्रातःकाल पठनीय ऋचाओं में 'शतमदीनाः श्याम शरदः शतम्' में सूर्य को सम्बोधित करके अपने आपको विवेकशील और अकुण्ठ रहने की कामना करने वाला उद्गाता इसी विश्वचक्षुः सर्वमित्र की स्तुति करता था।

सूर्य पूजन में पंचोपचार वा अन्य सामग्री वही होती है जो अन्य देवताओं के पूजन में रहती है किन्तु सूर्य अर्घ्य से प्रसन्न होता है।

अर्घ्य की विधि है—ताम्बे के बर्तन में दो-ढाई किलो शुद्ध-पवित्र जल भरकर सामने रख ले। उस जल में कुकुम, गौरोचन, राई, लाल चन्दन, कपूर, लाल कनेर के फूल, जपा के फूल, शाली चावल, दाभ (कुशा) श्यामाक, सांवक्या, इन पदार्थों को रख दे। जो चीजें पीसने योग्य हैं, उनको पीस लिया जाए जैसे कुंकुम, गौरोचन, लाल-चन्दन, कपूर शेष को ऐसे ही डाल दिया जाए। इस पात्र को सामने रखकर "ओम् षृणिः सूर्य

आदित्य" इस अष्टाक्षर मंत्र की एक माला जप कर उसी जल पात्र में सूर्य भगवान् का पूजन करें फिर घुटनों के बल उठकर घुटने तक के पैर मोड़कर शेष शरीर को उठा ले और उस पात्र को दोनों हाथों से मस्तक से ऊँचा उठाकर सूर्य के बिम्ब की तरफ देखता हुआ, मूल मंत्र का जप करते हुए धीरे-धीरे पानी धरती पर गिराता जाए।

मंत्र—“ओम् घृणिः सूर्य आदित्य”

सूर्य गायत्री—“आदित्याय विद्महे सहस्रकराय धीमहि तन्नो सूर्यः प्रचोदयात्।”

दशाक्षर मंत्र—“ओम् ह्रीं घृणिः सूर्य आदित्य ह्रीं”

पूजन विधि—प्रातःकाल उठकर प्रातः स्मरण करें—

“प्रातः स्मरामि खलु तत्सवितुर्वरेण्यम्

रूपं हि मण्डलमृचोथ तनुर्यजूषि।

सामानि यस्य किरणाः प्रभवादिहेतुं,

ब्रह्माहारात्मकमलक्ष्यमचिन्त्यरूपम्॥

प्रातर्नमामि तरणिं तनुवाङ् मनोभिः

ब्रह्मेन्द्रपूर्वक सुरैर्नुत मर्चितं च।

वृष्टि प्रमोचन विनिग्रह हेतुभूतं,

त्रैलोक्य पालनपरं त्रिगुणात्मकं च॥

प्रातर्भजामि सवितार मनन्तशक्ति,

पापौघशत्रुभयरोगहरं परं च।

तं सर्वलोककलनात्मक कालमूर्ति,

गोकण्ठबंधन विमोचनमादिदेवम्॥

श्लोकत्रयमिदं भानोः प्रातः प्रातः पठेन्तु यः।

स सर्वव्याधि निर्मुक्तः परं सुखभवान्मुयात्॥

यह स्तुति प्रातःकाल उठते ही की जानी चाहिए। स्नानादि से निवृत्त होकर सूर्य भगवान् का पूजन करें। पूजन में पुष्पादि लाल रंग के हों तो अच्छा, इस पूजन में सूर्य को

अर्घ्य अवश्य दिया जाना चाहिए भले ही उस अर्घ्य जल में वे सारे पदार्थ न मिला पाएं, कोरा जल ही मंत्र जप करके चढ़ा दिया जाए।

इस अथर्वशीर्ष का प्रयोग करने के लिए पहले विनियोग करे। विनियोग इस प्रकार बोला जाएगा—

“अस्य श्रीं सूर्याथर्वशीर्षस्य ब्रह्मा ऋषि आदित्यो देवता गायत्रीछन्दःहंसाद्याग्निनारायणयुक्तं बीजम् हल्लेखा शक्तिः द्विपदादिसर्गसंयुक्तं कीलकम् धर्मार्थकाममोक्षेषु जपे विनियोगः।”

इसमें हंस आदि—अग्निनारायण, हल्लेखा, द्विपदादि सर्गसंयुक्त ये पारिभाषिक शब्द हैं अतः इनको ऐसे ही बोल लिया जाए उद्धार करके बोले बिना भी काम चल जाएगा।

इसी विनियोग का न्यास भी किया जा सकता है। जैसे—ब्रह्मर्षये नमः शिरसि, गायत्री छन्दसे नमः मुखे, आदित्यदेवतायै नमः हृदये, हंसाद्याग्निनारायणयुक्तबीजाय नमः गुह्ये हल्लेखा शक्तये नमः पादयोः द्विपदादि सर्गसंयुक्त कीलकाय नमः नाभौ, विनियोगाय नमः सर्वांगे।

करन्यास—सां अंगुष्ठाभ्यां नमः, सीं तर्जनीभ्यां नमः सूं मध्यमाभ्यां नमः, सैं अनामिकाभ्यां नमः, सौं कनिष्ठाभ्यां नमः सः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

इन्हीं पदों से षडंगन्यास करे—सां हृदयाय नमः सीं शिरसे स्वाहा, सूं शिखायै वषट्, सैं कवचाय हुम् सौं नेत्रत्रयाय वौषट्, सः अस्त्राय फट्।

ध्यान

रक्ताम्बुज संस्थित, सप्ताश्वरथि, हिरण्य वर्ण चतुर्भुज, (दो हाथ में कमल एक वरदान मुद्रा और दूसरा अभय मुद्रा वाला—इस प्रकार चार हाथ वाले) कालचक्र के प्रणेता—भगवान् सूर्य का ध्यान करें।

सूर्य का वैदिक मंत्र है—

ओम् भूः, ओम् भुवः, ओम् महः ओम् जनः, ओम् तपः ओम् सत्यम् ओम् तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। परोरजमे सावदोम् ओम् आपो ज्योतिरसोमृतम्। ब्रह्मभूर्भुवः स्वरोम्।

इस मन्त्र में प्रणवयुक्त सात व्याहृति हैं फिर गायत्री मंत्र है फिर उसका विस्तृत रूप है। यह मंत्र जपने योग्य है। यों पुरश्चरण करने के लिए केवल तीन व्याहृति और गायत्री मंत्र ही पर्याप्त रहता है किन्तु अथर्वशीर्ष में सूर्य का यथार्थ व विराट स्वरूप समझाने के लिए यह और जोड़ दिया गया है। आगे “घृणिः सूर्यः—” तक यह अथर्वशीर्ष है, इससे आगे फलश्रुति है।

इस प्रकार पूजा आदि करके सूर्य का मंत्र जप करना है। मंत्र को सूर्य के ही अर्पित कर दिया जाए। सामान्यतया फलश्रुति का पाठ नहीं किया जाता, एक बार ही किया जाता है फिर भी यदि किया जाता है तो कोई आपत्ति नहीं।

सभी अथर्वशीर्ष पापनाशन के लिए किए जाते हैं। इसलिए ये प्रत्यक्ष अथवा सीधे सिद्धिप्रद रहने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयोग को करने की अर्हता भी प्रदान करते हैं। हम जानते हैं अथवा हमें यह तो जान ही लेना चाहिए कि किसी भी मंत्र के सिद्ध होने में अवरोध बनते हैं—हमारी दोषपूर्ण विधि, सिद्धि के लिए आवश्यक मात्रा से कम मात्रा, अनधिकारी व्यक्ति से लिया गया मन्त्र, अशुद्ध मंत्र और हमारे पाप-शाप। पाप एक प्रकार का अंधकार है अथवा राख है जो प्रकाश को प्रकट नहीं होने देता।

□ □ □

सूर्य अथर्वशीर्ष

अथ सूर्याथर्वागिरसं व्याख्यास्यामः । ब्रह्मा ऋषिः । आदित्यो देवता । गायत्री छन्दः । हंसादयग्निनारायण युक्तं बीजम् । हल्लेखा शक्तिः द्विपदादि सर्गसंयुक्तं कीलकम् । धर्मार्थकाममोक्षेषु जपे विनियोगः ।

षट् स्वरारूढेन बीजेन षडंगंकुर्यात् । रक्ताम्बुज संस्थितं सप्ताश्वरथिनं हिरण्यवर्णं चतुर्भुजं पद्मद्वयाभयवरदहस्तं काल चक्र प्रणेतारं च श्री सूर्यनारायणं य एवं वेद स वै ब्राह्मणः ।

ओम् भूः । ओम् भुवः । ओम् स्वः । ओम् महः । ओम् जनः । ओम् तपः । ओम् सत्यम् । ओम् तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् परोरजसे सावदोम् । ओम् आपो ज्योति रसोमृतम् । ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् । सूर्य आत्मा जगत्स्तस्थुषश्व । सूर्याद्वै खल्विमानि भूतानि जायन्ते सूर्याद् यज्ञाः पर्जन्योन्नम आत्मा । नमस्ते आदित्याय । त्वमेव केवलं कर्तासि त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वमेव प्रत्यक्षं रुद्रः असि त्वमेव प्रत्यक्षं ऋग् असि, त्वमेव प्रत्यक्षं यजुः असि त्वमेव प्रत्यक्षं सामासि त्वमेव प्रत्यक्षं अथर्वासि त्वमेव सर्वं छन्दोसि । आदित्याद् वायुर्जायते आदित्यात् भूः जायते आदित्यादापो जायन्ते, आदित्यात् ज्योतिर्जायते आदित्याद् व्योम दिशो जायन्ते आदित्यात् वेधा जायते आदित्यात् देवाः जायन्ते आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति । असावादित्यो ब्रह्म आदित्योऽन्तः-करणमनोबुद्धि चित्ताहंकाराः, आदित्यो वै व्यानस मानोदानापानप्राणाः । आदित्यो वै श्रोत्र त्वक्चक्षुरसनानासाः । आदित्यो वै वाक् पाणिपादोपस्थ पायूनि । आदित्यो वै शब्दस्पर्शरूप रसगन्धाः । आदित्यो वै वचनादान गमनानन्दविसर्गाः । आनन्दमयो विज्ञानमयो ज्ञानमय आदित्यः । नमो मित्राय भानवे मृत्योर्मा पाहि । भ्राजिष्णवे विश्वहेतवे नमः । सूर्यो नु दिवस्पातु वातोन्तरिक्षात् । अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः । सूर्याद् भवन्ति

भूतानि सूर्येण पालितानि तु सूर्ये लयं प्राप्तवन्ति यः सूर्यः सोहमेव च । चक्षुर्नो देवः सविता,
चक्षुर्न उत पर्वतः चक्षुर्धाता दधातु नः । आदित्याय विद्महे सहस्र कराय धीमहि तन्नो सूर्यः
प्रचोदयात् । सविता पश्चात्तात् सविता पुरस्तात् सवितोत्तरात् सविताधरात् सविता नः
सुवतु सर्वतातिम् । सविता नो रासतां दीर्घमायुः । ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म घृणिरिति द्वे अक्षरे,
सूर्य इत्यक्षरद्वयम् आदित्य इति त्रीण्यक्षराणि । एतद्वै सूर्यस्याष्टाक्षरं मनुम् । यः सदाहरहः
जपति सो ब्रह्मण्यो ब्राह्मणौ भवति । सूर्याभिमुखं जप्त्वा महाव्याधिभयात्प्रमुच्यते ।
अलक्ष्मीर्नश्यति अभक्ष्यभक्षणात्पूतो भवति, अपेय पानात्पूतो भवति । अगम्या गमनात्पूतो
भवति । व्रात्यसंभाषणात्पूतो भवति । मध्याह्ने सूर्याभिमुखः पठेत् सद्यः पञ्च महापापात्प्रमुच्यते ।
सैषा सावित्रीविद्या न कस्यचित्प्रशंसेत् । एतन्महाभागः प्रातःकाले पठति स भाग्यवान्
जायते । पशून् विन्दति । वेदार्थं लभते । त्रिकालं जप्त्वा ऋतुशतफलं प्राप्नोति । हस्तादित्ये
जपति स महामृत्युं तरति । य एवं वेद इत्युपनिषद् ।



कतिपय शाबर प्रयोग

तत्र प्रत्येक युग का शरण स्थल रहा है और एक युग में दूसरे युग बीज वा सुप्त अवस्था में रहा करते हैं जैसे आज हम उन सत्पुरुषों को एकत्रित करें जो सतयुग कीतरह सरल, परोपकारी, सदाचारी तपस्या निरत हैं तो हम कहेंगे कि यही सतयुग है ऐसे ही सतयुग में कलियुग का कल्प भी कहीं-कहीं किसी व्यक्ति विशेष में या एक व्यक्ति के आचरण में किंचित्क अंश में रहा होगा किन्तु प्राधान्य उस युग का रहने से उस कालखण्ड का नाम ही सतयुग हो गया। इसी तरह जिन अवतारों के आख्यान हम पढ़ते हैं, वे व्यक्ति की मनोमय भूमा में होते हैं पर कुछेक जन ही उन अवतारों को देख पाते हैं।

निःसन्देह रूप से जब आगम शास्त्र का आविर्भाव हुआ होगा उस समय इन प्रयोगों की बड़ी आवश्यकता न रही थी पर दूरद्रष्टा ऋषियों ने भविष्यत् की विडम्बना का अनुमान लगाकर ही इन प्रयोगों का उपदेश किया। जिस युग में हम जी रहे हैं-यह हमारी विवशता है, हमारे कर्मों का तकाजा है अन्यथा यह वातावरण और मनुष्य का चरित्र इसे असह बना चुका है। सतयुग में व्यक्ति मुक्तिकामी था, त्रेता में धर्मकामी, द्वापर में भोगी और कलि में वह क्रूर एवं हिंसक बन गया है। सामाजिक जीवन में हम जिस सन्नास को भोग रहे हैं वह समष्टि का दुर्भाग्य है। व्यवहार में हम देखते हैं कि एक संघ में कतिपय दुर्बुद्धि और नंगे असामाजिक जन सारे संघ पर अपना अधिकार किए रहते हैं ऐसी ही स्थिति दूसरे क्षेत्रों में भी होती है। हमारे समाज में कुछ लोग अपराधी वृत्ति के होते हैं, वे या हम उनके लिए यह कहें कि इससे क्या होता है ? तो कोई अनुचित बात नहीं है, प्रत्यक्ष रूप से हम अपने को शुद्ध एवं सुरक्षित रखे हुए हैं फिर भी उनकी विकृत मानसिकता और असद् आचरण का हम पर परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। पैर में चुभा कांटा सारे शरीर को, शेष स्वस्थ अवयवों को भी अस्वस्थ कर देता है।

ऐसा ही निदान है कि हमारे अशान्त अतएव नीरस वर्तमान का। असद् विचार और धर्म विरुद्ध आचरण करने वालों ने समाज के सूक्ष्म वातावरण को दूषित कर दिया है और उससे हम अनेक प्रकार की विचित्र आधियों से पीड़ित हो गये हैं, हमारा लक्ष्य, रुचि एवं

व्यवहार बदलते जा रहे हैं। हम अनुमान ही नहीं कर सकते कि हमारे चिन्तन में आ रहा—अशुभ-विकृत संकल्प क्या हमारी मौलिकता है या समाज के पर्यावरण की देन है?

जो कुछ हो आज मोक्ष कामना, दर्शन और निष्काम कर्म अनुपादेय हो चुके हैं परिणाम यह है कि हम अनजाने ही ऐसे मोहों से घिरते जा रहे हैं जिनका विपाक दुःख देने के सिवा कुछ होता ही नहीं। इस परिप्रेक्ष्य में वेद हमारे लिये अनुपयोगी हो गया है क्योंकि हम उसके उपयुक्त नहीं रहे। आज के व्यक्ति की सामयिक समस्याओं के लिए तंत्र की उपयोगिता सर्वाधिक है—यह बात अनेक बार कह चुका हूँ। आश्चर्य होता है—आज के व्यक्ति की आकांक्षाओं और सन्ताप को देखकर। कर्ण पिशाचनी, वेताल और भैरव की साधना करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति उत्सुक हैं, दूसरे को चमत्कृत करने के लिए सभी आतुर हैं, धन के लिए सभी लालायित हैं, सन्तुष्टि किसी को नहीं, अपना मार्ग बनाकर चलना बुरा लगता है, राजमार्ग पर कार रेस में प्रथम आने के लिए जी-जान से कोशिश कर रहे हैं—अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करके दूसरों पर थोपने की त्वरा सबको अशान्त किए हुए हैं क्योंकि हमारा चिन्तन बहुमुखी हो गया है, हमारी कल्पना को कोई यथार्थ दिशा नहीं दिख रही, बुद्धि म्लान हो गई है। ऐसी विकट परिस्थिति में तंत्र ही एकमेव शरण्य है।

आगे जिन शाबर प्रयोगों का संकलन दिया जा रहा है वे एक प्राचीन पुस्तक से उद्धृत हैं। इनके चयन में बहुत सावधानी बरती है और उन प्रयोगों से बचने की यथामति चेष्टा की है जो अहित करने वाले हैं, अनेकानेक लोगों का आग्रह रहा कि शाबर प्रयोग दिए जाएं। इसलिए कि वे इस युग के अनुरूप हैं, इसलिए भी कि उनमें न्यास आदि की जटिलता नहीं है और इसलिए भी कि वे साधना करने में सरल हैं। कोई भी कारण रहा हो किन्तु यह विधि और इस विधि के प्रयोग इस युग के लिए अत्यन्त कल्याणकारी लगे—यही सोचकर इन पर केन्द्रित हो गया और यह पराम्बा की कृपा ही रही कि इस विषय की विश्वास योग्य प्राचीन पुस्तक स्वतः ही मेरे घर आ गई। निश्चय से इसके प्रयोग करने के हैं यदि एक प्रयोग भी सिद्ध हो जाता है तो हमारे पास एक विशिष्ट शक्ति आ जाती है। मैंने इन प्रयोग को नहीं किया, आवश्यकता, रुचि और सुविधा नहीं थी किन्तु पाठक वर्ग में से यदि कोई करता है और सफल होता है तो मुझे प्रयोगकर्ता से अधिक प्रसन्नता होगी।

इसे दोहराने की आवश्यकता है कि ये मंत्र भी काम में लेने से पहले सिद्ध कर लिए जाएं। यद्यपि सत्पात्रजन इनको सीधे काम में लेंगे तो भी काम करेंगे किन्तु साधारणतया

सिद्ध करने की व्यवस्था सार्वत्रिक है। हमारे दैनिक जीवन में ही हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु को व्यवहार से पहले शुद्ध किया जाता है। यह शुद्धि ही सिद्धि है, शोधन ही साधन है। शाबर मंत्रों को सामान्य रूप से होली, दीवाली, ग्रहण, शिवरात्रि में एक या दस हजार बार जप करने से सिद्ध मान लिया जाता है। बड़ा मंत्र हो तो एक हजार और छोटा हो तो दस हजार बार जपा जाता है। सूर्य संक्रान्ति के दिन या किसी भी अमावस्या के दिन भी इनका जप किया जा सकता है और साधित मंत्र को अवसर आने पर काम में लिया जासकता है।

शाबर प्रयोगों में आत्मरक्षा और प्रेतबाधा के लिए कतिपय प्रयोग दे दिए गए हैं। आत्मरक्षा का प्रयोग खासकर उस समय जरूरी होता है जब हम कोई उग्र प्रयोग करने जाते हैं इसके अलावा मेरी समझ और अनुभव के आधार पर यह इस युग की जरूरत भी है कारण कि कई दुर्जन व्यक्ति दूसरों को सताने के लिए इस विद्या का दुरुपयोग करने का पाप करते रहते हैं, कई तरह के प्रयोग या टोटके करते रहते हैं। यदि हमें तनिक भी ऐसा सन्देह हो और हम किसी दुरात्मा के शिकार होने जा रहे हों तो ऐसी स्थिति में इस शाबर पद्धति का प्रयोग किया जाना चाहिए। प्रेत विद्या मेरा विषय नहीं है, न इसमें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करने की मेरी नीयत ही है पर मेरा अनुमान है कि तीस के चालीस प्रतिशत लोग इस बाधा से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में, कमोबेश ग्रस्त हैं, यह दूसरी बात है कि इस प्रकार की व्याधियों और विषमताओं का सही निदान नहीं कर पाते।

देह रक्षा का मन्त्र

“ओम् नमो धरती माता धरती पिता धरती धरे न धीर बाजे सिंगी बाजे तरतुरी आया गोरखनाथ मीनका पूत भूज का छड़ा लोहे का कड़ा हमारी पीठ पीछे जती हनुमन्त खड़ा शब्द सांचा पिण्ड काचा फुरो मंत्र ईश्वरी वाचा।”

विधि—सोते समय इस मंत्र को सात बार पढ़कर अपने पलंग या बिस्तर के चारो तरफ अंगुली से रेखा खींच दें। जो व्यक्ति किसी परकृत व्याधि से ग्रस्त हो उसे सात बार झाड़ दे। जिस किसी व्यक्ति पर किसी अन्य के द्वारा ऐसा-वैसा प्रयोग करने की आशंका हो उसको झाड़ देना या उसकी खाट के चारों ओर रेखा खेंच देनी चाहिए।

प्रेत या प्रेतनी को बकराने का मंत्र

अक्सर प्रेत देह में वास करने लगता है। बोलता नहीं है माना वह सत्य नहीं बोलता और जिस व्यक्ति पर सवार होता है उसे कष्ट देकर अपना बदला लेता है या अपनी

वासना पूरी करता है। हर हालत में उसका चुप रहना बीमारी को बढ़ाता है इसलिए उसे बुलाना जरूरी होता है।

“ओम् नमो हनुमन्त वीर वज्रधारी डाकिनी शाकिनी घेर मारी गंगा जमना हमारा बाण बोले बकरे नहीं तो राजा रामचन्द्र लक्ष्मण कुमार जती हनुमन्त की आन शब्द सांचा पिण्ड काचा फुरो मन्त्र ईश्वरी वाचा।”

विधि—चमेली के चार फूल अथवा इत्र को इक्कीस बार अभिमन्त्रित करके सात बार सुंघावे। अभिमन्त्रित करते समय ये मंत्र बोलकर फूल या इत्र को फूंक भी मारी जा सकती है और सामने या हाथ में रखकर मुंह के सामने रखते हुए मंत्र पढ़ा जा भी जा सकता है।

दूसरा मंत्र

“ओं नमो नरसिंह देव प्रचण्ड ज्वाला धरती थरसली रे सरपवाला मैं तो कू ध्याया हांक मारि नरसिंह आया नख चटचटात दन्त कटकटात जीभ पलपलात गाजन्त घोरन्त तोड़ता पछाड़ता डाकिनी को साकिनी को भूत प्रेत को दई देवता को बंध बंध देव को दानव को दिशा उपदिशा को बंध बंध रे नरसिंह वीर तेरा बांध्या धरे न धीर मेरा हकाल्या जहाँ नहीं जाय डाकिनी कूं साकिनी कूं उलटि के खाय शब्द सांचा पिण्ड काचा फुरो मन्त्र ईश्वरी वाचा।”

विधि—इस मंत्र से इक्कीस बार अभिमन्त्रित उडद प्रेतग्रस्त व्यक्ति के सिर पर मारे।

प्रेत चढ़ाने का मंत्र

अनेक बार प्रेतग्रस्त व्यक्ति का उपचार करने के लिए प्रयास किया जाता है तो वह आता नहीं। उसे आए बिना उपचार होता नहीं इसलिए उसे आविष्ट करने के लिए इन मंत्रों का प्रयोग किया जाता है—

“ओम् नमो इलिल्लाह बिस्मिल्लाह सकरतर दूध पाक कल्या फलाने को फलाने से बंध गढ़ गजनी सों कौन चल्या जिन्द पीर चल्या ऊपर को बल करता चल्या पो पलटाया पांव धरता चल्या आकाश पाताल की परी बंध करता चल्या डाकिनी साकिन कूं मारता चल्या भूत प्रेत कूं पकड़ता चल्या देव कूं दानव कूं पकड़ता चल्या नदी को नाला को निवास करता चल्या पीर को पैगम्बर को ऊत पितर को बन्ध करता चल्या चाल रे जिन्द पीर तेरा तीसों रोजा हलाल हो कि पाक

परवर दिगार है। हाक हलकन्त रुद्र जिन्द पीर तेरी माता की कसम शब्द सांचा पिण्ड काचा फुरो मंत्र ईश्वरी वाचा।”

अभिमन्त्रित उडद सिर पर मारने से आवेशित हो जाता है।

दूसरा मंत्र

“सात समन्दर के बीचसला सलेमान बैदया सलेमान पैगम्बर के चार मवक्किल नारिया सारिया जारिया जमारिया एक मवक्किल पूरब को धाया देव दानव को बांध लाया। दूसरा मवक्किल पश्चिम को धाया भूत प्रेत को बांध लाया तीसरा मवक्किल उत्तर को धाया ऊत पितर को बांध लाया चौथा दक्षिण को धाया डाकिनी शांकिनी को पकड़ लाया। चार मवक्किल चहुं दिशि ध्यावे छिद्र कोऊ रहन न पावे शब्द सांचा पिण्ड काचाफुरो मन्त्र ईश्वरी वाचा।”

अभिमन्त्रित उडद सिर पर मारने से आवेशित हो जाता है।

इन मंत्रों को होली, दीवाली या किसी अन्य पर्व दिवस को सिद्धकर लेने से उत्तम फल मिलता है। सिद्ध करने के लिए चौदह माला जप कर लेना पर्याप्त रहता है। फूल बतासे, गुगल की धूप, लोंग चढ़ाना पूजा मानी जाती है। सामने हरा कपड़ा बिछाकर उस पर ये चीजें सुलेमान पीर के नाम से चढ़ा देनी चाहिए।

देह रक्षा का अन्य मन्त्र

“ओम् बजरी बजरी किंवाड़ बजरी कीलों दसवीं द्वार अंबरी जड़न बजरी खड़े श्री हनुमन्त वीर रक्षा करें।”

दांत दर्द दूर करने का मन्त्र

“हम इकसार तुम हो बत्तीस। हमरी तुमरी कौन सी रीत हम कमाय तुम बैठे खाओ मरती बिया संग ही जाओ।”



हमारे द्वारा प्रकाशित अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

- पक्षिराज प्रयोग
- कर्णपिशाचिनिः निक्षिप्त निधि
- समस्याओं का तांत्रिक समाधान
- गोविन्द उवाच
- निर्बन्ध निबन्ध
- श्रद्धा साक्षात्कार
- अभिनव तंत्र दर्शन
- अभिनव प्रायोगिक तंत्र
- होम विज्ञान
- अंक दर्शन
- स्त्री तंत्र
- रत्न विज्ञान
- श्री दुर्गा सप्तशती अनुष्ठान
- C.D. चण्डी पाठ
- सर्वोषधी स्नान
- संधि वात हर तेल

नोट : 500 रुपये या इससे अधिक के ऑर्डर देने पर डाक खर्च फ्री होगा।

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

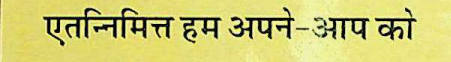
संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत

संस्कृत-संस्कृत-संस्कृत



एतन्निमित्त हम अपने-आप को
स्वच्छ निर्मल करते हैं यही संस्कार
है, और संस्कार के पश्चात् जिसे हम
अवतरित करना चाहते हैं वह
साधना है। हम हमारे से भिन्न किसी
सत्ता को मानते हैं या नहीं, यह भी
कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है। अहम्
'ब्रह्मास्मि' कहकर हमने व्यक्ति की
सत्ता को पूर्ण समादर दिया है।

चारुलेख प्रकाशन
ब्रह्मपुरी, चौमँ, जयपुर